श्री महावीर-वचनामृत

सम्पादक और विवेचक

पं० धीरजलाल शाह 'शतावधानी'

अनुवादक

पं० रुद्रदेव त्रिपाठी, एम० ए०

साहित्य-सांख्य-योगाचार्य

जैन साहित्य-प्रकाशन-मन्दिर : बम्बई

प्रकाशक :

नरेन्द्रकुमार डी० शाह

व्यवस्थापक :

जैन साहित्य-प्रकाशन-मन्दिर

लवाभाई गणपत बील्डिंग

चींच बंदर, बम्बई-९

●

गुजराती संस्करण

प्रथम आवृत्ति—२०००

सं० २०१९

●

हिन्दी संस्करण

प्रथम आवृत्ति—३३००

सं०-२०१९

●

●

मूल्य : ६ रुपये

●

मुद्रक :

शोभाचन्द सुराणा

रेफिल आर्ट प्रेस,

३१, बड़तल्ला स्ट्रीट,

कलकत्ता-३

भगवान् महावीर

समर्पण

मत्य और अहिंमा के

सतत उपासक

युग-पुरुष विनोबा को

सादर

—सम्पादक

श्री विनोबाजी से प्राप्त

बंगाल यात्रा
१५-५-६३

श्री धीरजलाल शाह,

श्री 'वीर-वचनामृत' जो गुजराती मे छपा है, अुसका हींदी अनुवाद पाठको के लीअे पेश कीया जा रहा है, यह खुशी की बात है।

महावीर स्वामी के वचनो का संग्रह करनेवाली दो कीतावे अीसके पहीले प्रकाशीत हो चूकी है। अेक श्री सतबालजी की 'साधक सहचरी', दूसरी श्री ऋषभदास राका ने प्रकाशीत की हुअी (पं० बेचरदास दोशी सम्पादित) 'महावीर वाणी'।

'वीर-वचनामृत' अुन दोनो से अधिक व्यापक है। मेरी तो सूचना है को भारत के चुने हुअे दस-वीस दर्शन-ज्ञान-चरीत्र-संपन्न जैन वीद्वानो की अेक समीती महावीर स्वामी के वचनो का सर्वमान्य सग्रह पेश करने के लिअे वीठानी चाहिये। अगर वैसा हो सका तो जैन और जैनेतर दोनो के लिअे अेक प्रामाणीक आधार-ग्रथ मील जायगा।

अैसे ग्रथो मे मूल के साथ अुसका संस्कृत रूपातर भी पेश करने से पाठको को सहूलियत होती है।

वीनोबा का जय जगत्

मङ्गल-भावना

अतुलशान्तिकरं सकलार्तिहं,
परपदाप्तिविधौ सुनिदेशकम्।
जगति वीरमुखाम्बुधिनिःसृतं,
पिवत रे मनुजा वचनामृतम्॥

—प० धनगिरि शास्त्री
(सीतामऊ)

चिनोतु धैर्य विविनक्तु वाच,
चिनोतु सत्य प्रभनक्तु भीतिम्
चिरस्य लोकस्य निरस्य तान्ति
ददातु शान्ति भुवि वीरवाणी॥

—म० म० परमेश्वरानन्द शास्त्री
(जालंधर)

मुदा वीरवाचोऽमृतं सारभूतं,
प्रभूतं सुधैर्येण यत्संगृहीतम्।
नितान्तं सुकान्तं प्रसारोऽस्य भूयात्,
जनानां मनोऽस्मिन् चिरं ररमीतु॥

—डॉ० मडनमिश्र मीमांसाचार्य
(दिल्ली)

प्रकाशकीय

भारत के ऋषि-महर्षि एव सन्त-समुदाय ने जो नैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक उपदेश दिया है, उसमे भगवान् महावीर का उपदेश विशिष्ट स्थान रखता है। परन्तु यह उपदेश अर्धमागधी भाषा मे है और जैन सूत्रो मे यत्र तत्र विखरा हुआ होने से सर्वसामान्य जनता तक नही पहुँच पाता है। इस समस्या को हल करने के लिए हमारे पूज्य पिता श्री शतावधानी पडित श्री धीरजलाल शाह ने जैन सूत्रों का दोहन करके 'श्री वीर-वचनामृत' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसमे मूल वचन, उनका आधार-स्थान और सरल-स्पष्ट गुजराती अनुवाद के साथ आवश्यक विवेचन भी दिया।

उक्त गुजराती सस्करण का प्रकाशन दिनाक १८-११-६२ को वम्बई मे भव्य समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। जैन जनता ने उसका अभूतपूर्व सत्कार किया। ग्रन्थ की २००० प्रतियाँ हाथोहाथ बिक गई। उस समारोह के अवसर पर इस ग्रन्थ का हिन्दी संस्करण 'श्री महावीर-वचनामृत' नाम से प्रकाशित करने का निर्णय किया गया।

किसी भी कार्य की प्रारम्भिक स्थिति मे कुछ न कुछ न्यूनताओ का रह जाना स्वाभाविक है, इसलिए गूजराती सस्करण का पर्याप्त संशोधन किया गया। तदनन्तर मन्दसौर-निवासी प० रुद्रदेव त्रिपाठी

एम० ए० साहित्य-साख्य-योगाचार्य ने वडे ही परिश्रम से केवल चार मास की अवधि मे उसका हिन्दी अनुवाद तैयार किया। उसका भी संशोधन हुआ और कलकत्ता मे रेफिल आर्ट प्रेस के अधिपति श्री शोभाचन्द्रजी सुराणा का पूर्ण सहयोग प्राप्त होने से केवल तीन मास की अवधि मे यह ग्रन्थ सुन्दर ढग से छपकर तैयार हो गया। इसके पत्र-संशोधन मे पं० प्रभुदत्त शास्त्री साहित्य-रत्न, साहित्य-प्रभाकर ने पूर्ण सहायता की। हम इन महानुभावो को हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज के लोकप्रिय एव विद्वान् आचार्य श्री विजयधर्मसूरि जी महाराज ने, जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी समाज के वहुश्रुत मान्य विद्वान् उपा० श्री अमर मुनिजी ने और दिगम्बर सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध विद्वान् प० कैलासचन्द्र शास्त्री ने इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखने की कृपा की तथा जैन श्वेताम्बर तेरापथी सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसीजी के शिष्यरत्न मुनिश्री नथमलजी ने विस्तृत और विशद प्रस्तावना से इस ग्रन्थ को अलकृत किया। प० धनगिरि शास्त्री, म० म० परमेश्वरानन्द शास्त्री और डॉ० मटन मिश्र मीमासाचार्य ने मङ्गल भावना प्रदान की। ये सर्व महानुभावों के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

सर्वोदय-प्रवृत्ति के सचालक पूज्य विनोबाजी ने पत्र द्वारा विशिष्ट सुझाव देकर और हमारा अति आग्रह से इस ग्रन्थ का समर्पण स्वीकार कर हमे अति उपकृत किया है।

पू० आ० श्री विजय अमृतसूरीश्वरजी महाराज, पू० आ० श्री विजय

लक्ष्मणसूरीश्वरजी महाराज, पू० आ० श्री विजय समुद्रसूरीश्वरजी महाराज, पू० पन्यास श्री धुरन्धरविजयजी गणिवर्य, पू० पन्यास श्री भानुविजयजी गणिवर्य, पू० मुमुक्षु श्री भव्यानन्दविजयजी महाराज, बम्बई-निवासी श्री रमणिकचद मोतीचंद झवेरी और श्री अभयराज बलदोटा, लडन-निवासी श्री मेघजी पथराज शाह, श्री आत्मानन्द जैन महासभा पजाब के प्रधान मत्री प्रो० पृथ्वीराज जैन एम० ए०, कलकत्ता-निवासी श्री मोहनलाल झवेरी, श्री रजनीकान्त शाह, श्री छोटेलाल जैन, श्री ताजमलजी बोथरा, श्री भंवरलालजी नाहटा, श्री कुवरजी माणकेजी और कई मित्रो तथा प्रशसकों ने इस प्रकाशन मे हार्दिकता दिखलाई है, इन सभी के हम अत्यन्त आभारी है।

कलकत्ता-जैन सभा ने तो इस प्रकाशन को अपना ही मान कर विशिष्ट प्रकाशन-समारोह की योजना की, और वितरण आदि में भी सुन्दर सहयोग दिया। उसके प्रधान कार्यकर्त्ता श्री नवरतनमलजी सुराणा, श्री लाभचन्दजी रायसुराणा, श्री दीपचन्दजी नाहटा, श्री केवलचदजी नाहटा, श्री पन्नालालजी नाहटा आदि को हम कैसे भूले ?

हम आशा रखते है कि हिन्दी भाषा-भाषी जनता इस सस्करण को अपना कर हमें प्रोत्साहित करेगी।

नरेन्द्रकुमार शाह

ता० ९-७-६३

प्रकाशक

विषयानुक्रम

•

वचनामृत

सम्पादकीय

भगवान् महावीर के वचनो के प्रति श्रद्धा, प्रेम और विश्वास की दृढता मेरे जीवन में किस प्रकार उद्भूत हुई, इस सम्बन्ध में यदि यहाँ थोडा-सा उल्लेख किया जाय, तो अनुचित नही होगा।

जैन कुटुम्ब में उत्पन्न होने के कारण भगवान् महावीर का नाम तो शैशवावस्था में ही श्रवण किया था तथा चौबीस तीर्थंकरो के नाम कण्ठस्थ करते-करते वह हृदय-पटल पर अङ्कित हो गया था। तदनन्तर मेरी धर्म-परायण माता ने महावीर-जीवन के कतिपय प्रसङ्ग सुनाये उससे मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ था, किन्तु उस समय मेरी आयु बहुत छोटी थी, मेरा ज्ञान अति अल्प था।

चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था में मेरी जन्मभूमि (सौराष्ट्र के 'दाणावाडा' गाँव) में मेरे दाहिने पैर मे एक सर्प ने दंश दिया, तब 'महावीर-महावीर' नाम रटने से ही पुनर्जीवन प्राप्त किया था।

फिर अहमदाबाद मे रहते हुए विद्याभ्यास के दिनो मे एक बार पर्युषण-पर्व के समय गुरुमुख से भगवान् महावीर का चरित्र मैंने आद्योपान्त सुना और मेरे मन मे उनकी एक मङ्गलमयी मूर्ति

अङ्कित हो गई। उसी दिन से भगवान् महावीर का स्मरण-वन्दन-पूजन आदि अधिक रूप से करने लगा।

विद्याभ्यास समाप्त होने के बाद भगवान् महावीर के सम्बन्ध मे कुछ लिखने की भावना मुखरित हुई और मैंने गुजराती भाषा मे बालभोग्य शैली मे 'प्रभु महावीर' नामक एक लघु चरित्र लिखा। विद्यार्थिओं को वह प्रिय लगा तथा बम्बई के 'श्री जैन श्वेताम्बर एज्यूकेशन बोर्ड' ने उसे धार्मिक अभ्यासक्रम मे जोड लिया। इसी के फलस्वरूप उसकी आज तक नौ आवृत्तियाँ हो चुकी हैं।

इसके पश्चात् सर्वोपयोगी ढग से गुजराती भाषा मे 'विश्ववन्धु प्रभु महावीर' नामक एक छोटी पुस्तिका लिखी तथा उसकी एक ही वर्ष मे १००००० एक लाख (प्रतियाँ) समाज के करकमलों मे प्रस्तुत की। उसकी द्वितीय आवृत्ति गत वर्ष मे प्रकाशित हुई और केवल एक ही दिन मे उसकी ११००० ग्यारह हजार प्रतियाँ हाथो हाथ बिक गई।

विगत दश-बारह वर्षों मे भगवान् महावीर के सम्बन्ध मे पढने-विचारने तथा लिखने के प्रसग अत्यधिक आये और उनकी उपासना तो कई वर्षो से अनवरत चल ही रही थी। इस हालत मे मेरे अन्तर मे भगवान् महावीर के वचनों के प्रति श्रद्धा, प्रेम और विश्वास की भावना अति दृढ बन गई।

भगवान् महावीर के वचन वस्तुतः अमृततुल्य हैं, क्योंकि ये विषय और कषायरूपी विष का शीघ्र शमन करते हैं और इनको पान करने वाले को अलौकिक आनन्द प्रदान करते हैं। साथ ही इन मे जीवन-शोधन की पर्याप्त सामग्री भरी हुई है, अतः सभी

मुमुक्षुओ को इन वचनो का स्वाध्याय प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये।

प्रस्तुत संकलन तैयार करते समय श्री उत्तराध्ययन सूत्र तथा श्री दशवैकालिक सूत्र का पूर्णरूप से उपयोग किया गया है। आजतक उपर्युक्त दोनो ग्रन्थ-रत्नो की कई आवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी है और उनमे गाथाओ के क्रमांक मे एक-दो का अन्तर आता है। अतः प्रस्तुत सकलन को प्रचलित आवृत्तिओ के साथ मिलाने पर कही-कही एकाध-दो गाथाओ का अन्तर होने की सम्भावना है, जिसे पाठकगण किसी प्रकार की त्रुटि न समझे। ठीक वैसे ही मूल गाथाओ मे भी कही-कही पाठान्तर हैं जो टीकाकारो के अभिप्राय एव अर्थ-सगति को परिलक्षित करते हुए योग्य रूप से रखे गये है। अतः उसमे भी प्रचलित आवृत्ति की अपेक्षा कुछ स्थानो पर अन्तर होना स्वाभाविक है। लेकिन जब तक इन दोनो ग्रन्थो की सर्वसामान्य आवृति तैयार न की जाय तबतक यह स्थिति बनी ही रहेगी।

प्रस्तुत हिन्दी सस्करण मे भगवान् महावीर के १००८ वचनो का सग्रह ४० धाराओ मे सुव्यवस्थित ढग से उपस्थित किया गया है। अतः पाठकगण किसी भी विषय पर भगवान् का मंतव्य क्या था, वह आसानी से जान सकेंगे। फिर प्रत्येक वचन के नीचे उसका मूल आधारस्थान संकेत द्वारा सूचित किया गया है और स्पष्ट-सरल अनुवाद साथ योग्य विवेचन भी दिया गया है। आखिर मे अति आवश्यक समझ कर प्रकाशित वचनो का अकारादि क्रम भी जोड़ दिया है।

ग्रन्थ के अग्रिम भाग मे भगवान् महावीर की तिरगी तस्वीर, तीन विद्वानो के प्राक्कथन और विस्तृत प्रस्तावना एव भगवान् महावीर के जीवन की ऐतिहासिक रेखा भी दी गई है। अतः इस विषय मे अनुराग रखनेवालो के लिए यह ग्रन्थ अति उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी मेरी धारणा है। विशेष क्या ? यह ग्रन्थ का पठन-पाठन सर्व के कल्याण का कारण हो।

बम्बई

दि० ६-७-'६३ — धीरजलाल शाह

प्राक्कथन

[१]

श्रमण भगवान् महावीर कैवल्यावस्था प्राप्त होने के बाद तीस वर्ष तक असख्य जन-समुदाय को अपने विशिष्ट वचनामृत का पान कराते रहे। फलतः असख्य आत्माएँ सदा-सर्वदा के लिए भवपाश से छूट गई। विशेष क्या ? यह महाप्रभु का वचन श्रवण करने के प्रताप से पशु-पक्षी भी अपनी आत्मा का उद्धार करने मे समर्थ बने।

विश्ववद्य भगवान् महावीर के इस वचनामृत का सग्रह इनके पट्टशिष्य अर्थात् गणधर भगवन्तो ने आचाराग, सूयगडाग आदि सूत्रो के रूप मे व्यवस्थित किया और जैन शासन का चतुर्विध सघ आज तक गुणवन्त गीतार्थों के मुख से ये सूत्रो को श्रवण कर आत्म-कल्याण की साधना मे रत रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक शतावधानी पंडित श्री धीरज भाई ने भी भगवान् के इस वचनामृत को श्रमण-श्रेठो के मुख से कई बार सुने और श्रद्धापूर्ण भावना से अपने हृदय-मन्दिर मे स्थापित किए ऐसा मेरा ख्याल है। फिर कई महानुभावो का ऐसा सुझाव रहा कि देवाधिदेव भगवान् महावीर के वचनामृत के इस अनमोल सग्रह को यदि सुव्यवस्थित ढंग से गुजराती, हिन्दी, एव अग्रेजी भाषा मे सरल-स्पष्ट

अनुवाद के साथ प्रकाशित किया जाय तो जैन और जैनेतर जनता के लिये अति मननीय सुन्दर विचार-सामग्री उपलब्ध हो जायगी, जो उन्हे जैन सिद्धान्त और धर्म के हार्द तक पहुँचने मे निःसन्देह सहायक सिद्ध होगी।

श्री धीरज भाई ने इस सुझाव को अपने पुरुषार्थी स्वभाव से अल्प समय मे ही कार्यरूप मे परिणत किया और जनता के सामने 'श्री वीर-वचनामृत' नामक गुजराती सस्करण भव्य समारोह पूर्वक रख दिया। जनता ने इसका सुन्दर सत्कार किया।

इस सत्कार से उत्साहित होकर श्री धीरजभाई ने अल्पावधि में ही उसका हिन्दी अनुवाद तैयार करवाकर मुद्रित भी करा लिया और अभी वगाल देश की महानगरी कलकत्ता में इसका प्रकाशन हो रहा है। क्या श्री धीरजभाई का यह पुरुषार्थ सराहनीय एव धन्यवाद के योग्य नही है ?।

यदि पाठक वर्ग प्रस्तुत ग्रन्थ का वाचन, मनन और निदिध्यासन करेंगे तो उनकी आत्मा परमात्मावस्था के पुनीत पथ पर सफलता पूर्वक प्रयाण करेगी, इसमें तनीक भी शंका नही है।

बम्बई, २० जून १९६३ विजयधर्म सूरि

[२]

श्रमण भगवान् महावीर देश-विशेष तथा काल-विशेष की विभूति नही है। उनका दिव्य ज्योतिर्मय व्यक्तित्व देश और काल की क्षुद्र सीमाओं को तोडकर सदा सर्वत्र प्रकाशमान रहनेवाला अजर-अमर व्यक्तित्व है। अनन्त सत्य का साक्षात्कार करने के लिए उन्होंने

भौतिक जीवन की समग्र सुख-सुविधाओ को ठुकराया। अन्तर्जीवन का विश्लेषण एवं मन्थन कर राग-द्वेष की वैकारिक कालिमा को दूर हटाया और अन्तर मे शुद्ध, बुद्ध, निरजन, निर्विकार आत्म-सत्ता का साक्षात्कार किया।

भगवान् महावीर की वाणी वह पतित-पावनी निर्मल धारा है, जिसमे निमज्जित होने से आत्मा अपने लोक-परलोक और लोकातीत तीनों प्रकार के जीवन को पावन एवं पवित्र कर लेता है। द्रव्य-गगा तन के ताप को कुछ क्षणो के लिए भले ही शान्त कर दे किन्तु उसमे मन के ताप को शीतल करने की क्षमता नही है। परन्तु भगवान् की वाणी रूप निर्मलधारा मनुष्य के मनस्ताप को अखण्ड शान्ति और शीतलता प्रदान करती है।

जग-जीवन के परिताप और पीडा को दूर करने के लिए भगवान् महावीर ने अकार-त्रयी की दिव्य देशना दी थी—अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह। मन के वैरभाव को दूर करने के लिए अहिंसा, बुद्धि की जडता और आग्रह को मिटाने के लिए अनेकान्त तथा समाज और राष्ट्र की विषमता को दूर करने के लिए अपरिग्रह परम आवश्यक तत्त्व है। इस अकार-त्रयी में भगवान् की समग्र वाणी का सार आ जाता है। शेष जो भी कुछ है, वह सब इसी का विस्तार है।

आगम-महासागर का मन्थन करके, उसमें से भगवान् महावीर के दिव्य सन्देश रूप अमृत कण निकालना और उसे सर्वजन हिताय एवं सर्वजन सुखाय प्रस्तुत करना, आज के साहित्यकार का सब से बड़ा कर्त्तव्य है। साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह अपनी प्रतिभा और

कला के अभिनव प्रयोग से पुरातन धार्मिक, सांस्कृतिक तत्त्वों को अपने युगकी अभिनव शैली मे अभिव्यक्त कर के जनता-जनार्दन के हाथो मे समर्पित करे।

शतावधानी पण्डित धीरजभाई द्वारा संकलित और सम्पादित "श्रीमहावीर वचनामृत" इस दिशा मे एक सुन्दर और स्तुत्य प्रयास है। इसके पठन-पाठन से जन-जीवन को एक पावन प्रेरणा मिलेगी। हिन्दी मे ही नही, भारत की अन्य भाषाओं तथा अंग्रेजी मे भी इसका रूपान्तर होना चाहिए। अधिक से अधिक मनुष्यों के हाथो मे श्रमण भगवान् महावीर का यह सार्वजनीन शाश्वत सन्देश पहुच सके, इस प्रकार के हर किसी प्रयत्न से मुझे परम प्रसन्नता होगी।

जैन भवन
लोहामण्डी, आगरा
ता० २२-६-६३

उपाध्याय
अमर मुनि

[३]

भगवान् महावीर जैन धर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर थे। उन्होंने बारह वर्षो की कठोर साधना के पश्चात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनकर जिस सत्य का प्रतिपादन अपनी दिव्य वाणी के द्वारा किया, वह उनसे पूर्व के तीर्थ करो के द्वारा प्रतिपादित रूप से भिन्न नही था। इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि भगवान् महावीर के पश्चात् जैन संघ में भेद पड जाने पर भी तात्त्विक मन्तव्यो मे कोई भेद नही पडा। आज भी समस्त जैन संघों के तात्त्विक मन्तव्य वे ही हैं जो भगवान् महावीर के समय मे अखण्ड जैन संघ के थे। यह कोई सामान्य बात

नही है। दोनो जैन सम्प्रदायों के दार्शनिको ने भी यदि परस्पर मे एक दूसरे का खण्डन किया तो स्त्री-मुक्ति और केवलि-भुक्ति को लेकर ही किया। इसके सिवाय उन्हे कोई तीसरा मुद्दा नही मिला। इन दो विषयो से सबधित बातो को यदि छोड दिया जाये तो समस्त जैन सम्प्रदायो की वाणी मे आज भी वही एक-रूपता मिल सकती है, जो भगवान् महावीर की वाणी मे थी।

उदाहरण के लिये श्री धीरजलालजी शाह के द्वारा कुछ आगमो से सकलित इसी श्री महावीर वचनामृत को रख सकते है। इसमे विश्वतन्त्र, सिद्ध जीवो का स्वरूप, ससारी जीवो का स्वरूप, कर्म-वाद, कर्म के प्रकार, दुर्लभ सयोग, मोक्षमार्ग, साधनाक्रम, धर्माचरण, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सामान्य साधु-धर्म, साधु का आचरण, अष्ट-प्रवचनमाता, भिक्षाचरी, भिक्षु की पहचान, सयम की साधना, विनय, कुशिष्य, काम-भोग, प्रमाद, विषय, कषाय, सम्यकत्व, षडावश्यक आदि ४० विषयों का सग्रह है। इनको जैन मात्र ही नही, जैनेतर बन्धु भी बिना किसी संकोच के पढ सकते है।

धर्म के सामान्य नियम तो प्रायः समान हुआ करते है। उन्ही समान नियमो को जीवन मे अपनाने से मनुष्य मे देवत्व का विकास होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, तप, त्याग आदि ऐसे ही सामान्य नियम है। ये नियम किसी सम्प्रदाय से बद्ध न होकर धर्म सामान्य से सम्बद्ध है। जहाँ ये है वहाँ धर्म अवश्य है और जहाँ ये नही है वहाँ धर्म

नहीं है। किसी भी धर्म मे हिंसा, असत्य, चोरी, दुराचार, परिग्रह, क्रोध, मान, मायाचार, लोभ, असयम आदि को धर्म नही माना। फिर भी इनको लेकर कोई दंगा फसाद नही होता। इनको मिटाने के लिये किसी को किसी की जान लेते या अपनी जान देते नही देखा जाता। इनका निषेध तो गौन हो गया है और इनके चलते रहते भी जो कुछ चलता रह सकता है वही मुख्य हो गया है। धर्म करना भी न पड़े और धर्मात्माओं मे नाम लिखा जाये, ऐसे ही धर्म की आज बोलबाला है। इसी से धर्म और धर्मात्माओं के प्रति शिक्षित समाज की आस्था उठती जाती है। इस आस्था को बनाये रखने मे 'श्री महावीर-वचनामृत' जैसे संकलन बडे उपयोगी हो सकते हैं।

भगवान् महावीर कोई स्वयसिद्ध, शुद्ध, बुद्ध अनादि परमात्मा नही थे। वे भी कभी हमी मे से थे। इसलिये उनके वचनामृत उस अनुभव का निचोड है जो उन्होंने अपने एक नही अनेक जीवनों मे अर्जन किया। और उसके द्वारा स्वयं शुद्ध बुद्ध परमात्मा बनकर उस सत्यका साक्षात्कार किया जो इस चराचर विश्व का रहस्य बना हुआ है और फिर अपनी दिव्यवाणी के द्वारा उसे प्रकट किया।

भगवान् महावीर का युग देवताओं का युग था। देवताओं का ही डिंडिमनाद सर्वत्र सुनाई पडता था। उन्हे प्रसन्न करने के लिये बड़े-बड़े यज्ञ किये जाते थे। उस समय का मानव देवताओ का गुलाम था। भगवान् महावीर ने उस दासता के बन्धन को काटकर मनुष्य को देवताओ का भी आराध्य बना दिया। और किसी स्वयंसिद्ध सर्व-शक्तिमान् कर्त्ता-हर्त्ता-विधाता—ईश्वर की सत्ता से भी इन्कार कर

दिया। वह उनकी वैचारिक क्रान्ति थी। उनके धर्म का केन्द्र ईश्वर नही था और न वेद था, किन्तु आत्मा था, जिसे भुला दिया गया था। उसी भूली भटकी आत्मा को केन्द्र मे रखकर भगवान् महावीर ने अपनी तत्त्वज्ञान-मूलक साधना की या साधना-मूलक तत्त्वज्ञान का सागोपाग विवेचन किया। और सृष्टि के किसी रहस्य को 'अव्याकृत' कहकर उसे टाला नही।

सत्य को जानने से भी अधिक कठिन है सत्य को यथार्थ रूप में प्रकाशित करना, क्योकि ज्ञान पूर्ण सत्य को एक साथ जान सकता है, किन्तु शब्द उसे एक साथ ज्यो का त्यो प्रकाशित नही कर सकता। शब्दोत्पत्ति क्रमिक तो है। फिर ज्ञाता अपने अभिप्राय के अनुसार वस्तु के धर्म को प्राधान्य देता है। इन कारणो से उत्पन्न हुए विवाद या मतिभेद को दूर करने के लिये भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद के साथ स्याद्वाद और नयवाद का समवतार दार्शनिक क्षेत्र मे किया, जिससे वैचारिक क्षेत्र मे किसी के साथ अन्याय न हो। पूर्ण अहिंसक तो थे वे। इसीसे स्वामी समन्तभद्र ने अपने युक्त्यनुशासन मे कहा है—

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठ,
नय-प्रमाणैः प्रकृताञ्जसार्थम्।
अधृष्यमन्यैर्निखिलप्रवादिभि-
र्जिन त्वदीय मतमद्वितीयम्॥

हे जिन! तुम्हारा मत अद्वितीय है। एक ओर वह दया, दम, त्याग और समाधि को लिये हुए है, दूसरी ओर उसमें नय और

प्रमाणों के द्वारा प्रकृत वास्तविक अर्थ को ग्रहण करने की व्यवस्था है। इसी से कोई वादि उसे शास्त्रार्थ मे पराजित नही कर सकता ।

उन्ही जिनेन्द्र भगवान महावीर के वचनामृत के इस संकलन को श्री धीरजलालजी शाह ने सम्पादित किया है। मेरा उनसे प्रथम परिचय इसी सकलन के माध्यम से हुआ। और उनकी प्रेरणा से इस प्रथम परिचय के उपहार रूप मे अपने दो शब्द पाठको को भेंट करता हूँ। इसके नये सस्करण मे इस सकलन को और भी परिमार्जित और विस्तृत किया जाये ऐसी मेरी भावना है।

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय
वाराणसी
दि० २२-६-६३

कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना

● आत्म-जिज्ञासा की सम्पूर्ति

भगवान् महावीर आत्म-साक्षात्कार के महान् प्रवर्तक थे। आत्म-साक्षात्कार अर्थात् सत्य का साक्षात्कार। सत्य का उपदेश वही दे सकता है जो उसका साक्षात्कार कर पाता है। भगवान सत्य के अनन्त रूपो के द्रष्टा थे। पर जितना देखा जाता है, उतना कहा नही जा सकता। भगवान ने जिन सत्यो का निरूपण किया, वे भी हमे पूर्णतः ज्ञात नही हैं। मनुष्य जितना ज्ञात की ओर झुकता है, उतना अज्ञात की ओर नही। भगवान महावीर ने अहिंसा, सत्य आदि का उपदेश दिया, जातिवाद की तात्त्विकता का खण्डन किया, यज्ञ-हिंसा का विरोध किया आदि-आदि। जो ज्ञाततथ्य है, वे ही उनकी गुण-गाथा मे गाए जाते है। किन्तु भगवान ने जीवन के ऐसे अनेक ध्रुव-सत्यो पर प्रकाश डाला, जिन पर हमारा ध्यान सहज ही आकृष्ट नही होता, क्योकि वे हमारे लिए ज्ञात होकर भी अज्ञात हैं। अज्ञात को पकडने मे जो कठिनाई होती है, उससे कही अधिक कठिनाई होती है उसे पकड़ने मे, जो ज्ञात होकर भी अज्ञात होता है।

आत्मा देह से भिन्न है, आत्मा ही परमात्मा है—यह हमे ज्ञात है, फिर भी हम इस सत्य को तब तक नही पकड पाते जब तक हम स्वय सत्य रूप नही बन जाते। भगवान महावीर का सबसे श्रेष्ठ उपदेश यही है कि तुम स्वय सत्य रूप बनकर सत्य को पकडो। वह तुम्हारी पकड मे आ जाएगा। तुम असत्य रूप रहकर उसे नही पा सकोगे।

दुःख कामना से उत्पन्न होता है—यह जानते हुए भी मनुष्य दुःख मिटाने के लिए कामना के जाल मे फँसता है। वैर—वैर मे बढता है—यह जानते हुए भी मनुष्य वैर को बढ़ावा देता है। शस्त्र अशान्ति को उत्तेजित करता है—यह जानते हुए भी मनुष्य शान्ति के लिए शस्त्र का निर्माण करता है। भगवान ने कहा—दुःख का पार वही पा सकता है जो कामना को जानता है और उसे छोडना भी जानता है। वैर का पार वही पा सकता है जो वैर के परिणाम को जानता है और उसे छोडना भी जानता है। शस्त्र का पार वही पा सकता है जो अशान्ति को जानता है और उसे छोडना भी जानता है। भगवान की भाषा मे वह ज्ञान ज्ञान नही जो त्याज्य को त्याग न सके। उनका ज्ञान भी आत्मा है, दर्शन भी आत्मा है और चारित्र भी आत्मा है। भगवान का सारा धर्म आत्ममय है। उनका सारा उपदेश आत्मा की परिधि मे है। इसलिए जो कोई आत्मवीर होता है, जिसमे आत्म-जिज्ञासा या आत्मोपलब्धि की भावना प्रबल हो जाती है, उसके लिए भगवान महावीर की वाणी को पढना अनिवार्य या सहज प्राप्त हो जाता है।

● अहिंसा और धर्म

भ० महावीर श्रमण-परम्परा मे अवतीर्ण हुए। उन्होने निर्ग्रन्थ दीक्षा स्वीकार की। भगवान् ऋषभ ने धर्म की स्थापना की। मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्याम धर्म की व्यवस्था की। भगवान् महावीर ने पुनः पचयाम धर्म की स्थापना की। इसका कारण यह बतलाया गया है कि प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु-जड थे इसलिए पंचयाम की व्यवस्था की गई—ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पृथक्-पृथक् महाव्रत माने गए। मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरो के साधु ऋजु-प्राज्ञ थे इसलिए चातुर्याम से काम चल गया। ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही शब्द—'बहिद्धादाणविरमण' मे संग्रहीत कर लिया गया। भगवान् महावीर के शिष्य वक्र-जड हुए इसलिए उन्हे पुन. भगवान् ऋषभ का अनुसरण करना पड़ा। यह युक्ति सुन्दर है, फिर भी इस व्यवस्था-भेद का मूल कारण यही है, यह समझने मे कठिनाई है। यह बहुत ही मीमासनीय विषय है। जिस प्रकार अहिंसा धर्म के लिए सब तीर्थंकरो की एकसूत्रता बतलाई है, उसी प्रकार अन्य धर्मों की नही बतलाई, इसका कारण क्या है? या तो अहिंसा मे शेष सारे धर्मों को वे समाहित कर लेते थे अथवा कोई दूसरा कारण था—निश्चय पूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता। जैन धर्म मे आचार का स्थान बहुत प्रमुख रहा है। एक दृष्टि से उन्हे आचार और नीति-धर्म का प्रवर्तक कहा जा सकता है। जीवन की सारी प्रवृत्तियो की व्याख्या एक अहिंसा शब्द के आधार पर की जा सकती है। संभव है इस दृष्टि से ही अहिंसा को सब तीर्थंकरो का समान धर्म माना गया हो।

यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि जैन धर्म जो है, वह अहिंसा है और जो अहिंसा है, वह जैन धर्म है।

● अहिंसा और सत्य

कुछ विद्वान् ऐसा सोचते हैं कि जैनाचार्यों ने अहिंसा पर जितना बल दिया, उतना सत्य पर नहीं। यह उनका अपना दृष्टिकोण है, इसलिए उसकी अवहेलना तो कैसे की जाय पर उनके सामने दूसरा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जा सकता है। भगवान् महावीर की दृष्टि में अहिंसा और सत्य में कोई द्वैत नहीं है। आत्मा की पूर्ण शुद्ध अवस्था —परमात्मरूप—जो है, वह अहिंसा है। सत्य उनसे भिन्न कहाँ है? जहाँ सत्य है, वहाँ निश्चित रूपेण अहिंसा है और जहाँ सत्य नहीं है, वहाँ अहिंसा भी नहीं है। सत्य अहिंसा के परिकर में ही प्रकट होता है और हिंसा असत्य के साथ चली जाती है। तो हम नहीं कह सकते कि जहाँ अहिंसा है वहाँ सत्य है और जहाँ सत्य है वहाँ अहिंसा है? ये दोनों परस्पर इस प्रकार व्याप्त हैं कि इन्हें द्वैत की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

● जैन धर्म और सत्य

कोई भी वस्तु प्राचीन होती है, इसलिए अच्छी नहीं होती और नई होती है इसलिये बुरी नहीं होती। जैन धर्म पुराना है इसलिए अच्छा है, यह कोई तर्क नहीं है, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह बहुत पुराना है और इतना पुराना है कि इतिहास की वहाँ तक पहुँच ही नहीं है। भगवान् महावीर और भगवान् पार्श्व इतिहास

की परिधि मे आते है। भगवान् अरिष्टनेमि और उनसे पूर्ववर्ती तीर्थंकर (भगवान् ऋषभ तक) इतिहास की परिधि से अस्पृष्ट है। संभव है, आनेवाला युग उन्हे ऐतिहासिक-पुरुष प्रमाणित कर दे।

वही धर्म आत्मा का सहज गुण होता है जो सत्य का सीधा स्पर्श करे। जैन धर्म बाह्य विस्तार की दृष्टि से बहुत व्यापक नही है, फिर भी वह महान् धर्म है और इसलिए है कि वह सत्य के अन्तस्तल का सीधा स्पर्श करता है।

● सत्य की मीमांसा

सत्य क्या है ? यह प्रश्न अनादिकाल से चर्चित रहा है। जो स्थित है, वह सत्य है पर वही सत्य नही है। परिवर्तन प्रत्यक्ष है। उसे असत्य नही कहा जा सकता। जो परिवर्तन है, वह सत्य है पर वही सत्य नही है। स्थिति के बिना परिवर्तन होता ही नही। जो दृश्य है वह सत्य है पर वह भी सत्य है जो दृश्य नही है। सत्य के अनेक रूप हैं। एक रूप अनेकरूपता का अश रहकर ही सत्य है। उससे निरपेक्ष होकर वह सत्य नही है। सत्य किसी धर्म-प्रवर्तक के द्वारा अज्ञात से ज्ञात और अनुद्घाटित से उद्घाटित होता है। भगवान् महावीर ने कहा—सत्य वही है जो वीतराग के द्वारा प्ररूपित है। सत्य एक और अविभाज्य है। जो सत् है, जिसका अस्तिस्व है, वह सत्य है। यह परम अभेद दृष्टि है। इस जगत् मे चेतन का भी अस्तित्व है और अचेतन का भी अस्तित्व है। इसलिए चेतन भी सत्य है और अचेतन भी सत्य है। मनुष्य चेतन है, स्वय सत्य है फिर भी उसका चेतन से सीधा सम्पर्क नही है और इसलिये

नही है कि राग और द्वेष उसका सत्य से सीधा सम्पर्क होने मे बाधा डाले हुए हैं। राग-रंजित मनुष्य आसक्ति की दृष्टि से देखता है इसलिए सत्य उसके सामने अनावृत्त नहीं होता। द्वेष-रंजित मनुष्य घृणा की दृष्टि से देखता है इसलिए सत्य उससे भय खाता है। सत्य उसीके सामने अनावृत होता है जो तटस्थ दृष्टि से देखता है। तटस्थ दृष्टि से वही देख सकता है जिसके नेत्र आसक्ति और घृणा से रंजित नहीं होते।

● सत्य के दो रूप—अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद

भगवान् महावीर वीतरागी थे। सत्य से उनका सीधा सम्पर्क था। उन्होंने जो कहा—वह सुना-सुनाया या पढ़ा-पढाया नहीं कहा। उन्होंने जो कहा, वह सत्य से सम्पर्क स्थापित कर कहा। इसलिए उनकी वाणी यथार्थ का रहस्योद्घाटन और आत्मानुभूति का ऋजु उद्बोधन है। जो सत्य है वह अनुपयोगी नहीं है पर उसके कुछ अंग विशेष उपयोगी होते हैं। हम परिवर्तनशील संसार मे रहनेवाले हैं। अतः कोरे अस्तित्ववादी ही नहीं किन्तु उपयोगितावादी भी हैं। हम सत्य को कोरा यथार्थवादी दृष्टिकोण ही नहीं मानते किन्तु यथार्थ की उपलब्धि को भी सत्य मानते हैं।

आत्मा है और प्रत्येक आत्मा परमात्मा है—यह दोनों अस्तित्व-वादी या यथार्थवादी दृष्टिकोण हैं। आत्मा की परमात्मा बनने की जो साधना है, वह हमारा उपयोगितावाद है। अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से भगवान ने कहा—आत्मा भी सत्य है और अनात्मा भी सत्य है। उपयोगितावादी दृष्टिकोण से भगवान ने कहा—आत्मा

ही सत्य है, शेष सब मिथ्या है। पहला द्वैतवादी दृष्टिकोण है और दूसरा अद्वैतवादी। भगवान महावीर अखण्ड सत्य को अनन्त दृष्टि-कोणो मे देखने का सदेश देते थे। अनेकान्त दृष्टि से अद्वैत भी उनके लिए उतना ही ग्राह्य था, जितना कि द्वैत, और एकान्त दृष्टि से द्वैत भी उनके लिए उतना ही अग्राह्य था जितना कि अद्वैत। वे अद्वैत और द्वैत दोनो को एक ही सत्य के दो रूप मानते थे।

● अस्तित्ववादी दृष्टिकोण

यह विश्व अनादि और अनन्त है। इसमे जितना पहले था, उतना ही आज है और जितना आज है, उतना ही आगे होगा। उसमें एक भी परमाणु न घटता है और न बढता है। कुछ घटता-बढ़ता सा लगता है, वह सब परिवर्तन है। परिवर्तन की दृष्टि से यह विश्व सादि और सान्त है।

यह विश्व शाश्वत है। इसमे जो मूलभूत तत्त्व है, वे सब अकृत है। सृष्टिकर्त्ता न कोई था, न है और न होगा। सब पदार्थ अपने-अपने भावो के कर्त्ता हैं। कुछ वस्तुए जीव और पुद्गल के सयोग से कृत भी है। कृत्रिम वस्तुओ की दृष्टि से यह विश्व अशाश्वत भी है। मूलभूत तत्त्व की दृष्टि से विश्व शाश्वत है और तद्गत परिवर्तन की दृष्टि से वह अशाश्वत है।

यह विश्व अनेक है। इसमे चेतन भी है। चेतन व्यक्तिशः अनन्त है। अचेतन के पाच प्रकार है - धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। प्रथम चार व्यक्तिशः एक है। पुद्गल व्यक्तिशः अनन्त हैं। अस्तित्व की दृष्टि से सब एक है इसलिए यह विश्व भी एक है।

● उपयोगितावादी दृष्टिकोण—आत्मा और परमात्मा

आत्मा है। वह अपने प्रयत्न से परमात्मा बन सकता है। यह उपयोगितावादी दृष्टिकोण है। भगवान ने कहा—बन्धन भी है और मुक्ति भी है। जिस प्रवृत्ति से आत्मा और परमात्मा की दूरी बढ़ती है, वह बन्धन है और जिससे उनकी दूरी कम होती है, अन्ततः नही रहती, वह मुक्ति है। मिथ्या दृष्टिकोण, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र—इनमे आत्मा बंधता है। सम्यक् दृष्टिकोण, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—इनसे आत्मा मुक्त होता है—परमात्मा बनता है।

परमात्मा पूर्ण सत्य है। आत्मा अपूर्ण सत्य है। आत्मा का अन्तिम विकास परमात्मा है। जब तक आत्मा अपने अन्तिम विकास तक नही पहुँचता, तब तक वह अपूर्ण रहता है। अन्तिम स्थिति तक पहुँचते ही वह पूर्ण हो जाता है। इसलिए यह सही है कि आत्मा अपूर्ण सत्य है, पूर्ण सत्य है परमात्मा। आत्मा परमात्मा का बीज है और परमात्मा आत्मा का पूर्ण विकास। बीज और विकास ये दो भिन्न स्थितियाँ हैं किन्तु भिन्न तत्त्व नही। आत्मा और परमात्मा ये दोनों एक ही तत्त्व के दो भिन्न रूप हैं किन्तु आत्मा के उत्तर रूप से भिन्न किसी परमात्मा और परमात्मा के पूर्व रूप से भिन्न किसी आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। उनके मौलिक एकत्व की दृष्टि से भगवान ने कहा—जो आत्मा है, वही परमात्मा है और जो परमात्मा है, वही आत्मा है। स्थिति-भेद की दृष्टि से

भगवान ने कहा—चेतन का जो अविकसित या अपूर्ण रूप है, वह आत्मा है और जो विकसित या पूर्ण है, वह परमात्मा है। ये दोनो एक ही चेतन-व्यक्ति की दो भिन्न अवस्थाएँ है।

● अध्यात्म और धर्म

भगवान महावीर ने आत्मा और परमात्मा की वास्तविक एकता की स्थापना की, उससे अनेक सत्यो का प्रकाशन हुआ।

(१) आत्मा का स्वतन्त्र कर्तृत्व

(२) आत्मा का स्वन्त्र भोक्तृत्व

अध्यात्मवाद और पुरुषार्थवाद इन्ही के फल है और इन्ही के आधार पर भगवान ने धर्म को बाहरी कर्मकाण्डो से उबारकर अध्यात्म बना दिया। उनकी भाषा मे—आत्मा से परमात्मा बनने की जो प्रक्रिया है, वही धर्म है। सम्प्रदाय, वेष, बाह्य कर्मकाण्ड आदि धर्म के उपकरण हो सकते है, पर धर्म नही।

धर्म आत्मा की ही एक परमात्मोन्मुख अवस्था है। उसे शुद्धावस्था भी कहा जा सकता है। भगवान ने कहा—धर्म शुद्ध आत्मा में स्थित होता है। इसका अर्थ है आत्मा की जो शुद्धि है, वही धर्म है। आत्मा और पुद्गल की मिश्रित अवस्था है, वह अशुद्धि है। जो शुद्धि है, वही धर्म है।

● सम्प्रदाय और धर्म

भगवान् महावीर ने तीर्थ की स्थापना की। साधना को सामुदायिक रूप दिया, फिर भी वे सम्प्रदाय और धर्म को भिन्न-भिन्न

मानते थे। उन्होंने कहा—'एक व्यक्ति सम्प्रदाय को छोड़ता है पर धर्म को नही छोडता। एक व्यक्ति धर्म छोड देता है पर सम्प्रदाय को नही छोडता। 'एक व्यक्ति दोनों को छोड देता है और एक व्यक्ति दोनों को नही छोडता। सम्प्रदाय धर्म की उपलब्धि मे सहायक हो सकता है। इस दृष्टि से उन्होंने संघ-बद्धता को महत्त्व दिया। किन्तु धर्म को सम्प्रदाय से आवृत्त नही होने दिया। उन्होंने कहा—जो दार्शनिक लोग कहते हैं कि हमारे सम्प्रदाय मे आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नही, वे भटके हुए हैं और वे भी भटके हुए हैं जो अपने-अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरो के सम्प्रदाय की निन्दा करते हैं। धर्म की आराधना सम्प्रदायातीत होकर—सत्याभिमुख होकर ही की जा सकती है। सम्प्रदाय एक साधन है, जीवन यापन की परस्परता या सहयोग है। वह व्यक्ति को प्रेरित कर सकता है किन्तु वह स्वय धर्म नही है। सम्प्रदाय और धर्म को भिन्न-भिन्न मानने वाले साधक के लिए सम्प्रदाय धर्म-प्रेरक होता है, धर्म-घातक नही।

● व्यक्ति और समुदाय

भगवान् महावीर तीर्थंकर थे—साधना के सामुदायिक रूप के महान् सूत्रधार थे। दूसरे पार्श्व मे वे पूर्ण व्यक्तिवादी थे। उन्होंने कहा—आत्मा अकेला है। वह अपने आप मे परिपूर्ण है। संज्ञा और वेदना भी उसकी अपनी होती है। समुदाय का अर्थ निमित्त—नैमित्तिक भाव है। सहयोग या परस्परालम्बन से शक्ति उत्पन्न होती है। उसका अविभक्त उपयोग ही समुदाय है। भगवान् ने

कहा—कोई एक व्यक्ति सबके लिए पाप-कर्म करता है, उसका परिणाम उसी को भोगना पडता है। इसका अर्थ है कि पाप-कर्म करते समय व्यक्ति का दृष्टिकोण सदा व्यक्तिवादी ही होना चाहिए और शक्ति सपादन के लिए समुदायवादी दृष्टिकोण। समुदायवाद नास्तिकता भी है। यदि उसका उपयोग इस अर्थ मे किया जाय कि मै वही करूँगा, जो सब लोग करते है। अच्छाई और बुराई का विचार किए बिना केवल "सर्व" का अनुसरण करना नास्तिकता है अर्थात् अपनी आत्म-शून्यता है। व्यक्ति अपनी सत्ता के जगत् मे पूर्णतः व्यक्ति है और निमित्त जगत् मे पूर्णतः सामुदायिक है। कोई भी जीवित व्यक्ति केवल व्यक्ति या केवल सामुदायिक नही होता। अध्यात्म का अन्तिम बिन्दु यही होता है कि वहाँ पहुँच कर व्यक्ति निमित्त-जगत् से मुक्त हो जाता है, कोरा व्यक्ति रह जाता है।

● स्वतंत्र सत्ता और अध्यात्म

भगवान् महावीर आत्मवादी थे। उनकी भाषा मे आत्मा परिपूर्ण है। उसका अस्तित्व पर-निर्भर नही किन्तु स्वतत्र है। इस स्वतत्र सत्ता का बोध ही अध्यात्म है। मनुष्य जितने अर्थ मे परिस्थिति का स्वीकार करता है, उससे भरता है, उतने ही अर्थ मे वह अपने स्वतत्र अस्तित्व से खाली हो जाता है। यह खाली होने की स्थिति भौतिकता है। जो कोई आध्यात्मिक बनता है, वह बाहर से कुछ लेकर नही बनता किन्तु बाहर से जो लिया हुआ है, उसे पुनः बाहर फेककर बनता है। अपूर्णता जो है, वह भीतर मे नही है किन्तु बाहर का जो स्वीकार है, वही अपूर्णता है। उसे अस्वीकार करके

ही मनुष्य देख सकता है कि वह परिपूर्ण है। भगवान् ने इसी अर्थ में कहा था कि आत्मा ही सुख-दुख का कर्त्ता है और आत्मा ही अपना मित्र है और वही अपना शत्रु। जो आत्मा को जानता है, वह परिस्थिति से मुक्त होने का उपाय जानता है। जो आत्मा में रमण करता है वह परिस्थिति के चक्रव्यूह से मुक्त हो जाता है। अन्तर्दृष्टि से उसकी इन्द्रिय और मन निरपेक्ष स्थिति है, वही अध्यात्म है। वहिर्जगत की दृष्टि से परिस्थिति से मुक्त होने की स्थिति है. वह अध्यात्म है। आत्मा परिस्थिति या किसी बाहरी सत्ता पर निर्भर नही है। इसीलिए उसका अस्तित्व स्वतंत्र है। उसका स्वतत्र अस्तित्व है इसलिए उसका कर्त्तव्य भी स्वतत्र है।

● स्वावलम्बन

साधना और आत्म-निर्भरता दोनो सम्बन्धित है। जितनी आसक्ति उतनी पर-निर्भरता। जितनी पर-निर्भरता उतनी विवशता। साधना का मुख स्ववशता की ओर है। भगवान् ने कहा—साधना गाँव में भी हो सकती है और अरण्य मे भी। वह गाँव मे भी नही हो सकती और अरण्य मे भी नही। भगवान् बाहरी निमित्तों या स्थितियों की उपेक्षा नही करते थे किन्तु आत्मा की स्वतंत्र सत्ता के प्रतिपादक होने के कारण वे बाहरी निमित्तों को अतिरिक्त स्थान भी नही देते थे। साधु को सामुदायिक जीवन बिताने की छूट दी पर साथ-साथ यह भी कहा कि वह समुदाय मे रहता हुआ भी अकेला रहे। अकेला अर्थात् शुद्ध। बहुत अर्थात् अशुद्ध। जो अकेला होता है वह संशुद्ध होता है और जो संशुद्ध होता है वह अकेला होता है।

सघ में रहकर भी अकेला रहने की स्थिति को भगवान् ने बहुत प्रबल बनाया। यह साधना का बहुत ही प्रखर रूप है। इस स्थिति में अहिंसा को तेजस्विता प्रगट होती है।

स्थिति का जितना अधिक स्वीकार होता है उतनी ही सहायता अपेक्षित होती है। जैसे-जैसे स्थिति का दबाव कम होता चला जाता है, वैसे-वैसे व्यक्ति सहायता-निरपेक्ष होता चला जाता है। एक दिन व्यक्ति अपने को सहायता से मुक्त कर लेता है। एक व्यक्ति सहायता न मिलने पर असहाय होता है, यह परतन्त्रता की स्थिति है। एक व्यक्ति अपने को सहायता से मुक्त कर असहाय होता है, यह पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थिति है। इसे भगवान् ने बहुत महत्व दिया। शिष्य ने पूछा—भगवन्! सहायता का त्याग करने से क्या होता है? उत्तर मिला—अकेलापन प्राप्त होता है। जिसे अकेलापन प्राप्त हो जाता है वह कलह, कषाय, तू-तू, मैं-मैं से मुक्त हो जाता है। उसे संयम, सवर और समाधि प्राप्त होती है।

भगवान् महावीर का स्वावलम्बन निमित्तो की दृष्टि से उपकरण, आहार और देह-त्याग तक तथा आन्तरिक स्थिति की दृष्टि से प्रवृत्ति- और कषाय-त्याग तक पहुँचता है। भगवान् आत्मा की स्वतन्त्र-सत्ता के जगत् से बोलते थे इसलिए उन्होने यही कहा—जो व्यक्ति उपकरण आदि बाहरी और कषाय आदि भीतरी बधनो से मुक्त होता है, वही पूर्ण अर्थ मे स्वावलम्बी होता है।

● गार्हस्थ्य और सन्यास

भगवान् महावीर सन्यास-धर्म के समर्थको मे प्रमुख थे। उनकी भाषा मे सन्यास का अर्थ था अहिंसा। वह जीवन मे हो तो गृहस्थ-वेष मे भी कोई सन्यासी हो सकता है और यदि वह न हो तो साधु के वेष मे भी कोई सन्यासी नही हो सकता। अहिंसा और सन्यास ये दोनो पर्यायवाची हैं। भगवान् ने यह प्रश्न उपस्थित किया कि 'को गारमावसे'? गृह मे रहना कौन चाहेगा? इसका अर्थ है हिंसा मे रहना कौन चाहेगा?

भगवान् ने कहा—कुछ भिक्षुओ से गृहस्थ अच्छे होते हैं। उनका सयम प्रधान होता है—अहिंसा विकसित होती है। जिनका सयम पूर्ण परिपक्व होता है, अहिंसा पूर्ण विकसित होती है, वह भिक्षु सब गृहस्थो से श्रेष्ठ होता है। उनका सन्यास किसी वेशभूषा या बाहरी उपकरण मे बँधा हुआ नही था। वह उन्मुक्त था। इसलिए उन्होने कहा—गृहस्थ के वेश मे भी वह व्यक्ति परमात्मा बन सकता है जो अहिंसा के चरम विकास तक पहुँच जाता है। वेष और धर्म के निश्चित सबन्ध को उन्होने कभी मान्य नही किया। उनकी वाणी है—

एक व्यक्ति रूप को छोड देता है, धर्म को नही छोडता।
एक व्यक्ति रूप को नही छोडता, धर्म को छोड़ देता है।
एक व्यक्ति दोनों को नही छोडता।
एक व्यक्ति दोनों को छोड देता है।

गृहस्थी का त्याग ममत्व-विसर्जन के लिए आवश्यक है और वेष-परिवर्तन का तात्पर्य है—पहचान या जागरूकता।

• अन्य धर्मों के प्रति

धर्म सत्य है और जो सत्य है वह एक है। वह देश-काल और व्यक्ति के भेद से विभक्त नही है। जो देश-काल और व्यक्ति से विभक्त है, वह धर्म का उपकरण हो सकता है, धर्म नही।

आत्मा और धर्म भिन्न नही है। जो आत्मा है वही धर्म है और जो धर्म है वही आत्मा है। धर्म आत्मा से भिन्न हो तो वह आत्मा को अनात्मा से मुक्त नही कर सकता। जो आत्मा को आत्मा से भिन्न करता है, वह धर्म है। वह सबके लिए समान है। फिर भी लोग कहते है यह मेरा धर्म और यह तुम्हारा धर्म। यहाँ धर्म का अर्थ सघ या सम्प्रदाय है, आत्मा की विशुद्धि करने वाले गुण नही। भगवान् ने कहा—आत्मा की उपलब्धि न गाव मे होती है और न अरण्य मे। आत्मा अपना द्रष्टा बने तो वह गाँव मे भी हो सकती है और अरण्य मे भी। मुक्ति धर्म से होती है। वह जैन, बौद्ध आदि विशेषणो, अमुक-अमुक वेषो, आदि से नही होती। इस सत्य को भगवान् ने 'अन्यलिंगसिद्धा' शब्द के द्वारा व्यक्त किया। मुक्त होने के लिए आवश्यक नही कि वह जैन साधु के वेष मे ही हो। वह किसी भी वेष या अवेष मे मुक्त हो सकता है, यदि साधु हो—मूर्छा या आसक्ति से मुक्त हो। सच्चाई यह है कि धर्म का प्रवाह किसी तट मे बंधकर नही बहता। वह उन्मुक्त होकर बहता है—सबके लिए समान रूप से बहता है। इसलिए वह व्यापक है। उसका

परिणाम सब देशों और कालों मे समान होता है, इसलिए वह शाश्वत है। वह व्यापक और शाश्वत है इसीलिए वैज्ञानिक है। वह प्रयोगसिद्ध है। उसका परिणाम निश्चित और निरपवाद है। धर्म हो और मुक्ति न हो, धर्म हो और आत्मा पवित्र न हो यह कभी नही हो सकता। जिसने धर्म को देखा वह मुक्त हुआ, जब देखा तब मुक्त हुआ, जहाँ देखा वही मुक्त हुआ। धर्म और मुक्ति मे व्यक्ति, काल और देश का व्यवधान नही है। दीपक अपने आप में प्रकाशित होता है, जब जलता है तभी प्रकाशित होता है और जहाँ जलता है वही प्रकाशित होता है।

● धर्म क्या और क्यों ?

भगवान् महावीर का धर्म आत्म-धर्म है। वह आत्मा के अस्तित्व से जुडा हुआ है। आत्मा जो है वह धर्म से सर्वथा भिन्न नही है और धर्म जो है वह आत्मा से सर्वथा भिन्न नही है। धर्म आत्मा से बाहर कही नही है। इसलिए वह आत्मा से अभिन्न भी है और वह आत्मा के अनन्त गुणों मे से एक गुण है। आत्मा गुणी है और धर्म गुण है। इस दृष्टि से वह आत्मा से भिन्न भी है।

आत्मा जब केवल आत्मा हो जाती है-शरीर, वाणी और मन से मुक्त हो जाती है, सारे विजातीय तत्त्वो-पुद्गल द्रव्यो से मुक्त हो जाती है तब उसके लिए न कुछ धर्म होता है और न कुछ अधर्म। वह जब तक विजातीय तत्त्वों से आबद्ध रहती है तब तक उसके लिए धर्म और अधर्म की व्यवस्था होती है। जिन हेतुओं से विजातीय तत्त्वो का आकर्षण होता है वे अधर्म कहलाते हैं और

जिनसे उनका निरोध या विनाश होता है, वे धर्म कहलाते है। भगवान् की भाषा मे समता ही धर्म है और विषमता ही अधर्म है। राग और द्वेष यह विषमता है। न राग, न द्वेष—यह समता, तटस्थता या मध्यस्थता है। यही धर्म है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शान्ति, क्षमा, सहिष्णुता, अभय, ऋजुता, नम्रता, पवित्रता, आत्मानुशासन, सयम, आदि-आदि जो गुण है, वे उसी के क्रियात्मक रूप है। इन्ही को व्यवहार की भाषा मे व्यक्तित्व-विकास के साधन और निश्चय की भाषा मे आत्म-विकास के साधन कहे जाते है।

सहज ही प्रश्न होता है, धर्म किसलिए ? साधारणतया इसका समाधान दिया जाता है—परलोक सुधारने के लिए। धर्म परलोक सुधारने के लिए है—यह सच है किन्तु अधूरा। धर्म से वर्तमान जीवन भी सुधरना चाहिए। वह शात और पवित्र होना चाहिए। अपवित्र आत्मा मे धर्म कहाँ से ठहरेगा ? उसका आलय पवित्र जीवन ही है। जिसे धर्म आराधना के द्वारा यहाँ शान्ति नही मिली, उसे आगे कैसे मिलेगी ? जिसने धर्म को आराधा, उसने दोनो लोक आराध लिए। वर्तमान जीवन मे अंधेरा देखने वाले केवल भावी जीवन के लिए धर्म करते है, वे भूले हुए हैं।

१—भगवान ने कहा—इहलोक के लिए धर्म मत करो। वर्तमान जीवन मे मिलनेवाले पौद्गलिक सुखो की प्राप्ति के लिए धर्म मत करो।

२—परलोक के लिए धर्म मत करो। आगामी जीवन मे मिलने वाले पौद्गलिक सुखो की प्राप्ति के लिए धर्म मत करो।

३—कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि के लिए धर्म मत करो।

४—केवल आत्म-शुद्धि या आत्मा की उपलब्धि के लिए धर्म करो।

● धर्म और अभय

भगवान ने कहा—धर्म पवित्र आत्मा मे रहता है। प्रश्न होता है, पवित्रता क्या है ? उसका उत्तर है कि अभय ही पवित्रता है। यद्यपि पवित्रता का मौलिक रूप अहिंसा है, फिर भी जहा भय होता है, वहाँ अहिंसा नही हो सकती, इसलिए अभय ही पवित्रता है।

अभय अहिंसा का आदि विन्दु है। भगवान के प्रवचन का मूल-मन्त्र है—डरो मत ! जो डरता है वह अपने को अकेला अनुभव करता है, असहाय मानता है। भूत उसी के पीछे पडता है जो डरता है। डरा हुआ मनुष्य दूसरो को भी डरा देता है। डरा हुआ मनुष्य तप और समय को भी तिलाजलि दे देता है। डरा हुआ मनुष्य अपने दायित्व को नही निभाता—उठाए हुए भार को वीच मे डाल देता है। डरा हुआ मनुष्य सत्पथ का अनुसरण करने मे समर्थ नही होता, इसलिए डरो मत !

न भयावनी परिस्थिति से डरो, न भयावने वातावरण से डरो ! न व्याधि से डरो, न असाध्य रोग से डरो ! न वुढापे से डरो, न मौत से डरो ! किसी से भी मत डरो ! जिसका अन्तःकरण अभय से भावित होता है, वही व्यक्ति सत्य की सम्पदा को पा सकता है।

● साम्ययोग

भगवान् महावीर के समूचे धर्म का प्रतिनिधि शब्द है 'सामायिक'। सामायिक का अर्थ है, समता की प्राप्ति। सव जीव समान हैं—इस धारणा से परत्व और ममत्व दोनों मिटते हैं और समत्व का विकास होता है। परत्व से द्वेष पलता है और ममत्व से राग। इनसे

विषमता बढती है। जब ये दोनो समत्व मे लीन हो जाते हैं, तब आत्मा सम बन जाती है।

भगवान् ने कहा—साम्ययोगी लाभ और अलाभ, सुख और दुःख, जीवन और मरण, प्रशंसा और निन्दा, मान और अपमान मे सम रहे। ये सब औपाधिक स्थितियाँ हैं। ये आत्मा को विषम स्थिति मे ले जाती है। सम स्थिति इनसे परे है।

भगवान ने कहा—आत्मा न हीन है और न अतिरिक्त। सब समान है। अध्यात्म जगत् के पहले सोपान मे उत्कर्ष की भावनाएं टूट जाती है। जो मुमुक्षु होकर भी किसी को अपने से अतिरिक्त और किसी दूसरे को अपने से हीन मानता है वह सही अर्थ मे मुमुक्षु नही है। वह उसी व्यवहार-जगत् का प्राणी है जो जाति, वर्ण आदि के आधार पर आत्मा को ऊँच-नीच माने बैठा है। भगवान जातिवाद का खण्डन करने नही चले। यज्ञ-हिंसा और दास-प्रथा का विरोध करना भी उनका कोई प्रमुख ध्येय नही था। उनका ध्येय था समता-धर्म की स्थापना। यह खण्डन और विरोध तो उसका प्रासंगिक परिणाम था। जहाँ धर्म का आधार समता है, वहाँ जातिवाद हो नही सकता। जहाँ धर्म का आधार समता है, वहाँ यज्ञ-हिंसा और दास-प्रथा का विरोध स्वतः प्राप्त है। भगवान् महावीर का सन्देश यदि इन्ही के विरोध में होता तो वह सीमित होता और अस्थायी भी। किन्तु उनका सन्देश असीम है और स्थायी और वह इसलिए है कि उसका ध्येय आत्मा की सम स्थिति को प्राप्त करना है। भगवान् ने सत्य को अनेकान्त की दृष्टि से देखा और उसका प्रतिपादन

स्याद्वाद की भाषा मे किया। इसका हेतु भी समता की प्रतिष्ठा है। एकान्त दृष्टि से देखा गया वस्तुतः सत्य नही होता। एकान्त की भाषा मे कहा गया सत्य भी वास्तविक सत्य नही होता। सत्य अखण्ड और अविभक्त है। प्रत्येक अस्तित्वशील वस्तु सत् है। जो सत् है वह अनन्त-धर्मात्मक है। उसे अनन्त दृष्टिकोणों से देखने पर ही उसकी सत्ता का यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिए भगवान् ने अनेकान्त दृष्टि की स्थापना की।

● अनेकान्त दृष्टि

शब्द की शक्ति-सीमित है। वह एक साथ अनन्त धर्मात्मक सत् के एक ही धर्म का प्रतिपादन कर सकता है। शेष अनन्त धर्म अप्रतिपादित रहते है। एक धर्म के प्रतिपादन से एक धर्म का ही वोध होता है, अनन्त धर्मों का नही। इस स्थिति मे हम सापेक्ष पद्धति से ही उसका प्रतिपादन कर सकते है—वस्तु के अनन्त धर्मों से जुडे हुए एक धर्म के माध्यम से उस सभी वस्तु का प्रतिपादन कर सकते हैं।

भगवान ने अनेकान्त की दृष्टि से देखा तव स्याद्वाद की भाषा मे कहा—प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। स्वरूप अविच्युति की दृष्टि से सब पदार्थ नित्य है और स्वगत परिवर्तनो की दृष्टि से सव पदार्थ अनित्य है। कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थ से सर्वथा सदृश भी नहीं है और सर्वथा विसदृश भी नही। सव पदार्थ सदृश भी है और विसदृश भी है। प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी है। अपने अस्तित्व-घटकों की दृष्टि से सव पदार्थ सत् हैं और

वह अस्तित्व स्व से भिन्न अवयवो से घटित नही है इसलिए सब पदार्थ असत् भी है। कोई भी पदार्थ सर्वथा वाच्य और सर्वथा अवाच्य नही है। एक क्षण मे एक धर्म वाच्य भी है और समग्र धर्मो के दृष्टि से वह अवाच्य भी है।

जो जानता है कि पदार्थ नित्य भी है, वह जीवन और मृत्यु मे सम रहता है। जो जानता है कि पदार्थ अनित्य भी है वह सयोग-वियोग मे सम रहता है।

जो जानता है कि पदार्थ सदृश भी है, वह किसी के प्रति घृणा नही करता। जो जानता है कि पदार्थ विसदृश भी है, वह किसी के प्रति आसक्त नही बनता।

जो जानता है कि प्रत्येक पदार्थ सत् है, वह दूसरे की स्वतत्र सत्ता को अस्वीकार नही करता। जो जानता है कि प्रत्येक पदार्थ असत् भी है, वह किसी को परतत्र करना नही चाहता।

जो जानता है कि प्रत्येक पदार्थ वाच्य भी है, वह सत्य को शब्द के द्वारा सर्वथा अग्राह्य नही मानता। जो जानता है कि पदार्थ अवाच्य भी है, वह किसी एक शब्द को पकडकर आग्रही नहीं बनता।

इस प्रकार जो सत्य को अनेक दृष्टिकोणो से देखता है, वही सही अर्थ मे साम्ययोगी बन सकता है।

● निर्वाण

धर्म की चरम परिणति निर्वाण मे होती है। निर्वाण का अर्थ है—शान्ति—"सति निव्वाणमाहिय"। निर्वाण से पहले आत्मा

शान्ति और अशान्ति के द्वन्द्व मे रहता है। शान्ति का अर्थ है द्वन्द्व का पूर्ण रूपेण शमन। आत्मा अपनी अवस्था मे चैतन्यमय है। वह न शान्त है और न अशान्त। अशान्ति की तुलना मे उसे कहा जाता है, शान्ति। निर्वाण सिद्धि है। निर्वाण होने से पूर्व आत्मोपलब्धि साध्य होता है। आत्मा पूर्ण रूपेण उपलब्ध होते ही साध्य सिद्धि मे परिणत हो जाता है, इसलिए निर्वाण सिद्धि भी है। निर्वाण से पूर्व आत्मा सुख-दुःख के बन्धन से बंधा होता है। वह अपने मौलिक रूप मे आते ही उस बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसलिए निर्वाण मुक्ति भी है। आत्मा का पूर्णोदय है वह निर्वाण है और इसे प्राप्त करने का अधिकार उन सब को है जो इसे पाना चाहते हैं। यह उन्हे कभी प्राप्त नही होता जो इसे पाना नही चाहते।

● युद्ध और निःशस्त्रीकरण

भगवान महावीर अहिंसा के अजस्र स्रोत थे। हिंसा उनके लिये कही भी क्षम्य नही थी। उनकी दुनिया मे शत्रुता, युद्ध और अशान्ति जैसे तत्त्व थे ही नही। उन्होंने कहा—मनुष्य-मनुष्य का शत्रु नही हो सकता। जब कहा जा रहा था—'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जितो वा मोक्ष्यसे महीम्' तब भगवान ने कहा—युद्ध नारकीय जीवन का हेतु है। भगवान ने कहा—आत्मा से लड। बाहरी लडाई से तुझे क्या ?

अध्यात्म जगत् की यही स्थिति है किन्तु सब के सब तो अध्यात्मलीन होते नही। ऐसे व्यक्ति अधिक हैं जो युद्ध, आक्रमण और अधिकार-हरण मे विश्वास करते हैं। आत्मा से लड—यह

उपदेश उनके हृदय का स्पर्श तक नही करता। इस व्यवहार की भूमिका पर चलनेवाले लोगो को भगवान ने सदेश दिया—आक्रान्ता मत बनो। प्रत्याक्रमण भी अहिंसा नही है। वह स्थिति की विवशता ही है।

स्थिति से विवश होकर मनुष्य युद्ध करते है पर अन्ततः वह भयानक मार्ग है। शस्त्र का क्रम यह है कि एक के प्रतिकार मे दूसरा शस्त्र निर्मित होता है। पहले से दूसरा तेज होता है। मनुष्य का श्रेय इसी मे है कि वह शस्त्रपरिज्ञा-निःशस्त्रीकरण करे। शान्ति का मार्ग यही है। मानव-समाज यदि शान्ति चाहता है तो एक दिन यह करना ही होगा।

● आत्मोपलब्धि और वीर-वाणी

आगम भगवान् महावीर की वाणी का महान् सग्रह है किन्तु उनका अवगाहन करना हर व्यक्ति के लिए सरल नही है। अथाह जलराशि मे कोई डुबकी नही ले सकता। सामान्य मनुष्य मोती बाजार मे से ही खरीदता है। जन-साधारण के हित की दृष्टि से महावीर-वाणी के अनेक सकलन हुए हैं—प० बेचरदासजी दोसी का 'महावीर-वाणी,' चौथमलजी महाराज का 'निर्ग्रन्थ प्रवचन', श्रीचन्दजी रामपुरिया का 'तीर्थंकर वर्धमान' आदि-आदि। प्रस्तुत पुस्तक भी उसी शृंखला की एक कडी है।

महावीर की वाणी में अच्छाई है पर वह हमसे भिन्न रहकर हमारी अच्छाई नही बन सकती, वह महावीर की अच्छाई है। हमारी अच्छाई वह अपना अस्तित्व गवाकर ही बन सकती है—

इससे अभिन्न होकर या हमारा आचरण बनकर ही बन सकती है। महावीर ने इसी सत्य को अन्तिम सत्य माना था। उसका नवनीत यह है कि ज्ञान और और आस्था की दूरी मिटती है तो सत्य का दर्शन होता है, वाणी अपने आसन से नीचे उतर आती है। आस्था और आचरण की दूरी मिटती है तो सत्य की उपलब्धि होती है—वाणी उसमे विलीन हो जाती है, फिर उपदेश हमारे लिए दूसरे का वचन नही रहता किन्तु हमारा आत्म-धर्म हो जाता है। उपदेश कोरा-उपदेश रहकर हमारा भला कर ही नही सकता। हमारा भला तभी होता है जब वह हमारा धर्म बन जाता है।

आचार्य श्री तुलसी—जो मेरे आचार्य ही नही, मेरे विद्यागुरु और जीवनमन्त्र के दाता भी हैं—से मुझे यही मन्त्र मिला था कि सत्य तुमसे अभिन्न होकर ही तुम्हारा भला कर सकता है। उससे मैं बहुत लाभान्वित हुआ हूं। मैं जिज्ञासु पाठकों को भी यही परामर्श दूंगा कि वे तट पर खडे-खडे सत्य के अजस्र स्रोत को केवल देखे ही नही किन्तु उससे अभिन्नता स्थापित कर स्वय सत्य रूप बन जायं।

शतावधानी प० धीरजभाई ने जो प्रयत्न किया है, सत्य के महान् उद्बोधन वचनों का जो सग्रह किया है, वह स्वय मे पूर्ण है। विश्वास है कि उससे अनगिन व्यक्तियों को अपनी पूर्णता खोजने का अवसर मिलेगा।

राजसमन्द, १८ फरवरी, १९६३ —मुनि नथमल

भगवान् महावीर

[जीवन-रेखा]

● जन्म और जन्म-स्थान

भगवान् महावीर का जन्म विक्रम सवत् से ५४२ वर्ष पूर्व (ईसवी सन् ५६६ वर्ष पूर्व) भारत के पूर्वी भाग मे स्थित विदेह जनपथ के अन्तर्गत कुण्डग्राम मे चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की मध्यरात्री मे हुआ था।×

भगवान् महावीर विदेह जनपथ मे अवतरित हुए थे, इसका प्रमाण कल्पसूत्र मे आये हुए 'विदेहे' 'विदेहजच्चे' तथा 'विदेहसुकुमाले' इन विशेषणों द्वारा हमे उपलब्ध होता है। दिगम्बर सम्प्रदाय के दशभक्ति, हरिवशपुराण आदि ग्रन्थों मे विदेह जनपथ का स्पष्ट निर्देश किया हुआ है।

× उस समय विदेह जनपथ की सीमा उत्तर में नगाधिराज हिमालय की उपत्यका (नीचे की भूमि) तक, दक्षिण में गङ्गा नदी के किनारे तक, पश्चिम में कोशल, कुशीनारा तथा पावा के राज्यों तक और पूर्व में चम्पारण्य-प्रदेश तक फैली हुई थी। यह प्रदेश, हरे-भरे खेत और छोटे-बडे जलाशयों से अत्यन्त शोभायमान था। साथ ही प्राचीन काल में उत्पन्न अनेक तत्त्वज्ञानी महापुरुषों के कारण तत्त्वज्ञों की भूमि के रूप में प्रख्यात था।

कुण्डग्राम गण्डकी नदी के पूर्वी किनारे पर वसा हुआ था। वह धन्य-धान्य से सुसमृद्ध, राज-मार्ग एव अट्टालिकाओं से अलकृत तथा वन-उपवनों के कारण अनुपम शोभा धारण करता था। यहाँ के निवासियों में अधिकाश भाग ब्राह्मण और क्षत्रियों का था। ब्राह्मण अपने विभाग मे रहते थे, तो क्षत्रिय अपने विभाग मे। ये दोनों क्रमशः 'ब्राह्मण-कुण्ड' और 'क्षत्रिय-कुण्ड' के नाम से सम्बोधित किये जाते थे। भगवान् महावीर का जन्म उक्त क्षत्रिय-कुण्ड के उत्तरी भाग मे हुआ था। *

इन दिनो विदेह जनपथ मे वज्जीओ का गणसत्तात्मक राज्य था और उनकी राजधानी का प्रमुख नगर वैशाली था। वैशाली का वैभव तथा विस्तार वहुत आकर्षक था। कवियों की भाषा मे कहा जाय तो वह लिच्छवि क्षत्रियों की अमर नगरी—स्वर्गपुरी थी। यह कुण्ड-ग्राम से कुछ ही मील की दूरी पर गण्डकी नदी के पूर्वी किनारे वसी हुई थी। °

गण्डकी नदी के पश्चिम की ओर कूर्मारग्राम, कोल्लाग-सनिवेश, वाणिज्यग्राम आदि कुछ-कुछ मीलों के अन्तर मे वसे हुए थे। तथा

---

* आचारांगसूत्र।

° पटना से सत्ताइस मील की दूरी पर मुजफ्फरपुर जिले में वसा हुआ वसाढ नामक स्थान ही प्राचीन वैशाली का स्थान है, ऐसा पुरातत्त्वविदों का कथन है। इस वस्तु की ओर सव से पहला ध्यान डा० कनिंगहाम का गया था।

इन सब का दैनिक व्यवहार वैशाली और कुण्डग्राम के साथ प्रचुर-मात्रा मे था।

● माता-पिता आदि

भगवान् महावीर का जन्म एक सुसस्कृत, धार्मिक राज-परिवार मे हुआ था। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। ये तेवीसवे तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के श्रावक-श्राविका थे।

सिद्धार्थ ज्ञातवशीय क्षत्रिय थे, इनका गोत्र काश्यप था और वह शूर-वीरता, उदारता आदि गुणो के कारण बहुत ही लोकप्रिय बन-गया था। जनता उन्हे 'श्रेयाँस' अथवा 'यशस्वी' भी कहती थी। वे अपने गण-समुदाय पर स्वामित्व रखनेवाले राजा थे।

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वज्जी गणसतात्मक-तन्त्र मे अनेक छोटे-बडे राजा जुड़े हुए थे। बौद्धग्रन्थ, 'जातक अट्ठ-कथा' के अनुसार उन राजाओ की सख्या ७७०७ थी। परन्तु इतनी बडी सख्यावाले नृपति एक साथ मिलकर देश का कार्यभार सचालन नही कर सकते, इसलिये उनमे से कुछ व्यक्तियो का कार्य-भार के लिये विशेष रूप से चयन कर लिया गया था। वे समय-समय पर वैशाली के सघागार नामक राजभवन मे एकत्र होकर राज-कीय एवं सामाजिक कार्य-प्रणालियो के सम्बन्ध मे चर्चा-विचारणा करते थे तथा अन्त मे आवश्यक निर्णय लिये जाते थे। इन निर्णयो के

अनुसार ही विदेह का शासन चलता था। संघागार मे किये गये निर्णयो का व्यवस्थित रूप से पालन हों, एतदर्थ देखरेख करने तथा अन्य आवश्यक कार्यकलाप की व्यवस्था करने के लिये उपयुक्त राजाओं मे से आठ व्यक्तियो की एक समिति निर्मित थी और उनमे शुद्ध आर्यवशी के रूप मे सम्मानित कुलीन राजाओ को प्रतिनिधित्व दिया गया था। *

ज्ञातृवश इक्ष्वाकु वश की एक शाखा के रूप मे था×। अतः उसकी गणना शुद्ध आर्यकुल मे की जाती थी। सिद्धार्थ राजा उनके प्रतिनिधि के रूप मे वज्जियों के सघ मे सब से ऊँची समिति मे विराजमान थे। यही कारण था कि विदेह के क्षत्रिय समाज मे उनकी प्रतिष्ठा बहुत ही स्थिर बनी हुई थी।

उस समय वज्जियों की गणसत्ता का अधिनायक चेटकराज था। वह वासिष्ठगोत्र का लिच्छवि क्षत्रिय था और अपने पराक्रम तथा कुलाभिमान मे लिप्त था। उसने अपनी विद्याप्रिय एव धर्मनिष्ठा भगिनी त्रिशला का विवाह सिद्धार्थ राजा के साथ किया था। इस

---

* प्रज्ञापना और स्थानांगसूत्र में—उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, ज्ञात और कौरव इन छ वशों की गणना शुद्ध आर्यवशों में की गयी है। मिश्रबन्धुओं ने इनके नाम इस रूप में गिनाये हैं :—(१) विदेह, (२) लिच्छवि, (३) ज्ञात्रिक, (४) वज्जी, (५) उग्र, (६) भोग, (७) इक्ष्वाकु, (८) कौरव।

× 'श्रीतत्वार्थसूत्र' की कारिका में, 'आवश्यकचूर्णि' में तथा 'कल्पसूत्र' की 'सन्देहविषौषधि' वृत्ति में यह स्पष्टता की गई है।

प्रकार दो महान् क्षत्रिय कुलो का समिलन हुआ था और वह विदेह के इतिहास मे अमर गाथा प्रसृत करने मे सफल रहा ।

भगवान् महावीर के नन्दिवर्धन नामक एक वड़े भाई थे और सुदर्शना नामवाली एक बडी बहन थी । ये अपने माता-पिता की तृतीय एवं अन्तिम सन्तान थे ।

● नाम-करण

भगवान् महावीर का मूल नाम वर्धमान था । ये माता के गर्भ मे आये तभी से सिद्धार्थ राजा के ऐश्वर्य तथा स्नेह-सत्कार आदि मे क्रमशः वृद्धि हुई । यही कारण था कि इनका ऐसा गुणनिष्पन्न नाम रखा गया । इन्होने अग्रिम जीवन मे योगसाधना के अवसर पर परीषह आदि के जीतने मे पर्याप्त वीरता दिखलाई, जिससे जनता मे इनको 'महावीर' के रूप मे प्रसिद्धि हुई । धीरे-धीरे यही नाम लोक-जिह्वा पर आरूढ होकर स्थिर बन गया ।

ये ज्ञातवश में आविर्भूत हुए थे, अतः 'ज्ञातपुत्र' (नायपुत्त अथवा नात्तपुत्त) कहलाते थे तथा काश्यप वश मे होने से 'काश्यप' नाम से भी प्रसिद्ध थे । इसी प्रकार वैशाली के विशेष सम्पर्क मे रहने से 'वैशा-लिक' भी कहे जाते थे । श्रमणकुल मे श्रेष्ठ होने के कारण कुछ लोग 'श्रमण भगवान् महावीर' इस रूप मे भी सम्बोधित करते थे । दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्य के अनुसार इनका एक नाम 'सन्मति' भी था ।

● वाल एवं कुमार-जीवन

भगवान् महावीर का बाल एवं कुमार-जीवन वैभव से परिपूर्ण राज-प्रासाद मे व्यतीत हुआ था ।

कल्पसूत्र मे इनके लिये—'दक्खे, दक्खपइन्ने, पडिरूवे, आलीणे, भद्दए तथा विणीए'—इन छः विशेषणो का उपयोग हुआ है। इन विशेषणो के द्वारा इनके स्वभावादि के सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश प्राप्त होता है।

ये 'दक्ष' थे, अर्थात् सर्व कलाओ मे कुशल थे। ये 'दक्ष-प्रतिज्ञ' थे अर्थात् की गई प्रतिज्ञा का पालन पूर्णरूपेण करते थे। 'प्रतिरूप' थे अर्थात् आदर्श रूपवान् थे। 'आलीन' थे अर्थात् कछुए के समान अपनेआप मे गुप्त थे। 'भद्रक' थे अर्थात् शुभ लक्षणो से विभूषित थे। और 'विनीत' थे अर्थात् माता, पिता एव गुरुजनों के प्रति विनयशाली थे।

ये बाल्यकाल से ही वडे निर्भीक थे। एक बार ये अपने समवयस्क मित्रो के साथ क्रीडा कर रहे थे। उस समय किसी वृक्ष की जड से एक भयंकर सर्प निकला। उसे देखकर सभी कुमार भयभीत होकर भाग गये; किन्तु ये अपने स्थान से तनिक भी विचलित नही हुए। इतना ही नही अपितु ये सर्प के निकट गये और उसे धीरे से उठाकर दूर रख दिया। अनन्तर सभी कुमार वापस लौट आये और उन्होने पूर्ववत् खेल आरम्भ किया।

इनका शरीर अनुपम कान्ति से युक्त और अत्यन्त सुदृढ था।

तीर्थङ्कर की आत्माएं अनादिकाल से संसार मे परोपकारी स्वभाववाली, स्वार्थ को प्रधान न माननेवाली, सर्वत्र समुचित क्रिया का आचरण करनेवाली, दीनतारहित, सफल कार्यो को ही करनेवाली,

अपकारी जनो के प्रति भी अत्यन्त क्रोध न करनेवाली, कृतज्ञतागुण की स्वामिनी, दुष्ट वृत्तियो द्वारा अदमनीय चित्तवाली, देव तथा गुरु का बहुमान करनेवाली और गम्भीर आशय से परिपूर्ण होती हैं। उनका सहज तथाभव्यत्व तदनुकूल सामग्री के सयोग से जैसे-जैसे परिपक्व होता रहता है, वैसे ही उनकी उत्तमता बाहर प्रकट होती रहती है।* इस प्रकार भगवान् महावीर मे ये सभी गुण उत्कृष्ट रूप में विकसित हुए थे ; ऐसा माने तो कोई अनुचित न होगा।

● शिल्पशाला में

उस समय विदेह मे क्षत्रिय-कुमारो को शिक्षण देने के लिये विशिष्ट शिल्पशालाएं थी।× उनमे क्षत्रिय कुमारो को अक्षरज्ञान, व्यवहारोपयोगी गणित तथा अनेक प्रकार की कलाएं सिखाई जाती थी और युद्धविद्या के सिद्धान्त तथा प्रयोगो का ज्ञान, एव धनुर्विद्या की उच्चकोटि की शिक्षा भी दी जाती थी। फलतः क्षत्रियकुमार युद्ध मे अति निपुण होते थे और अक्षणवेधी तथा बालवेधी बनते थे, अर्थात् क्षण मात्र मे किसी भी वस्तु का वेध कर सकते थे और केश जैसे सूक्ष्म वस्तु पर भी लक्ष्यसन्धान करने मे सफलता पाते थे।

क्षत्रियो की अधिक बस्ती होने के कारण क्षत्रियकुण्ड मे ऐसी एक शिल्पशाला थी और वह वहाँ के क्षत्रियकुमारो को उपयुक्त सभी प्रकारो की शिक्षा देती थी। भगवान् महावीर को आठ वर्ष की आयु में इस शिल्पशाला मे प्रविष्ट किया गया, किन्तु वहाँ उनका मन

---

* श्रीहरिभद्रसूरि कृत 'ललितविस्तरा' 'चैत्यवन्दनवृत्ति'।

× बौद्धग्रन्थ ओपम्मसंयुत की अट्ठकथा।

नही लगा। जिसका मन आध्यात्मिक प्रवृत्ति में लगा हो, अहिंसा-वृति से परिपूर्ण हो, उसे युद्धविद्या अथवा धनुर्विद्या जैसी हिंसक विद्या मे रस कहाँ से प्राप्त हो? शिल्पशाला के आचार्य ने उनके मन मे इस प्रकार की अभिरुचि जगाने का पूर्ण प्रयत्न किया, तव उनमें परस्पर जो वार्तालाप हुआ, वह वहुत ही सूचक था। आखिर शिल्पशाला के आचार्य ने सिद्धार्थ राजा को वतलाया कि राजकुमार बुद्धि-प्रतिभापूर्ण है, किन्तु उन्हे यहाँ दी जानेवाली शिक्षा के प्रति तनिक भी अभिरुचि नही है। अत॰ इन्हे राजमहल मे ही रखें और यथेच्छ प्रवृति करने दें। सिद्धार्थ राजा ने शिल्पशाला के आचार्य की सम्मति के अनुसार कार्य किया और तव से वर्धमान कुमार राजमहल मे यथेच्छ विहार करने लगे।

● वैवाहिक जीवन

भगवान् महावीर ने युवावस्था मे प्रवेश किया, तव उनके अन्तर मे जन्मसिद्ध वैराग्य की वल्लरी अंकुरित हो रही थी, इसी से उनकी अभिरुचि विवाहित होने को नहीं थी, किन्तु माता के आग्रहवश उन्होंने समरवीर नामक एक महा सामन्त की पुत्री यशोदा के साथ विवाह किया। कालक्रम से उन्हे एक पुत्रीरत्न की प्राप्ति हुई और उसका नाम 'प्रियदर्शना' रखा गया।

पुत्री प्रियदर्शना का विवाह, वड़ी होने पर, उसी नगर मे 'जमाली' नामक क्षत्रियकुमार के साथ हुआ जो कि भगवान की वहन सुदर्शना का पुत्र था।

उस समय कुछ क्षत्रियकुल मामा को पुत्री को गम्य मानकर उसके साथ विवाह करते थे। ज्ञातकुल भी उनमे से एक था। भगवान के ज्येष्ठ भ्राता श्री नन्दिवर्धन ने भी अपने मामा चेटक को पुत्री 'ज्येष्ठा' के साथ विवाह किया था।

प्रियदर्शना को जन्म देने के कुछ समय पश्चात् यशोदादेवी का स्वर्गवास हुआ अथवा दीर्घकाल तक जीवित रही, यह कहा नही जा सकता; क्योकि आगे उनके सम्बन्ध मे कोई उल्लेख प्राप्त नही होता।

दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर ने अखण्ड कौमारव्रत का पालन किया था। विवाह करने के लिये सम्बन्धी जनो का बहुत आग्रह होने पर भी उन्होने विवाह करना कथमपि स्वीकार नही किया था।

● संसार का त्याग

भोगमार्ग त्याग कर योगमार्ग ग्रहण करने की तथा उसके निमित्त ससार-त्याग करने की भावना तो भगवान् महावीर के दिल मे दीर्घ-काल से ही थी, किन्तु इस ओर कदम रखने से माता-पिता के वात्सल्यपूर्ण कोमल हृदय को गहरी चोट पहुंचेगी, ऐसा समझकर वे मौन बैठे थे।

उनकी इस चिर-अभिलषित आकांक्षा को मूर्त रूप देने का अवसर अट्ठाइस वर्ष की आयु मे उपस्थित हुआ, क्योंकि उनके माता-पिता दोनो ही स्वर्ग सिधार गये। किन्तु इस सम्बन्ध मे स्थानो

की अनुमति लेते समय वातावरण हृदयद्रावक बन गया। नन्दिवर्धन गद्गद् होकर कहने लगे कि—'माता-पिता का दारुण वियोग तो अभी ताजा ही है, ऐसी स्थिति मे तुम हमे छोड़कर जाने की बात क्यो करते हो ? तुम्हारे वियोग का दुःख हमसे किंचित् भी सहन नहीं हो सकेगा। कम से कम दो वर्ष तो हमारे साथ रहो, फिर तुम्हे जैसा योग्य प्रतीत हो वैसा करना।'

भगवान् का हृदय इस समय वैराग्य से परिपूर्ण होने पर भी उन्होने बडों का सम्मान रखा और दो वर्ष रुकने का निर्णय किया, किन्तु अपना जीवन तो उसी दिन से एक त्यागी के अनुरूप बना लिया।

बारह मास के अनन्तर उन्होने अपना सारा परिग्रह न्यून करना आरम्भ किया तथा दीन-दुखियों को एवं आवश्यकता वाले व्यक्तियों को अपने हाथों से सभी वस्तुएं बाँट दी और कुटुम्बिजनो को देने योग्य जो वस्तुएं थी, वे उन्हे वितरित कर दी। *

तीस वर्ष की अवस्था मे भगवान् ने ससार का त्याग किया और योगमार्ग ग्रहण किया। यह दिन मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी का था। ○

---

* कल्पसूत्र में "दाणं दायारेहिं परिभाइत्ता, दाणं दाइयाणं परिभाइत्ता" इन शब्दों के द्वारा ये बात कही गयी है।

○ गुजराती लिपि के अनुसार इसे कार्तिक वदी १० का दिन माना जाता है।

● योग-साधना

बिना योग-मार्ग के आत्मशुद्धि, आत्मा का साक्षात्कार, मुक्ति अथवा निर्वाण नही होता—ऐसा मानकर भगवान् महावीर ने योग-मार्ग ग्रहण किया था।

भोग और ऐश्वर्य का परित्याग किये बिना योग-दीक्षा सम्भव नही, अतः भगवान् ने सभी प्रकार की भोग-लालसाएँ छोड दी थी और सारे ऐश्वर्य का त्याग करके एक निर्ग्रन्थ अर्थात् श्रमण की वृत्ति ग्रहण कर ली थी।

जब तक पापकारिणी प्रवृत्तियो पर पूर्णरूप से प्रतिबन्ध नहीं रखा जाय, तब तक आत्मा पवित्र, शुद्ध, स्वच्छ बन नही सकती, इसलिये योगदीक्षा ग्रहण करते समय सर्वविध पापकारिणी प्रवृत्तियो (सावद्ययोग) का मन, वचन और काया से परित्याग किया था।

योग की साधना यम-पूर्वक ही सिद्ध होती है, अतएव उन्होने योगसाधना के प्रारम्भ मे ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—ये पाँच यम (महाव्रत) धारण किये थे और अप्रमत्तभाव से इनका पालन करते थे।

यमो के साथ कुछ नियमो की भी आवश्यकता रहती है। यही कारण था कि भगवान् ने रात्रि-भोजन-त्याग आदि कुछ नियम स्वीकृत किये थे और आवश्यकता अनुसार उनमे परिवर्धन भी किया था। उदाहरण के रूप मे किसी तपस्वी के आश्रम मे कुछ कटु अनुभव होने पर उन्होंने निम्नलिखित पाँच नियम धारण कर लिये थे :—(१) अप्रीति हो ऐसे स्थान मे नही रहना, (२) यथासम्भव ध्यान मे

रहना, (३) जहाँ तक हो मौन रहना, (४) भोजन किसी पात्र की अपेक्षा हाथ से ही करना और (५) गृहस्थ से अनुनय-विनय नही करना।

भगवान् दक्षप्रतिज्ञ थे, अतः उन्होंने इन नियमों का पूर्णतया पालन किया।

योग तो अभ्यास से ही सिद्ध होता है। यह मानकर वे योगाभ्यास मे दत्तचित्त रहते थे और क्रमशः उसकी प्रक्रियाएं सिद्ध करते थे। भगवान् की यह धारणा थी कि आसनसिद्धि के विना काययोग मे स्थिरता होना कठिन है। तथा शीत, आतप, वायु, कुहासा एव अनेकविध जन्तुओ के द्वारा उत्पन्न उपद्रव की परिस्थिति मे निश्चिन्त रहने के लिये भी आसनसिद्धि की पूर्ण उपादेयता है, इस कारण भगवान् ने सर्वप्रथम लक्ष्य आसन-सिद्धि की ओर किया था तथा कुछ आसन भी सिद्ध कर लिये थे। इस सम्बन्ध मे 'आचाराग सूत्र' मे लिखा है कि 'भगवान् चञ्चलता से रहित अवस्था मे रहकर अनेक प्रकार के आसनों मे स्थिर होकर ध्यान करते थे और समाधिदक्ष तथा आकाक्षा-विहीन हो ऊर्ध्व, अध , एव तिर्यग् लोक का विचार करते थे।'

'श्री उत्तराध्ययनसूत्र' के तीसवें अध्ययन में कहा है—'वीरासन आदि आसन जीव के द्वारा सुख-पूर्वक किये जा सके, ऐसे हैं। और वे जब उग्र रूप मे धारण किये जायं तो कायक्लेश नाम का तप माना जाता है।'*

---

* ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति, कायकिलेस तमाहिय ॥२७॥

इससे विदित होता है कि भगवान् वीरासन, पद्मासन, उत्कटिकासन, गोदोहिकासन प्रभृति सरल आसनो को अधिक प्रिय मानते थे और उनमे दीर्घकाल तक स्थिर रहते थे।

भगवान् अनेक वार कायोत्सर्गासन मे भी रहते थे। उस समय दोनो पाँव सीधे खडे रख कर, आगे के भाग मे चार अंगुल जितना और पीछे के भाग मे कुछ थोडा अन्तर रखते थे तथा अपने दोनो हाथो को इक्षुदण्ड के समान सीधे लटकते हुए रखते थे।

निर्ग्रन्थ मुनिगण भगवान के पदचिह्नो पर चलते हुए भिन्न-भिन्न आसनो को सिद्ध करते थे, इसका प्रमाण बौद्धग्रन्थो मे भी मिलता है।

भगवान् श्वास-निरोधरूप प्राणायाम की क्रिया को विशेष महत्त्व नही देते थे। वे ऐसा मानते थे कि प्राणवायु के निग्रह से कदर्थना-प्राप्त मन शीघ्र स्वस्थ नही होता। किन्तु वे भाव-प्राणायाम को अवश्य महत्त्व देते थे, जिसमे बहिरात्मभाव का रेचक, अन्तरात्मभाव का पूरक एव स्थिरता रूप कुम्भक, ये तीन प्रक्रियाएं मुख्य थी।*

पाँचो इन्द्रियो के विषय से मन को खीच लेना और अपनी इच्छा हो वहाँ स्थापित करना, प्रत्याहार की क्रिया कहलाती है। साधारण मनुष्य के लिये यह क्रिया अत्यन्त कठिन है, क्योकि उसका मन बलगम पर मक्खी के चिपट जाने की तरह इन्द्रियोके विषयमे लिप्त

---

* श्री हरिभद्रसूरिजी ने 'योगदृष्टि-समुच्चय' की चौथी दृष्टि में उक्त भाव-प्राणायाम का वर्णन किया है।

रहता है तथा उससे किसी भी प्रकार पृथक् नही होता। परन्तु भगवान का मन सवृत्त था और उन्हे पुद्गलों की सङ्गति तनिक भी प्रिय नही थी। अतएव उक्त क्रिया गोप्रता से सिद्ध हो गयी। 'आचाराङ्गसूत्र' मे कहा है—'वे भगवान् कषाय-रहित, लोभ-रहित, शब्द और रूप मे मूर्च्छारहित तथा साधक-दशा मे पराक्रम करते हुए स्वल्पमात्र भी प्रमाद नहीं करते थे। वे स्वानुभूतिपूर्वक ससार के स्वरूप को समझकर आत्मशुद्धि के कार्य मे सावधान रहते थे।'

भगवान् ने इतना योगाभ्यास कर लेने के पश्चात् धारणा सिद्ध करने का प्रयास किया था और तदर्थ भद्रा, महाभद्रा एवं सर्वतोभद्रा नामक प्रतिमाएं अङ्गीकृत की थी। भद्राप्रतिमा की विधि इस प्रकार है कि—दो दिन का निराहार उपवास ग्रहण करके प्रातःकाल मे पूर्वाभिमुख होकर किसी एक पदार्थ पर ही दृष्टि केन्द्रित करना। तदनन्तर रात्रि होने पर दक्षिण दिशा की ओर मुँह करके उपर्युक्त रीति से ही किसी अन्य पदार्थ पर दृष्टि स्थिर करना। दूसरे दिन प्रातःकाल होने पर पश्चिम दिशा की ओर तथा सायं होने पर उत्तर दिशा की ओर मुँह रखकर ऊपर कहे अनुसार किसी भी वस्तु पर दृष्टि केन्द्रित करना। तात्पर्य यह है कि इसमे लगातार बारह घण्टे तक एक पदार्थ पर धारणा की जाती है तथा यह प्रयोग अड़तालीस घण्टों तक चालू रखना होता है। हम एक वस्तु पर अधिक से अधिक कितने समय तक दृष्टि स्थिर रख सकते हैं, इसका विचार करें तो इस धारणा का महत्त्व समझ मे आ

सकता है। भगवान् ने यह प्रयोग लगभग दस वर्ष के योगाभ्यास के अनन्तर श्रावस्ती नगरी की एक ओर बसे हुए 'सानुयष्टिक' नामवाले गाव में किया था* और इसमे सफलता प्राप्त की थी।

महाभद्र-प्रतिमा मे एक दिशा की ओर चौबीस घण्टे तक रहना पडता है तथा उतने ही समय तक किसी भी एक पदार्थ पर दृष्टि स्थिर की जाती है। छियानवे घण्टे के निराहार उपवासपूर्वक यह प्रतिमा पूर्ण होती है। भगवान् इस क्रिया मे भी सफल सिद्ध हुए।

सर्वतोभद्र-प्रतिमा की विधि तो अत्यन्त ही कठिन है। इसमे चार दिशाएं, चार विदिशाएं, ऊर्ध्वदिशा एव अधोदिशा—इस प्रकार कुल दस दिशाओ मे एक-एक अहोरात्र तक दृष्टि स्थिर रखनी पडती है और दसों दिन तक निराहार उपवास किये जाते हैं। भगवान् ने इसमे भी विजय प्राप्त की थी।

अप्रमत्त-भाव से रहना यह उनका मुख्य सिद्धान्त था, अतः वे प्रमाद नही आ जावे इस सम्बन्ध मे बडी सावधानी रखते थे। निद्रा को भी वे योग-साधना मे बाधक मानते थे, इसलिये निद्रा-सेवन नही करते थे। आचारागसूत्र मे कहा है—'भगवान् किसी-किसी समय उत्कट आसनादि मे स्थिर रहते, किन्तु निद्रा की इच्छा से नही। कदाचित् निद्रा आने जैसा लगता तो ससारवर्धक प्रमाद मानकर उठ जाते और उसे दूर कर देते। आवश्यकतानुसार शीतकाल

---

* श्री हेमचन्द्राचार्य ने 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्र' में यह नाम दिया है।

की रात्रि मे वाहर जाकर मुहूर्त तक भी ध्यान करते।' निद्रा को दूर रखने के लिये उनका यह मुख्य प्रयोग था।

भगवान् अपने मन को निष्क्रिय नही रखते थे। कभी उसे अनुप्रेक्षा अर्थात् तत्त्वचिन्तन मे लगाते अथवा कभी उसे धर्मध्यान में सलग्न करते। धारणा सिद्ध हो जाने से उनके धर्मध्यान मे बहुत ही स्थिरता एव उज्ज्वलता आ गई थी। फिर तो वे आत्मा के शुद्धोपयोगरूप शुक्लध्यान धारण करने मे पूर्णरूपेण सफल हो गये थे।

शुक्लध्यान की द्वितीय भूमिका मे श्रुत-ज्ञान का आलम्बन प्राप्त करते हुए द्रव्य के एक ही पर्याय का अभेद-चिन्तन होता है और इसी भूमिका मे मन की समस्त वृत्तियों का लय होने पर केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। उस केवलज्ञान के द्वारा आत्मा भूत, भविष्य तथा वर्तमान काल की सभी वस्तुओं के सभी पर्यायों को जान सकती है—देख सकती है, अर्थात् सर्वज्ञ की कोटि में विराजमान हो जाती है।

भगवान् महावीर जृम्भिक गाँव के वाहर ऋजुवालिका नदी के उत्तरी भाग मे स्थित किसी देवालय के निकट, श्यामाक नामवाले गृहस्थ के खेत मे, शालवृक्ष के नीचे, उत्कटिकासन से बैठकर, दो उपवास की तपश्चर्या पूर्वक ध्यानावस्थित हुए थे, तव वे इस शुक्लध्यान की दूसरी भूमिका पर पहुँचे और उनको केवलज्ञान प्राप्त हुआ। यह शुभदिन वैशाख शुक्ला दशमी का था और केवलज्ञान प्राप्ति का समय दिन का चतुर्थ प्रहर था।

चित्त की चञ्चलता सर्वथा नष्ट होने पर समाहित अवस्था की प्राप्ति होती है और वह अलौकिक आनन्द का अनुभव करवाती है। इस प्रकार भगवान् महावीर को अब सच्चिदानन्द अथवा आनन्दघन अवस्था प्राप्त हो गई थी और वह जीवन के अन्तिम समय तक स्थिर रही थी।

इतना स्मरण रहे कि भगवान् एक महान् राजयोगी थे और उन्होंने उत्तरकाल मे अपने शिष्यो को भी राजयोग की ही दीक्षा दी थी।

सामान्यतः योगदीक्षा किसी गुरु से ली जाती है और साधक को गुरु के मार्गदर्शन की पद्धति पर ही आगे बढना पडता है, किन्तु भगवान् महावीर ने योगदीक्षा स्वय ली थी और वे अपने अनुभव के आधार पर ही आगे बढ़कर केवलज्ञान की प्राप्ति तक पहुँचे थे। जैन शास्त्रकारो ने उनको 'स्वयसम्बुद्ध' कहा है, इसका यही कारण है।

भगवान् ने सर्वविध भय जीत लिये थे तथा मृत्युभय पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। साथ ही उन्होने आन्तरिक काम-क्रोधादि सभी शत्रुओ पर विजय प्राप्त की थी, इसलिये उनकी गणना 'जिन' मे की जाती थी।

उत्कृष्ट योग-साधना, उग्र तपश्चर्या, विशुद्ध जीवन और जहाँ जाएं वही मङ्गल-प्रवर्तन होने से वे सभी के पूजनीय बन गये थे और यही कारण था कि वे 'अर्हत्' के अति माननीय विशेषण से सम्बोधित किये जाते थे।

योग-साधना करते समय भगवान को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ

प्राप्त हुई थी, किन्तु उनका उपयोग उन्होंने अपने स्वार्थ के लिये अथवा जगत् को प्रभावित करने के लिये नही किया था।

श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने 'ध्यानशतक' के प्रारम्भ मे भगवान् महावीर की वन्दना योगीश्वर के रूप मे की है। इससे मालूम होता है कि भगवान् महावीर परम योगविशारद थे और योग की समस्त क्रियाओं को भली प्रकार से जानते थे।

● दृढता की वास्तविक कसौटी

भगवान् महावीर ने साढे बारह वर्ष से कुछ अधिक समय मे योग-साधना पूरी की थी। इस योग-साधना-काल मे उन्हे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पडा था। दूसरे शब्दों मे कहा जाय तो यह समय उनकी दृढता की वास्तविक कसौटी का समय था, किन्तु वे अपने ध्येय से रचमात्र भी विचलित नही हुए थे।

वे जगत् के प्राणीमात्र को अपना मित्र मानते थे, इसलिये कदापि किसी का अनिष्ट-चिन्तन नही करते थे। एक बार एक भयकर दृष्टिविष सर्प ने उनके दाएं पैर मे काट लिया, तब भगवान् ने 'हे चण्डकौशिक! बुज्झ बुज्झ' ये शब्द कहकर उसके कल्याण की कामना की और उसका उद्धार किया। एक बार किसी आरक्षी विभाग के अधिकारी (कोतवाल) ने उनको परराज्य का गुप्तचर मानकर उनके मुख से सच्ची बात (वास्तविक रहस्य) कहलवाने के लिये उन्हें रस्सी से कसकर बाँध दिया था और कुंए मे उतार कर डुबकियाँ लगवाने की तैयारी की थी तथापि भगवान् ने उसका कोई प्रतिकार नही किया, इतना ही नही मन से भी उसका अनिष्ट

नही चाहा। उन्होंने अभूतपूर्व दैवी उपसर्गो मे भी धैर्य का अवलम्बन किया और 'मित्ती मे सव्वभूएसू—सभी प्राणियो के साथ मेरी मैत्री हो', इस भावना का ही दृढता से रटन किया।

भगवान् को सर्वाधिक कष्ट राढ के जंगली प्रदेश मे हुआ*। इस प्रदेश के वज्रभूमि और शुद्धभूमि ऐसे दो विभाग थे। इन मे वज्र भूमि के लोग अत्यन्त क्रूर और निर्दयी थे। वे इन्हे मारते-पीटते और कुत्तो द्वारा कटवाते। कई वार तो वे भगवान् के शरीर पर शस्त्रो द्वारा प्रहार भी करते और उनके सिर पर धूल वरसाते। कई वार भगवान् को ऊपर से नीचे गिराते तथा आसन से हटा देते। इस प्रदेश मे कुछ भाग तो ऐसा था कि जहाँ एक भी गाँव नही था और न मनुष्य की वस्ती थी। परन्तु भगवान् ने इस प्रदेश मे रह कर भी अपनी योग-सावना आगे वढाई थी तथा एक साधक चाहे तो किस सीमा तक अपनी सहन-शक्ति स्थिर रख सकता है, इसका एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया था।

● साधना-काल की विहार-भूमि

भगवान् चातुर्मास के चार महीनो मे एक स्थान पर स्थिर रहते थे और अवशिष्ट आठ महीनो मे पृथक्-पृथक् स्थानो पर विचरण करते थे। उन्होने साधना-काल मे विदेह, बंग, मगध और काशी-कौशल आदि जनपदो मे ही विहार किया था, यह साधना-काल के निम्नलिखित चातुर्मासो नामावली से ज्ञात होता है :—

---

* यह प्रदेश विदेह की पूर्वी सीमा पर था।

पहला चातुर्मास—मोराक सन्निवेश के निकट तापसों के आश्रम में तथा अस्थिक ग्राम में।

दूसरा चातुर्मास—राजगृह नगर से बाहर नालन्दा आवास मे एक तन्तुवाय की शाला (वस्त्र बुनने के कारखाने) मे।

तीसरा चातुर्मास—अङ्गदेश की राजधानी चम्पा नगरी मे।

चौथा चातुर्मास—पृष्ठचम्पा नगरी मे।

पाँचवाँ चातुर्मास—भद्दिलपुर में।

छठा चातुर्मास—भद्रिकापुरी मे।

सातवाँ चातुर्मास—आलभिका नगरी मे।

आठवाँ चातुर्मास—राजगृह मे।

नौवाँ चातुर्मास—राढ के जङ्गली प्रदेश मे।

दसवाँ चातुर्मास—श्रावस्ती नगरी मे।

ग्यारहवाँ चातुर्मास—वैशाली मे।

बारहवाँ चातुर्मास—चम्पानगरी मे।

● लोकोद्धार

बहुत से योगी कैवल्य-प्राप्ति के अनन्तर स्वात्मानन्द में ही मस्त रहते हैं और दुनिया की किसी भी प्रवृत्ति मे रस नही लेते, किन्तु भगवान् महावीर ने कैवल्यप्राप्ति हो जाने के बाद लोकोद्धार का कार्य अपने हाथ मे लिया और यही इनके जीवन की असाधारण महत्ता थी।

इन्होंने लोगों को न्याय-नीति-परायण बनाने के लिये, सदाचार

मे स्थिर करने के लिये तथा धर्मप्रिय और तत्त्वनिष्ठ बनाने के लिये प्रवचन आरम्भ किये। इन प्रवचनो से असाधारण सफलता मिली, जिनके तीन कारण हमे निम्नरूप मे विदित होते है :—

१—उस समय के धर्मोपदेशक अधिकाश मे संस्कृत भाषा का आश्रय लेते थे, जिससे उच्च वर्ग के मनुष्य-लाभान्वित हो सकते थे। परन्तु भगवान् ने अपने प्रवचन लोकभाषा मे आरम्भ किये। लोक-भाषा अर्थात् अर्धमागधी भाषा। उस समय मगध और उसके आस-पास के प्रदेश मे यह भाषा बोली जाती थी और इसमे अन्य प्रान्तीय भाषाओ के बहुत से शब्द होने से भारत के सभी मनुष्य इसे अच्छी तरह समझ सकते थे। आज भारत मे जो स्थान हिन्दी भाषा का है, वही स्थान उस समय अर्धमागधी का था।

२—उस समय धर्मोपदेशको ने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन वर्णो को ही धर्मोपदेश सुनने का अधिकारी माना था। शूद्रो को धार्मिक उपदेश नही सुनाना, यह उनका दृढ निर्णय था, इतना ही नही, अपितु यदि कोई शूद्र भूले-भटके लुक-छिपकर धर्मोपदेश सुन जाए तो उसे कठोर दण्ड देना तथा उसके कानों मे शीशा अथवा लाख गरम करके भर देना ऐसी योजना उन्होने गढ रखी थी। इस योजना को कही-कही कार्यान्वित भी किया जाता था। परन्तु भगवान् महावीर ने अपनी धर्म-सभा अथवा व्याख्यान-परिषद् के द्वार देश, वर्ण, जाति और लिंगभेद के बिना सब के लिये खुले कर दिये थे। फलतः सारी प्रजा ने इसका पूर्ण लाभ लिया।

३—उस समय के धर्मोपदेशक तत्त्वज्ञान के नाम पर अनेक

अटपटी बातें किया करते थे, परन्तु भगवान् महावीर ने जीवन के परम सत्य बहुत ही स्वाभाविक एव सरल भापा मे प्रस्तुत किये ।

धर्म जीवन का आवश्यक अङ्ग है, यह बात भगवान् महावीर ने अनेक उदाहरण और तर्कों द्वारा उचित रीति से समझाई और उसकी परीक्षा करने की सप्रमाण विधि भी बतलाई ।

भगवान् ने कहा कि 'जहाँ अहिसा हो, प्राणि-मात्र के प्रति दया अथवा प्रेम की भावना हो, वही धर्म है ऐसा समझना चाहिये, हिंसा मे धर्म होना असम्भव है ।'

उन्होंने कहा कि 'जहाँ सयम, सदाचार और शील की सुगन्ध हो, वही धर्म है, ऐसा समझना चाहिये । असंयम, दुराचार अथवा कुशील हो वहाँ धर्म होना असम्भव है ।'

उन्होने यह भी कहा कि 'जहाँ ज्ञान-पूर्वक तप किया गया हो, इच्छाओं का दमन किया गया हो तथा तृष्णाओं का त्याग किया गया हो, वही धर्म है, ऐसा समझना चाहिये, भोगलालसा, विविध इच्छाओं की पूर्ति अथवा तृष्णाओ के ताण्डव मे धर्म होना असम्भव है ।'

उनके इन उपदेशों का प्रभाव अत्यन्त आश्चर्यजनक हुआ । (१) हिंसक प्रवृत्तिवाले यज्ञ-यागादि कम हो गये और पशुबलि भी अधिकांश मे बन्द हो गई । (२) जीवन के सामान्य व्यवहार में भी अहिंसा का उपयोग होने लगा और पशु-पक्षियो के प्रति दया की भावना विकसित हुई । (३) स्वेच्छाचार-दुराचार बहुत ही कम हो गया । (४) यथासाध्य संयमी जीवन यापन करने के लिये

अभिरुचि उत्पन्न हो गई। (५) जनता तपश्चर्या के वास्तविक स्वरूप को समझ गई और उसकी यथासम्भव आराधना करने लगी।

भगवान् महावीर ने दूसरा एक और महत्त्व का कार्य यह किया कि उस समय मनुष्य अपने उत्कर्ष के लिये पुरुषार्थ पर विश्वास रखने की अपेक्षा देव-देवियो अथवा यक्ष-व्यन्तरो की कृपा पर अवलम्बित रहनेवाले बन गये थे और उन्हे प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार के उपाय करते थे। परन्तु भगवान् महावीर ने कहा 'अप्पा सो परमप्पा—तुम्हारी आत्मा है, वही परमात्मा है। उसमें ज्ञान और क्रिया की अनन्त शक्ति विराजमान है। तुम इसे प्रकट करना सीखो तो अन्य किसी की सहायता लेने की आवश्यकता नही रहेगी।'

'सुख-दुःख का अनुभव हमे अपने कर्मों के अनुसार होता है, अतः सत्कर्म करने की ओर लक्ष्य रखना इस बात को भी भगवान् महावीर ने बहुत ही उत्तम ढग से समझाया।

इसके अतिरिक्त उन्होने पुरुषार्थ की पञ्चसूत्री पेश किया, जिसे उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पराक्रम का सिद्धान्त कहा जाता है। उसका रहस्य यह है कि सर्वप्रथम मनुष्य को आलस्य नष्ट करके—प्रमाद दूर करके खडा होना चाहिये, फिर कार्य मे लग जाना चाहिये; तदनन्तर उस कार्य मे अपना सारा बल लगा देना चाहिये; उस कार्य को पूर्ण करने का मन मे परिपूर्ण उत्साह रखना चाहिये, तथा कार्यसिद्धि के मार्ग में जो विघ्न, कष्ट अथवा कठिनाइयाँ आएँ

उनका दृढता से सामना करते हुए आगे बढना चाहिये। इस प्रकार पुरुषार्थ करनेवाले को सिद्धि-सफलता अवश्य प्राप्त होती है।

भगवान् महावीर अनन्य पुरुषार्थी थे और उन्होने भारत की जनता को इस रूप मे पुरुषार्थी बनने का आह्वान किया था।

● संघ-स्थापना

समाज अपने अधिकार के अनुसार ही धर्म का आचरण कर सकता है, इस बात को ध्यान मे रखकर भगवान् ने धर्माराधको के दो वर्ग बना दिये थे और पुरुष तथा स्त्री, दोनों वर्गो को उनमे स्थान दिया था।

जो त्यागी बनकर निर्वाणसाधक योग की उत्तम रीति से साधना करने योग्य थे, उन्हे श्रमण-श्रमणी वर्ग मे प्रविष्ट किया। श्रमण का वास्तविक अर्थ है—समत्व की प्राप्ति के लिये श्रम करनेवाला साधु, तपस्वी अथवा योगी।

जो त्यागी बनने की स्थिति मे नही थे, किन्तु गृहस्थ-जीवन मे रहकर नीति-नियम तथा सदाचार पालन करते हुए धार्मिक अनुष्ठान और किसी निर्धारित सीमा तक सयम-योग की साधना करने योग्य थे उनका समावेश श्रमणोपासक तथा श्रमणोपासिकाओ मे किया। श्रमणोपासक का वास्तविक अर्थ है—श्रमणों की उपासना, आराधना किंवा सेवा-भक्ति करके उनसे अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति करनेवाला गृहस्थ (श्रावक)।

भगवान् ने उक्त चारों वर्गों का एक सघ स्थापित किया। वह सघ ससार-सागर से पार होने के लिये एक उत्तम नौका

के समान होने से 'तीर्थ' की संज्ञा को प्राप्त हुआ और उसके संस्थापक के रूप में भगवान् महावीर 'तीर्थङ्कर' कहलाये।

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना उचित है कि उनसे पूर्व इस भारत मे श्रीऋषभ आदि अन्य तेईस तीर्थङ्कर हो गये थे, अतः इनकी गणना चौबीसवें तीर्थङ्कर के रूप में हुई।

भगवान् की अपूर्व—अद्भुत धर्म-देशनाओ द्वारा उक्त संघ दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति प्राप्त करने लगा। इसमे एक उल्लेखनीय घटना तो यह हुई कि केवलज्ञान होने के पश्चात् लाभ का कारण समझकर भगवान् महावीर ने एक साथ मे अडतालीस कोस का विहार किया और वे अपापापुरी आये। वहाँ महासेन वन मे धर्मसभा हुई। और उनका अत्यन्त प्रभावशाली प्रवचन सुनकर लोग मुग्ध हो गये। जनता ने नगर में बात फैलाई कि 'यहाँ एक सर्वज्ञ आये हैं।' यह सुनकर उस पुरी मे एक यज्ञ के लिये एकत्र हुए ब्राह्मण पण्डित चौंके और उनमे से ग्यारह महाविद्वान्—(१)इन्द्रभूति, (२) अग्निभूति, (३) वायुभूति, (४) व्यक्त, (५) सुधर्मा, (६) मण्डिक, (७) मौर्यपुत्र, (८) अकम्पित, (९) अचलभ्राता, (१०) मेतार्य और (११) प्रभास एक के बाद एक भगवान् की धर्मसभा मे उनकी परीक्षा लेने पहुँचे, किन्तु भगवान् ने उनके मन में स्थित शास्त्रार्थ-विषय शङ्काओं को बराबर बता दिया और उनका वास्तविक अर्थ भी करके दिखलाया। इससे उन ब्राह्मण पण्डितो ने उसी स्थान पर तत्काल त्यागमार्ग ग्रहण किया और उनके साथ ४४०० ब्राह्मण छात्रो ने भी अपने गुरुओ का अनुकरण किया। इस प्रकार एक ही सभा में ४४११ ब्राह्मण प्रतिबोध प्राप्त कर उनके संघ मे प्रविष्ट हुए।

भगवान् ने इन्द्रभूति आदि को उनके शिष्यगणो का आचार्य अर्थात् गणधर नियुक्त किया तथा उनकी अपने पट्टशिष्य के रूप मे स्थापना की। इन पट्टशिष्यो ने भगवान् के प्रवचनो के भाव धारण कर उन्ही के आधार पर शास्त्रो की रचना की अर्थात् भगवान् महावीर के वचनामृत के सग्रह का वास्तविक श्रेय उन्ही को प्राप्त है।

भगवान् महावीर द्वारा स्थापित धर्माराधक संघ का चित्र अत्यन्त उज्ज्वल था। इस सघ के श्रमणवर्ग मे बिम्बिसार (श्रेणिक)-पुत्र मेघकुमार, नन्दिषेण, राजा उदायन, राजा प्रसन्नचन्द्र आदि क्षत्रिय, धन्य-शालिभद्र आदि धनकुबेर वैश्य तथा किसान, कारीगर आदि भी बहुत से थे। श्रमणीवर्ग मे चन्दनबाला, भगवान् की पुत्री प्रियदर्शना, मृगावती आदि क्षत्रिय-पुत्रियाँ, देवानन्दा आदि ब्राह्मण-पुत्रियाँ तथा वैश्य-पुत्रियाँ आदि भी थी।

उस समय श्री पार्श्वनाथ के चातुर्याम-धर्म का पालन करनेवाले श्रमण और श्रमणियाँ आदि विद्यमान थी, वे सब शनैः शनैः भगवान् महावीर द्वारा सस्थापित इस धर्माराधक-सघ मे मिल गये।

श्रमणवर्ग मे कुछ केवलज्ञान तक पहुँचे थे और कुछ मन के भावों को जानने की स्थिति तक। कुछ दूरस्थित वस्तु के दर्शन कर लेने की सिद्धि तक तो अन्य शरीर को छोटा-बडा करने की शक्ति पर्यन्त पहुच गये थे। इससे यह ज्ञात हो सकता है कि भगवान् के द्वारा स्थापित श्रमणवर्ग मे योग-साधना कितनी विशद और विपुल रही होगी। श्रमण-वर्ग मे कुछ समर्थ वादी-शास्त्रार्थी भी थे, जो धर्म-सम्बन्धी वाद-शास्त्रार्थ करके जनता को उसका सच्चा स्वरूप समझाते थे।

श्रमणोपासक वर्ग में मगधराज श्रेणिक, उनका पुत्र अजातशत्रु कोणिक, दशार्ण देश का राजा दशार्णभद्र, अपापापुरी का शासक हस्तिपाल तथा ज्ञात, लिच्छवी ओर मल्लगण के प्रायः सभी क्षत्रिय राजा थे। आनन्द, कामदेव, चूलणिपिता, सुरादेव, चुल्लगशतक, कुण्डकोलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दनीप्रिय, सालिहीपिता आदि अनेक धनपति वैश्य थे। इसी प्रकार ब्राह्मण आदि भी अनेक थे।

श्रमणोपासिकाओ का वर्ग बहुत विशाल था। उसमे जयन्ती, सुलसा आदि कई विदुषी सन्नारियाँ सम्मिलित थी।

● निर्वाण-प्राप्ति

भगवान् महावीर ने तीस वर्ष तक भारत के विभिन्न भागो मे परिभ्रमण किया और विविध प्रकार की धार्मिक प्रवृत्तियो का आयोजन करके जनता का उद्धार किया, इसे भारतीय जनता कब भुला सकती है ?

तीर्थंकर जीवन का तीसवाँ चातुर्मास भगवान् ने अपापापुरी के हस्तिपाल राजा की लेखनशाला मे किया। वहाँ मल्लगण के नौ राजा, लिच्छवीगण के नौ राजा तथा अन्य अनेक उपासको को अड़तालिस घण्टों तक देशना देकर कार्तिक (आश्विन कृष्ण) अमावास्या को निर्वाण प्राप्त हुए।

ऐसे महान् जगदीपक के बुझ जाने पर उसकी कमी को पूरा करने के लिये उस रात्रि मे भव्य दीप-मालाएं जलाई गई। तव से दीपावली का पर्व आरम्भ हुआ।

जहाँ प्रभु का अग्निसस्कार किया गया, वहाँ की पवित्र भस्म को जनता बड़े आदर से लेने लगी। बाद मे तो वहाँ की मृत्ति भी उतनी का

ही पवित्र मानकर ग्रहण करने लगे। ऐसा करते-करते वहाँ एक बड़ा गड्ढा हो गया और कालान्तर मे वही सरोवर बन गया। आज उस सरोवर के बीच एक श्वेत, सुन्दर मन्दिर विराजमान है और प्रतिवर्ष लाखों मनुष्य वहाँ की भावपूर्ण यात्रा करते हैं।

● उपसंहार

भगवान् की वाणी विश्वमैत्री तथा अनुकम्पा के अमृत से सराबोर थी तथा उसमे गुणानुराग और मध्यस्थता का अनाहत नाद पूर्णतया गुञ्जित था। भगवान् की वाणी मे सत्य की अनन्त आभा से परिपूर्ण विमल-प्रकाश झलक रहा था और अपने दीर्घ अनुभव का निचोड़ यथार्थरूप मे अवतरित हुआ था। इसीलिये उनकी वाणी शिव-सुन्दर बनी थी और लाखों-करोडो मानवो के हृदय मे नवचेतना भरने मे सफल हुई थी। प्रिय पाठको ! आप उस वाणी का उस वचनामृत का परम श्रद्धा से पान करे, यही हमारी अभ्यर्थना है।

शिवमस्तु सर्वजगतः।

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४९	पादनोघ प०-४	चंपारण्य-प्रदेशतक	कौशिकी नदी तक
५०	पादनोघ प० २	पटनासे सत्ताइस माइल की दूरी पर	उत्तर बिहार मे

श्री वीर-वचनामृत

पृष्ठ	प०	अशुद्ध	शुद्ध
८	७	अवकाश-लक्षणोवाला	अवकाश-लक्षणवाला
१३	२२	गा० ८	गा० ६
३०	१०	हसगब्भेपुलए	हसगब्भे पुलए
५६	६	सजयस्सवि	सजयस्सावि
६९	८	लाभ	लोभ
७९	१५	साही	सोही
८७	१६	आ० अ० ३	आ० श्रु० १, अ० ३
१२६	१९	तिरिय	तिरिय
१६४	१	पउारघणे	पउरिंघणे
१८५	३	उ० गा० ६	उ० ३, गा० ६
१८६	६	कह न कुज्जा	कह नु कुज्जा
१९६	७	भूयाण मेसमाघाओ,	भूयाणमेसमाघाओ,
२०२	९	वभचेरस्स	वभचेरस्स
२०६	९	चित्तवर	चित्तघर

२१३	६	नन्ति में	नन्ति मे
२१४	१	मुजति	भुजति
२४०	१	अकप्पिय	अकप्पिय
२५७	१५	उवेड	उवेइ
२७२	११	पण्नरसहिं	पन्नरसहिं
२७७	६	कुपिपज्ञा	कुप्पिज्ञा
३३६	७	मायाविजऐण	मायाविजएण
३४६	६	अ० श्रु० १,	आ० श्रु० १,
३७४	१	अब्भागमियम्मि	अभागमियम्मि
४१५	८	खुल्हा	नुल्हा

—०—

संकेत-सूची

[वचनों के नीचे आधार-स्थान बतानेवाले जो ग्रन्थ-संकेत दिये हैं, वे निम्न हैं]

अ० – अध्ययन

आ०—आचारांग सूत्र

उ०—उत्तराध्ययन सूत्र, (द्वितीय स्थान में) उद्देश

उत्त०— „

औप०—औपपातिक सूत्र

गा०—गाथा

चू०—चूलिका

जीवा०—जीवाजीवाभिगम सूत्र

दश०—दशवैकालिक सूत्र

दशाश्रुत०—दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र

प्रति०—प्रतिपत्ति

प्रश्न०—प्रश्नव्याकरण सूत्र

भग०—भगवती सूत्र

श०—शतक

श्रु०—श्रुतस्कन्ध

सम०—समवायाग सूत्र

सू०—सूत्रकृतांग सूत्र

स्था०—स्थानाग सूत्र, (द्वितीय स्थान में) स्थान

ज्ञा०—ज्ञाताधर्मकथा सूत्र

आर्तत्राणकरी सुधाब्धिलहरी कारुण्यपूर्णेश्वरी,
ससारार्णव-सङ्कटे प्रपतता ताराय चैका तरी।
सर्वस्यान्तचरी सुपुण्यनगरी सत्तत्त्वचिन्तादरी,
लोकानामभयाय भातु भुवने श्री वीरवाणीझरी ॥

—प० रुद्रदेव त्रिपाठी

श्री महावीर वचनामृत

धारा : १ :

विश्वतन्त्र

जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए॥ १॥

[उत्त० अ० ३६, गाथा : २]

जिसमे जीव भी हो और अजीव भी हो, उसे 'लोक' कहते है, तथा जिसमे अजीव का एक भाग अर्थात् केवल आकाश हो, उसे 'अलोक' कहते है।

विवेचन—जिसे हम विश्व, जगत् अथवा दुनिया कहते है, उसके दो विभाग है : एक लोक और दूसरा अलोक। इनमे लोक, जीव और अजीव अर्थात् चेतन तथा जड पदार्थों से व्याप्त है, जबकि अलोक मे अजीव—जीव रहित आकाश के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। दूसरे शब्दो मे कहे तो सर्वत्र आकाश ही आकाश फैला हुआ है। उसका एक भाग लोक है, जबकि शेष भाग अलोक है—अर्थात् निरवधि आकाश (Infinite Space) है।

प्रसिद्ध गणितज्ञ प्रो० आल्बर्ट आइन्स्टीन इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए अपने एक निबन्ध मे लिखते है कि, "लोक परिमित है और अलोक अपरिमित। लोक परिमित होने के कारण द्रव्य अथवा शक्ति उससे बाहर कही नही जा सकती। लोक से बाहर उस शक्ति का पूर्णतया अभाव है जो गति मे सहायक होती है।"

इस बात का उल्लेख यहाँ पर इसलिए किया गया है कि जैसे-जैसे विज्ञान प्रगतिपथ पर आगे बढता जा रहा है, वैसे-वैसे सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी भगवान् महावीर द्वारा कथित सिद्धान्तो का दृढता के साथ समर्थन करता जा रहा है।

धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जंतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहि ॥२॥

[उत्त० अ० २८, गा० ७]

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—इन छह द्रव्यों के समूह को सर्वदर्शी जिन भगवन्तों ने लोक कहा है।

विवेचन—लोक जीव और अजीवों से अर्थात् चेतन तथा जड पदार्थों से व्याप्त है यह बात ऊपर कही जा चुकी है। किन्तु उसमे मौलिक द्रव्य कितने है? इसका स्पष्टीकरण इस गाथा मे किया गया है। इसमे बताया गया है कि लोक में मौलिक अथवा मूलभूत द्रव्य कुल मिलाकर छह है—पाँच जड़ और एक चेतन। इनमे जड की संख्या अधिक होने से इनकी गणना प्रथम की गई है। पाँच जड़ द्रव्यों के नाम इस प्रकार समझने चाहिए :—

१ : धर्म—धर्मास्तिकाय ।

२ : अधर्म—अधर्मास्तिकाय ।

३ : आकाश—आकाशास्तिकाय ।

४ : काल ।

५ : पुद्गल—पुद्गलास्तिकाय ।

चेतन द्रव्य को जीव—जीवास्तिकाय कहा जाता है।

सामान्य तौर पर धर्म और अधर्म शब्द पुण्य और पाप के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, किन्तु यहाँ इन्हे द्रव्य के नामविशेष के रूप मे ही ग्रहण करना चाहिए।

छह द्रव्यो मे से पाँच को अस्तिकाय कहा जाता है। इसका मूल कारण यह है कि इन द्रव्यो मे प्रदेशो का समूह विद्यमान रहता है जबकि काल मे प्रदेशो का समूह नही होता। अतः उसकी गणना अस्तिकाय मे नही की जाती।

ये छह द्रव्य ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है. अर्थात् ये किसी के द्वारा उत्पादित नही है और ना तो इनका आत्यन्तिक विनाश भी होता है। बेशक इनके पर्यायो मे—इनकी अवस्थाओ मे अवश्य परिवर्तन होता रहता है। और इसी कारणवश यह लोक चिरतन सनातन होते हुए भी परिवर्तनशील माना जाता है। ऐसे समय मे जब पौराणिक मान्यताओ के स्तर असत्य प्रतीत होने लगे थे और विश्व-व्यवस्था के लिये ईश्वर नामक एक अगम्य शक्ति-तत्त्व को आगे धरा जाता था तब ऐसी स्पष्ट वैज्ञानिक विचारधारा सर्वज्ञ के सिवाय भला दूसरा कौन प्रस्तुत कर सकता था ?

धम्मो अहम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गल-जंतवो ॥३॥

[उत्त० अ० २८, गा० ८]

धर्म, अधर्म और आकाश—इन तीनों को एक-एक द्रव्य कहा गया है जबकि काल, पुद्गल और जीव—इन तीनो को अनन्त द्रव्य कहा गया है ।

विवेचन—धर्म-द्रव्य समस्त लोक में अखण्ड रूप मे स्थित है । अत वह एक है । हम बुद्धि के द्वारा इसके विभागों की कल्पना कर सकते हैं, पर वस्तुतः ऐसी कोई बात नही है । अधर्म और आकाश द्रव्य की भी यही स्थिति है । किन्तु काल, पुद्गल और जीव ये तीन द्रव्य अनन्त हैं । फलतः इनका निर्देश संख्या के द्वारा नही किया जा सकता । यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जगत् का विद्वद्वर्ग जिस वस्तु का निर्देश सख्या के द्वारा नही कर सकता, उसे असख्यात कहकर छोड देता है । परन्तु जैन महर्षियों ने असख्यात को भी दो विभागो मे विभाजित किया है, इसमे से प्रथम विभाग को असंख्यात और दूसरे विभाग को अनन्त कहा गया है । असख्यात की अपेक्षा अनन्त का प्रमाण बहुत विस्तृत है । असंख्यात कब कहा जाय इसका स्पष्टीकरण हमे पाँचवी गाथा के विवेचन से ज्ञात हो सकेगा ।

गईलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥४॥

[उत्त० अ० २८, गा० ९]

धर्म-द्रव्य गति-लक्षणवाला है; जबकि अधर्म-द्रव्य स्थिति-लक्षणवाला है। और आकाश-द्रव्य अवकाश-लक्षणवाला है, साथ ही यह सर्व द्रव्यो के रहने का स्थान है।

विवेचन—प्रत्येक द्रव्य को पहचानने के लिये उसके लक्षणो को जानना आवश्यक है। इसलिये यहाँ इनके लक्षणो का विशेष रूप से निर्देश किया गया है।

धर्म-द्रव्य—यह गति-लक्षणात्मक है, इसका तात्पर्य यह है कि स्वभावानुसार स्वय ही गमन करनेवाले चेतन तथा जड-पदार्थों को गति करने मे यह सहायक सिद्ध होता है। यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि एक द्रव्य स्वय स्वभावगत ही गतिशील हो तो उसे अन्य द्रव्य की सहायता की भला क्या आवश्यकता है? इसका यही समाधान है कि जैसे मछली मे तैरने की शक्ति रहने पर भी वह जल के बिना तैर नही सकती, वैसे ही चेतन और जड़ पदार्थों मे गति करने की स्वय शक्ति है, किन्तु वे धर्मास्तिकाय द्रव्य की सहायता के बिना गति नही कर सकते। आधुनिक वैज्ञानिको ने भी इस बात का स्वीकार किया है कि कोई पदार्थ आकाश मे—अवकाश मे जो गति करते है, वह ईथर नामक एक अदृश्य पदार्थ के आधार पर ही गतिमान् है। ईथर के स्वरूप के बारे मे इन लोगों मे एकमत नही है। किन्तु विशेष सशोधन के परिणामस्वरूप वे धर्मास्तिकाय सिद्धान्त के अधिकाधिक निकट आ रहे है।

अधर्म-द्रव्य—यह स्थिति-लक्षणात्मक है, इसका तात्पर्य यह है कि यह अपने स्वभाव से स्थिर अटल—अचल रहे चेतन और जड पदार्थो

को स्थिर रखने मे सहायभूत होता है। स्थिर रहने की शक्तिवाले मनुष्य के लिये जैसे स्थिर रहने मे शय्या अथवा आसन आदि सहायक सिद्ध नही होते क्या ? यहाँ भी तदनुसार ही समझना चाहिये।

धर्म और अधर्म-द्रव्य लोक मे व्याप्त हैं जबकि लोक से बाहर कही नही ! अतः किसी भी चेतन—जड पदार्थ की गति—स्थिति लोक मे ही सम्भव है, लोक से बाहर नही।

आकाश-द्रव्य—यह अवकाश-लक्षणोंवाला है, इसका तात्पर्य यह है कि वह प्रत्येक पदार्थ को अपने भीतर रहने के लिये पर्याप्त स्थान देता है और इसीलिये विश्व के चराचर सभी पदार्थ आकाश मे स्थित हैं। आकाश का जितना भाग लोक व्याप्त है, उसे लोकाकाश कहते हैं और शेष भाग को अलोकाकाश।

सक्षेप मे धर्म यह गतिसहायक द्रव्य (Medium of motion) अधर्म यह स्थितिसहायक द्रव्य (Medium of rest) और आकाश यह अवकाश (Space) रूप है।

वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥५॥

[उत्त० अ० २८, गा० १०]

काल वर्तना लक्षणवाला है और जीव उपयोग लक्षणवाला। जीव को ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख के द्वारा जान सकते हैं।

विवेचन—काल (Time) वर्तना लक्षणवाला है, इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु अथवा पदार्थ की वर्तना जाननी हो तो वह काल के द्वारा जानी जा सकती है। ‘ यह वस्तु है ’ ‘ यह

वस्तु थी,' 'यह वस्तु होगी,' आदि शब्दो के प्रयोग काल के कारण ही हो जाते है।

यहाँ यह भी समझना आवश्यक है कि किसी भी क्रिया अथवा परिवर्तन के होने मे काल ही मुख्य कारण होता है। काल की सहायता के बिना कोई भी क्रिया अथवा परिवर्तन नही हो सकता। किसी साधु-महात्मा के दर्शन के लिए जाना हो तो काल अर्थात् समय चाहिए। किसी उत्तम ग्रन्थ का पारायण करना हो तो भी समय चाहिए। इसी प्रकार गर्भ से बालक होने में, बालक से जवान होने मे और जवान से वृद्ध होने मे भी समय की आवश्यकता है।

काल यह अरूपी—अदृश्य द्रव्य है। अतः इसे कोई पकड नही सकता। किन्तु सकेत के आधार पर इसका परिमाण—अदाज निकल सकता है। जैन-शास्त्रो मे यह माप—परिमाण इस प्रकार बतलाया गया है :—

काल का निर्विभाज्य भाग	= समय
असख्यात समय	= आवलिका
सख्यात आवलिका	= श्वास
दो श्वास	= प्राण
सात प्राण	= स्तोक
सात स्तोक	= लव
सतहत्तर लव	= मुहूर्त
तीस मुहूर्त	= अहोरात्र (२४ घण्टे)
पन्द्रह अहोरात्र	= पक्ष

दो पक्ष	= माह, महीना
दो माह	= ऋतु
तीन ऋतु	= अयन
दो अयन	= सवत्सर (वर्ष ,*
सौ वर्ष	= शताब्दी
दस शताब्दी	= सहस्राब्दी
चौरासी सौ सहस्राब्दी	= पूर्वाङ्ग
चौरासी लाख पूर्वाङ्ग	= एक पूर्व

[इस प्रकार एक पूर्व मे ७०५६०००००००००० वर्ष होते हैं ।]

चौरासी लाख पूर्वो को सम्मिलित करे तो एक त्रुटिताङ्ग और ऐसे चौरासी लाख त्रुटिताङ्ग एकत्र करने पर एक त्रुटित होता है। इस तरह आये हुए परिमाण को चौरासी लाख से गुणन करते जायँ तो क्रम से अटटाग, अटट, अववाग, अवव, हूहुकाग, हूहुक, उत्पलाग, उत्पल, पद्माग, पद्म, नलिताग, नलित, अर्थनिपुराग, अर्थनिपुर, अयुताग, अयुत, नयुताग, नयुत, प्रयुताग, प्रयुत, चूलिकाग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकाग और शीर्षप्रहेलिका नामक माप बनते हैं। शीर्षप्रहेलिका के पर्वो की सख्या १६४ अक तक पहुँचती है। जबकि इस से भी कई अधिक गुनी सख्या को असख्यात कहते हैं।

इस से भी आगे चलकर शास्त्रकारो ने परिमाण बताये हैं। किन्तु उनमे सख्या का कोई उपयोग न होने से उपमानो का आधार लिया

---

* एक वर्ष में छह ऋतुएँ होती हैं :—हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, और शरद्। अयन दो होते हैं :—उत्तरायण और दक्षिणायन।

है। इसप्रकार एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े तथा एक योजन गहरे गड्ढे को सूक्ष्म केशो के टुकडो से भर दिया जाय और उस परसे चक्रवर्ती की सेना निकल जाय फिर भी वह दबे नही, इतना ठूँस-ठूँस कर भर दिया जाय और फिर उस गड्ढे मे से सौ-सौ वर्षो के अन्तर से केश का एक-एक टुकड़ा निकालते रहने पर जितने वर्षो मे वह गड्ढा खाली होगा, उतने वर्षो को एक पल्योपम कहते है, ऐसे दस कोटा-कोटि (१००००००००×१०००००००) पल्योपम वर्षों को सागरोपम कहते है। ऐसे बीस कोटाकोटि सागरोपमो का एक कालचक्र बनता है और ऐसे असख्यात कालचक्रो का एक पुद्‌गलपरावर्त बनता है।

जीव—उपयोग लक्षणवाला है, इसका अर्थ यह है कि जीव किसी भी वस्तु को सामान्य अथवा विशेष रूप से जानने के लिये चेतना—व्यापार कर सकता है। वस्तु को सामान्य रूप से जान लेने को दर्शन कहते हैं और विशेषरूप से जानने को ज्ञान कहते है। चैतन्य का स्फुरण उपयोग है।

जीव को किस प्रकार जाना जा सकता है ? इसके प्रत्युत्तर में यहाँ कहा गया है कि जहाँ ज्ञान हो, दर्शन हो, तथा सुख-दुःख का भी अनुभव हो, उसे जीव समझना चाहिए। हम मे ज्ञान-दर्शन और सुख-दुःख का अनुभव है, इसलिये हम जीव है। गाय, भैस आदि पशुओ मे, कौए, कबूतर आदि पक्षियो में तथा जन्तुओ में, कीडो मे भी कुछ जानने की शक्ति तथा सुख-दुःख का सवेदन होता है। अतः वे भी जीव हैं; और हरी वनस्पति मे भी कुछ जानने की शक्ति तथा सुख-दुःख का सवेदन है, अतः वह भी जीव है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ ज्ञान,

दर्शन अथवा सुख-दुःख का अनुभव दिखाई दे, वे सब जीव हैं, ऐसा समझना चाहिए। इस से विपरीत जिसमें जानने की शक्ति नही है अथवा सुख-दुःख का सवेदन नही है , वह जीव नही है। उदाहरण के लिये लोहा, काँच अथवा पत्थर का टुकडा। इनमे जानने की शक्ति नही है अथवा सुख-दुःख की कोई संवेदना भी नही है। अतः ये अजीव हैं।

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥६॥

[उत्त० अ० २८, गा० ११]

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य (शक्ति अथवा सामर्थ्य) और उपयोग—ये सब जीव के लक्षण हैं।

विवेचन—जहाँ सामान्य अथवा विशेषरूप मे किसी प्रकार का ज्ञान देखने मे आवे, सयम अथवा तप की आराधना दिखाई दे, वीर्य का स्फुरण प्रतीत हो अथवा उसका उपयोग दिखलाई दे, वे जीव हैं। क्योंकि जीव के अतिरिक्त किसी भी अन्य द्रव्य मे ये बाते नही होती।

सद्दऽधयार उज्जोओ, पहा छायातवेइ वा।
वन्न-रस-गंध-फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥७॥

[उत्त० अ० २८, गा० १२]

शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया और आतप—ये पौद्गलिक वस्तुएं हैं और वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पुद्गल के लक्षण हैं।

विवेचन – शब्द अर्थात् ध्वनि अथवा आवाज (Sound) अन्धकार अर्थात् तिमिर अथवा तो अंधियारा। उद्योत अर्थात् रत्नादि का प्रकाश अथवा जगमगाहट। प्रभा अर्थात् चन्द्र आदि का शीतल प्रकाश। छाया अर्थात् प्रतिच्छाया और आतप अर्थात् सूर्य की धूप आदि उष्ण प्रकाश। ये सब पौद्गलिक वस्तुएं हैं।

कुछ लोग शब्द अर्थात् ध्वनि को आकाश का ही एक गुण मानते थे। किन्तु आधुनिक आविष्कार ने प्रमाणित कर दिया है कि शब्द आकाश का गुण नहीं, अपितु पुद्गल का ही एक प्रकार है और इसी से उसे युक्ति के द्वारा पकड सकते है। ग्रामोफोन का रिकार्ड, रेडियो आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है।

पुद्गल का मुख्य लक्षण वर्ण, रस, गन्ध, और स्पर्श है। इन मे से वर्ण के पाँच प्रकार है:—(१) कृष्ण—काला (२) नील—नीला (३) पीत—पीला, (४) रक्त—लाल और (५) श्वेत—सफेद। रस के भी पाँच प्रकार है:—(१) तिक्त—तीखा (२) कटु—कडुआ (३) मधुर-मीठा (४) अम्ल—खट्टा और (५) कषाय—कसैला। गन्ध के दो प्रकार हैं:—(१) सुगन्ध और (२) दुर्गन्ध। स्पर्श के आठ प्रकार है:—(१) स्निग्ध - चिकना (२) रूक्ष—रूखा (३) शीत—ठडा (४) उष्ण—गर्म, (५) मृदु—कोमल (६) कर्कश—कठोर (७) गुरु—भारी (८) लघु—हल्का।

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिआ भवे॥८॥

[उत्त० अ० २८, गा० ८]

द्रव्य गुणों को आश्रय देता है और गुणो का आश्रय द्रव्य है। अनेक गुण एक द्रव्य के आश्रित रहते हैं। परन्तु पर्याय का लक्षण यह है कि वह द्रव्य और गुण दोनो का आश्रित रहता है।

विवेचन—द्रव्य गुणो को आश्रय देता है, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य के अपने विशिष्ट गुण होते हैं। ये गुण द्रव्याश्रित होते हैं। अतः वे द्रव्य के साथ ही रहनेवाले होते हैं, उससे अलग नही होते। उदाहरण के लिये चैतन्य जब जीव-द्रव्य का गुण है तभी वह उसके साथ ही देखने मे आता है, किन्तु उससे पृथक् नही। पर्याय अर्थात् अवस्था-विशेष। यह भी द्रव्य और गुण दोनो के आधार पर ही होता है, परन्तु निरे द्रव्य पर अथवा गुण पर नही होता। जैसे कि घट यह पुद्गल का पर्याय है। इसमे पुद्गल द्रव्य भी है और स्पर्श, रस, वर्ण, गन्ध आदि गुण भी। साराश यह है कि विश्व की व्यवस्था करनेवाले जिन छह द्रव्यो की गणना ऊपर की गई है, वे छहो द्रव्य गुण और पर्याय से युक्त होते हैं। वे कभी भी गुण रहित अथवा पर्याय रहित नही होते। श्री उमास्वाति वाचक ने 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' के पाँचवे अध्याय मे 'गुण पर्यायवद् द्रव्यम् ॥३८॥' इस गाथा के माध्यम से यह बात स्पष्ट की है। यहाँ केवल इतना ही समझना है कि गुण यह सहभावी है, अर्थात् सदा साथ रहने वाला है और पर्याय क्रमभावी है, यानी एक पर्याय का नाश होने पर नया पर्याय उत्पन्न होने वाला है। यह भी अपेक्षा से ज्ञात होता है। अन्यथा गुणो मे से प्रत्येक गुण क्रमशः परिवर्तनशील है, उदाहरणार्थ पहले अमुक ज्ञान, बाद मे दूसरा ज्ञान, उसके बाद मे तीसरा ज्ञान। इस तरह देखा जाय तो गुण भी अन्त मे पर्याय ही है!

भगवान् महावीर ने द्रव्य का लक्षण सत् माना है और उसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-सज्ञक बतलाया है। इसका भी यही रहस्य है। किसी भी द्रव्य मे नये पर्याय की उत्पत्ति तभी होती है जबकि उसके पुरातन पर्याय का व्यय हो—नाश हो। ये दोनों क्रियाएँ साथ-साथ ही होती है अर्थात् पुराना पर्याय नष्ट होता जाता है और नया पर्याय उत्पन्न होता रहता है। मनुष्य बालक से युवा बनता है। उस समय बचपन मिटने की और जवानी आने की क्रिया भिन्न-भिन्न समय पर नही होती बल्कि एक साथ ही होती है। इसी तरह पुराने पर्याय का नाश और नवीन पर्याय की उत्पत्ति होने पर भी मूल द्रव्य तो ध्रौव्य-सज्ञक (अटल) होने के कारण स्थित ही रहता है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो पर्याय के इस रूपान्तर के समय भी इसके मौलिक गुण-मूलभूत वस्तु तो बनी ही रहती है और इसी कारणवश द्रव्य के नैरन्तर्य का हम अनुभव करते है, जैसे बाल्यावस्था, युवावस्था आदि मे मनुष्यत्व स्थित है, मानव के सहज गुण स्थित है।

एगत्तं च पुहुत्तं च, संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥६॥

[उत्त० अ० २८, गा० १३]

एकत्व, पृथक्त्व, सख्या, सस्थान, सयोग और विभाग ये पर्यायो के लक्षण है।

विवेचन—पर्याय यह द्रव्य की एक अवस्था है, द्रव्य का परिणाम है। ऐसे अनेकानेक परिणाम द्रव्य मे होते है। हमे वस्तु के

एकत्व का, पृथक्त्व का, संख्या का, सस्थान अर्थात् आकार का, सयोग अर्थात् किसी के साथ जुडने का और विभाग अर्थात् उसके पृथक् २ भागो का ज्ञान ये सब पर्याय के कारण ही होता है। उदाहरणार्थ भिन्न-भिन्न परमाणुओं द्वारा निर्मित होने पर भी—यह एक घडा है, ऐसा ज्ञान उसके घटत्व-पर्याय के द्वारा ही हमे होता है। यह घटत्व घडे का एक परिणाम है। यह घट दूसरे से पृथक है, यह ज्ञान भी उसके पर्याय से ही ज्ञात होता है। यह एक है, दो है या दो से अधिक है इसका ज्ञान भी उसके पर्याय से ही होता है, ठीक वैसे ही यह गोल है, लम्बा है अथवा अमुक आकार का है, इसका ज्ञान भी उसके पर्याय से ही होता है। वह पटिये से जुडा हुआ है अथवा भूमि से सलग्न है, इसका ज्ञान भी उसके पर्याय द्वारा ही होता है, साथ ही यह घडे का सिरा है, यह घड़े का बीच का भाग है, यह ज्ञान भी उसके पर्याय के आधार पर ही किया जाता है।

★

धारा : २ :

सिद्ध जीवों का स्वरूप

संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया ।
सिद्धा णेगविहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥१॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ४८]

जीव दो प्रकार के कहे गये है :—ससारी और सिद्ध । जबकि सिद्ध अनेक प्रकार के बताये गये है, उनका वर्णन मेरे द्वारा सुनो ।

विवेचन—इस लोक मे जीव अनन्त है, वे मुख्यतः दो विभागों मे विभाजित है :—ससारी और सिद्ध । जो जीव कर्मवशात् ससार मे परिभ्रमण कर रहे है अर्थात् नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवादि चार गतियो मे बार-बार जन्म धारण कर जन्म-जरा-मरणादि के दुःख भोग रहे है, वे संसारी और जो जीव कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाने के कारण ससार-सागर पार कर गये है, वे सिद्ध । उनमे से सिद्ध बने हुए जीवो का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है । सिद्ध के जीव अनेक प्रकार के है, जैसे कि—

इत्थीपुरिससिद्धा य, तहेव य नपुंसगा ।
सलिंगे अन्नलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य ॥२॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ४९]

अर्थात् स्त्रीलिंगसिद्ध, पुरुषलिंगसिद्ध, नपुसकलिंगसिद्ध, स्वलिंग सिद्ध, अन्यलिंगसिद्ध, गृहलिंगसिद्ध आदि ।

विवेचन—सिद्ध होने के वाद सभी जीव समान अवस्था को प्राप्त होते हैं, किन्तु सिद्ध वनने के समय सभी जीवों की अवस्था एक सी नही होती। इस अवस्था-भेद को समझाने के लिये ही यहाँ पर सिद्ध के विविध प्रकारो का वर्णन किया गया है ।

चार गतियों मे संसरण करनेवाले जीव केवल मनुष्य गति के माध्यम से ही सिद्ध वन सकते हैं, अर्थात् यहाँ पर वर्णित समस्त प्रकार मनुष्य से सम्बन्वित ही समझने चाहिए ।

लिंग की दृष्टि से मनुष्य के तीन भेद होते हैं :—स्त्री, पुरुष और नपुसक। इन तीनों लिंगो के द्वारा मनुष्य सिद्ध गति प्राप्त कर सकता है। चन्दनवाला स्त्रीलिंग से सिद्ध वनी, इलाचीकुमार पुरुष-लिंग मे रहते हुए सिद्ध वने और गागेय नपुसकलिंग मे सिद्ध हुए। सारांश यह है कि सिद्धावस्था प्राप्त करने मे लिंग किसी भी रूप मे वाधक नही होता। जो कोई कर्मों का क्षय करता है, वह अवश्य सिद्धावस्था प्राप्त कर सकता है ।

मनुष्य स्वलिंग मे अर्थात् श्रमण के वेश मे ही सिद्ध होता है। किन्तु अपवाद रूप मे कभी अन्य वेश मे भी सिद्ध हो सकता है। वहाँ पूर्वजन्म के स्मरणादि से श्रमण-जीवन का ज्ञान होता है और जीव अन्तःकरणपूर्वक सर्वविरति, अप्रमत्त दशा, अनासक्त भाव आदि मे वढ जाने से वैसा वनता है। श्री गौतमादि महामुनि स्वलिंग मे सिद्ध हुए, तथा वल्कलचीरी आदि महानुभाव तापस-वेस

मे सिद्ध वने। ठीक वैसे ही इलाचीकुमार आदि कुछ महानुभाव अत तक गृहिलिंग अर्थात् गृहस्थ-वेश मे ही रह कर सिद्ध वने है। तात्पर्य यह है कि सिद्ध वनने मे वेश कोई अन्तिम महत्त्व की वस्तु नही है, वल्कि कर्मक्षय ही अन्तिम महत्वपूर्ण वस्तु है।

यहाँ छह प्रकारों का स्पष्ट निर्देश किया गया है और आदि पद के द्वारा अन्य प्रकारो की सम्भवितता दिखलाई गई है। अतः यह स्पष्ट करना अत्यंत आवश्यक है कि जैन सिद्धान्त मे कुल पन्द्रह प्रकार के सिद्ध माने गये है। इस तरह अव नौ तरह के सिद्धो का वर्णन शेप रहा, जो यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद के आधार पर दिया जाता है :—

७ : *तीर्थसिद्ध*—तीर्थ के अस्तित्व-काल मे सिद्ध बने हुए। यहाँ तीर्थ शब्द का अर्थ श्री जिनेश्वर भगवन्तो द्वारा स्थापित साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूपी चतुर्विध सघ समझना चाहिए।

८ : *अतीर्थसिद्ध*—तीर्थ की स्थापना होने से पूर्व या तीर्थ के व्यवच्छेद काल मे जातिस्मरणादि-ज्ञान से सिद्ध बने हुए।

९ : *तीर्थङ्करसिद्ध*—श्रीऋषभदेव आदि की तरह तीर्थङ्कर वनकर सिद्ध वने हुए।

१० : *अतीर्थङ्करसिद्ध*—श्री भरतचक्रवर्ती आदि के समान सामान्य केवली होकर सिद्ध बने हुए।

११ : *स्वयबुद्धसिद्ध*—श्रीआर्द्रकुमार आदि के समान स्वय-मेव बोध प्राप्त कर सिद्ध बने हुए।

१२ : *प्रत्येकबुद्धसिद्ध*—श्री करकण्डू आदि के समान किसी निमित्त मात्र से वोध प्राप्त कर सिद्ध वने हुए।

१३ : *वुद्धवोधितसिद्ध*—आचार्यादि गुरुओ से वोध प्राप्त कर सिद्ध वने हुए।

१४ : *एकसिद्ध*—एक समय मे एक सिद्ध वने हुए।

१५ : *अनेकसिद्ध*—एक समय मे अनेक सिद्ध वने हुए।

कहिं पडिहया सिद्धा ? कहिं सिद्धा पइट्ठिया ?।
कहिं वोंदिं चइत्ताणं ? कत्थ गंतूण सिज्झई ॥ ३ ॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ५५]

सिद्ध वननेवाले जीव कहाँ जाकर रुकते हैं ? कहाँ स्थिर होते है ? कहाँ शरीर का त्याग करते हैं ? और कहाँ जाकर सिद्ध वनते हैं ?

विवेचन—जिन जीवो ने चार घाती कर्मो का क्षय किया हो, वे अन्त समय मे अवशिष्ट चार अघाती कर्मो का अवश्य क्षय करते हैं और इस प्रकार समस्त कर्मो से मुक्त हो देह त्याग करते हैं। उस समय वे अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति को प्राप्त करते हैं और ऊपर चले जाते हैं। इस प्रकार गति करने वाला जीव कहाँ जाकर रुकता है, यह भी एक प्रश्न है। ठीक वैसे ही रुक जाने के पश्चात् वे कहाँ स्थिर होते हैं ? यह जानना भी अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। साथ ही सिद्ध होने वाला जीव अन्तिम देहत्याग कहाँ करता है ? और कहाँ जाकर सिद्ध होता है ? यह भी स्पष्ट होना आवश्यक

है। इन समस्त उलझनमय प्रश्नो के उत्तर निम्नलिखित गाथाओ से यो दिये गये है :—

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झई ॥ ४ ॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ५६]

सिद्ध जीव अलोक की सीमा पर जाकर रुकते है और लोक के अग्रभाग पर स्थिर होते है। वे यहाँ अर्थात् मनुष्यलोक मे शरीर त्याग करते हैं तथा लोकाग्र पर पहुँच कर सिद्ध-गति प्राप्त करते है।

विवेचन—ऊर्ध्व गति करनेवाला जीव जहाँ तक धर्मास्तिकाय द्रव्य रहता है, वहाँ तक ही गति करता है। वहाँ से आगे गति कर नही सकता, क्योकि वहाँ गति करने के लिए सहायभूत धर्मास्तिकाय द्रव्य नही होता, फलतः वह अलोक की सीमा पर जा रुकता है। जीव यदि धर्मास्तिकाय द्रव्य की सहायता के बिना भी गति करने मे समर्थ हो, तो उसकी यह ऊर्ध्व गति निरतर चालू ही रहेगी और कभी किसी काल मे उसका अन्त नही आयेगा क्योकि आकाश का अन्त नही है।

ऊर्ध्व गति करता हुआ जीव जिस स्थान पर रुकता है, वह लोक का अग्रभाग है। वहाँ पहुँचने के पश्चात् वह किसी प्रकार की गति नही करता, अर्थात् वही पर स्थिर हो जाता है और अनन्त काल तक इसी अवस्था मे रहता है।

सिद्ध बनने वाला जीव सामान्यतः मनुष्यलोक की मर्यादा मे ही अपना शरीर छोड़ता है और वह जब लोकाग्र पर पहुचता है तभी

सिद्ध बन गया माना जाता है। अतः सिद्ध शब्द का अर्थ 'सिद्धिस्थान प्राप्त' ऐसा समझना चाहिये।

सिद्ध बने हुए जीव परमात्मदशा को प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् उनकी गणना परमात्मा के रूप मे होती है और इसीलिये उन्हे अरिहन्त भगवन्त के समान वन्दनीय तथा पूजनीय माना जाता है।

बारसहिं जोयणेहिं, सव्वट्ठस्सुवरिं भवे।
ईसीपब्भारनामा उ, पुढवी छत्तसंठिया ॥५॥
पणयालसयसहस्सा, जोयणाणं तु आयया।
तावइयं चेव वित्थिन्ना, तिगुणो साहिय परिरओ ॥६॥
अट्ठजोयणबाहल्ला, सा मज्झंमि वियाहिया।
परिहायंती चरिमन्ते, मच्छियपत्ताउ तणुयरी ॥७॥
अज्जुणसुवन्नगमई, सा पुढवी निम्मला सहावेण।
उत्ताणयछत्तयसंठिया य भणिया जिणवरेहिं ॥८॥
संखंककुंदसंकासा, पंडुरा निम्मला सुभा।
सीयाए जोयणे तत्तो, लोगंतो उ वियाहिओ ॥९॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ५७ से ६१]

सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर छत्र के आकारवाली ईषत्प्राग्भार नामक पृथ्वी है। वह पैंतालीस लाख योजन लम्बी और इतनी ही चौडी तथा इसके तिगुनेपन से अधिक परिधिवाली है। तात्पर्य यह है कि वह वर्तुलाकार है। वह पृथ्वी मध्य भाग से आठ

योजन मोटी है, वहाँ से कम होते-होते अन्तिम सिरे पर मक्खी के पंख से भी अधिक पतली बनी हुई है। वह ईषत्प्राग्भार पृथ्वी स्वभाव से ही निर्मल और अर्जुन नामक श्वेत सुवर्ण के समान है। श्री जिनेश्वर भगवन्तो का कथन है कि उसका आकार उलटे किये हुए छत्र के समान है। यह पृथ्वी शख, अक रत्न तथा कुन्द पुष्प के समान श्वेत, निर्मल और सुहावनी है। उसी पर लोक का अन्त भाग माना गया है।

विवेचन—हम मनुष्यलोक मे निवास करते है। यहाँ से जब अधिकाधिक ऊपर जाते है तो सर्व प्रथम ज्योतिषचक्र अर्थात् सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि के दर्शन होते है, उसके ऊपर बारह देवलोक है और उसके ऊपर नवग्रैवेयक नामक विमान। उक्त नवग्रैवेयक विमान के ऊपर पाँच अनुत्तर विमान स्थित है, उन्ही मे से एक विमान सर्वार्थसिद्ध है। मनुष्यलोक से उसकी ऊँचाई करोडो मील दूर है; जबकि उससे भी बारह योजन ऊपर ईषत्-प्राग्भार नामक पृथ्वी है। इसका परिमाण उतना ही है, जितना कि मनुष्यलोक का है। अन्य वर्णन स्पष्ट है।

जोयणस्स उ जो तत्थ, कोसो उवरिमो भवे।
तस्स कोसस्स छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥१०॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ६२]

वहाँ एक योजन मे ऊपर के एक कोस के छठे भाग मे सिद्धो की अवगाहना है, अर्थात् सिद्धों के जीव वहाँ स्थित है।

विवेचन—इस स्थान को सिद्धशिला कहते हैं।

अरूविणो जीवघणा, नाण-दंसण-सण्णिया ।
अउलं सुहं संपत्ता, उवमा जस्स नत्थि उ ॥११॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ६६]

सिद्धो के वे जीव—सिद्ध भगवन्त अरूपी है, घन हैं (उनके जीव-प्रदेशो के वीच कोई खोखलापन नही है), ज्ञान और दर्शन से युक्त हैं , तथा अपरिमित सुख-प्राप्त है । उनको उपमा देने के लिए दूसरा कोई शब्द ही नही है ।

अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गंमि दुरारुहं ।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥१२॥

[उत्त० अ० २३, गा० ८१]

लोक के अग्रभाग पर एक निश्चल स्थान है, जहाँ जरा, मृत्यु, रोग और दुःख नही हैं , परन्तु वहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन है ।

निव्वाणं ति अवाहं ति, सिद्धी लोगग्गमेव य ।
खेमं सिवं अणावाहं, जं चरन्ति महेसिणो ॥१३॥

[उत्त० अ० २३, गा० ८३]

उस स्थान के निर्वाण, अवाव, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनावाधादि अनेक नाम प्रचलित है । उसे महर्षिगण ही प्राप्त करते हैं ।

विवेचन—अवाघ अर्थात् पीडा-रहित । अनावाघ अर्थात् उसके स्वाभाविक सुख मे अन्तराय-रहित ।

तं ठाणं सासयं वासं, लोगग्गंमि दुरारुहं ।
जं संपत्ता न सोयंति, भवोहन्तकरा मुणी ॥ १४ ॥

[उत्त० अ० २३, गा० ८४]

हे मुने ! वह स्थान शाश्वत निवासरूप है, लोक के अग्रभाग पर स्थित है, किन्तु वहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन है । जिन्होने उस स्थान को प्राप्त किया है, उनके ससार का अन्त आ जाता है और उन्हे किसी प्रकार का शोक नही होता ।

धारा ' ३ :

संसारी जीवों का स्वरूप

संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते वियाहिया ।
तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तहिं ॥१॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ६८]

ससारी जीव दो प्रकार के होते है :—त्रस और स्थावर । उनमे से स्थावर के तीन प्रकार हैं ।

विवेचन—सिद्ध के जीवों का वर्णन पूरा हुआ । अब ससारी जीवों का वर्णन आरम्भ होता है । ससारी जीव दो प्रकार के होते है :—(१) त्रस अर्थात् चर—हिलने-डुलनेवाले गतिशील और (२) स्थावर अर्थात् अचर—स्थिर ।

पुढवी आउजीवा य, तहेव य वणस्सई ।
इच्चेते थावरा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥२॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ६९]

स्थावर जीव पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक ऐसे तीन प्रकार के हैं, जिनके भेद मेरे द्वारा सुनो ।

विवेचन—पृथ्वी—मिट्टी ही जिसकी काया है वह पृथ्वीकायिक जीव, अप्—पानी ही जिसकी काया है वह अप्कायिक जीव; और

वनस्पति ही जिसकी काया वह है वनस्पतिकायिक जीव कहलाता है। इन तीनो प्रकार के जीवो का समावेश स्थावर मे होता है।

दुविहा पुढवीजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥३॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ७०]

पृथ्वीकायिक जीव के दो प्रकार है :—सूक्ष्म और बादर। ठीक वैसे ही इनमे से प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो और प्रकार होते है।

विवेचन—यहाँ सूक्ष्म शब्द से ऐसे सूक्ष्म जीवो का निर्देश किया है जो किन्ही भी सयोगो मे दृष्टिगोचर नही होते, इतना ही नही बल्कि उन पर शस्त्रादि किसी अन्य चीज के प्रयोग का कोई असर नही होता। ऐसे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव समस्त लोक मे व्याप्त है। बादर शब्द स्थूलतावाचक है। किन्तु बादर पृथ्वीकायिक एक जीव का शरीर हमारी दृष्टि का विषय नही बन सकता। हम पृथ्वीकाय का जो शरीर देखते है, वह असख्य जीवो के असख्य शरीर का एक पिण्ड होता है, वह समुदित अवस्था मे देखा जा सकता है, अतः उसे बादर कहा गया है।

जीव विग्रह गति द्वारा नये जन्मस्थान पर पहुँचने पर जीवन धारण करने के लिये आवश्यक ऐसे पुद्गल एकत्र करने लगता है, जिसे आहार की क्रिया कहते है। उसी आहार मे से वह शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन की रचना करता है। शास्त्रीय परिभाषा मे इन छह वस्तुओ को पर्याप्ति कहा जाता है।

परन्तु सभी जीव छहों पर्याप्तियों के अधिकारी नहीं हैं। एकेन्द्रिय जीव आहार, शरीर, इन्द्रिय, और श्वासोच्छ्वास—इन चार पर्याप्तियों के अधिकारी हैं। दो इन्द्रियवालों से लेकर असज्ञी पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव पाँचवी भाषापर्याप्ति के भी अधिकारी हैं और सज्ञी पचेन्द्रिय जीव छहों पर्याप्ति के अधिकारी हैं।

यहाँ इतनी स्पष्टता करना आवश्यक है कि यदि हम इन्द्रिय के आधार पर संसारी जीवों को विभाजित करें तो पांच विभाग होते हैं :—(१) एकेन्द्रिय, (२) बेइन्द्रिय, (३) तेइन्द्रिय, (४) चतुरिन्द्रिय और (५) पचेन्द्रिय। इनमे से एकेन्द्रिय जीव को एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है। स्पर्शनेन्द्रिय अर्थात् स्पर्श पहचाननेवाली इन्द्रिय; उसका मुख्य साधन चमड़ी है। बेइन्द्रिय जीव को स्पर्शनेन्द्रिय के अतिरिक्त रसनेन्द्रिय भी होती है। रसनेन्द्रिय अर्थात् रस-स्वाद का परीक्षण करनेवाली इन्द्रिय। इसका मुख्य साधन जिह्वा है। तेइन्द्रिय जीव को इन दो इन्द्रियों के अतिरिक्त तीसरी घ्राणेन्द्रिय भी होती है। घ्राणेन्द्रिय अर्थात् गन्ध परखनेवाली इन्द्रिय। इसका मुख्य साधन नासिका है। चतुरिन्द्रिय जीव को इन तीन इन्द्रियों के अतिरिक्त चौथी चक्षुरिन्द्रिय भी होती है। चक्षुरिन्द्रिय अर्थात् वस्तुओं को देखनेवाली इन्द्रिय। इसका मुख्य साधन चक्षु—आँख है। और पंचेन्द्रिय जीव को इन चार के उपरान्त पाँचवी श्रोत्रेन्द्रिय भी होती है; श्रोत्रेन्द्रिय अर्थात् सुननेवाली इन्द्रिय। इसका मुख्य साधन कान है।

इनमे से एकेन्द्रिय के जीव चार पर्याप्ति के अधिकारी हैं। अतः

जब वे पहली चार पर्याप्तियाँ पूर्ण करे तब पर्याप्त कहलाते है और यदि उन जीवो ने ये पर्याप्तियाँ पूर्ण न की हो अथवा पूर्ण किये बिना ही मृत्यु प्राप्त हो जायँ तो अपर्याप्त कहलाते है। पृथ्वीकायिक जीव एकेन्द्रिय है, अतः उन्हे चार पर्याप्तियाँ पूर्ण करनी पडती है।

यहाँ इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि कोई भी जीव आहार, शरीर और इन्द्रियादि तीन पर्याप्तियो को पूर्ण किये बिना मृत्यु नही पाता।

इस वर्गीकरण के अनुसार पृथ्वीकायिक जीव के मुख्य चार भेद होते है :—

१ : सूक्ष्म पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीव।

२ : सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वीकायिक जीव।

३ : बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीव।

४ : बादर अपर्याप्त पृथ्वीकायिक जीव।

बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।
सण्हा खरा य बोधव्वा, सण्हा सत्तविहा तहिं ॥४॥

[उत्त० अ० ३६, गा० : ७१]

पर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक जीव के दो भेद कहे गये है :—श्लक्ष्ण अर्थात् कोमल और खर अर्थात् कठोर। इनमे से श्लक्ष्ण पृथ्वी सात प्रकार की है।

किण्हा नीला य रुहिरा य, हलिद्दा सुकिला तहा।
पंडुपणगमट्टिया, खरा छत्तीसईविहा ॥ ५ ॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ७२]

काली, नीली, (स्लेटिया अथवा हरी), लाल, पीली, श्वेत, पाण्डु (कुछ हल्की पीली झांई वाली) और पनक (अत्यन्त सूक्ष्म रजोरूप) । जबकि खर पृथ्वी छत्तीस प्रकार की है ।

पुढवी य सक्करा वालुया य उवले सिला य लोणूसे ।
अय-तउय-तंब-सीसग-रुप्प-सुवन्ने य वयरे य ॥ ६ ॥
हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजण-पवाले ।
अब्भपडलब्भवालुय वायरकाये मणिविहाणे ॥७॥
गोमेज्जए य रुयगे अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।
मरगय-मसारगल्ले भूयमोयग-इंदनीले य ॥ ८ ॥
चंदण-गेरुय-हंसगब्भेपुलए सोगंधिए य बोधव्वे ।
चंदप्पह—वेरुलिए जलकंते सूरकंते य ॥९॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ७३ से ७६]

१ : शुद्ध पृथ्वी ।
२ : कंकड़ ।
३ : वालुका—रेती ।
४ : उपल—छोटे पत्थर ।
५ : शिला—पत्थर की बड़ी चट्टान ।
६ : लवण—समुद्र के जल से तैयार होने वाला नमक ।
७ : खारी मिट्टी—क्षार ।
८ : लोहा—खदान मे होता है तब । बाद मे रासायनिक

प्रक्रिया से वह टुकड़े अथवा प्रतरो का रूप धारण करता है, उस स्थिति मे वह अजीव वनता है।

९ : सीसा ,,

१० : ताँवा ,,

११ : जस्ता ,,

१२ : चाँदी ,,

१३ : सोना ,,

१४ : वज्र—हीरा। खदान मे होता है तब।

१५ : हरताल— ,,

१६ : हिंगलू— ,,

१७ : मेनसिल— ,,

१८ : सासक—एक प्रकार की धातु।

१९ : अजन—सुरमा।

२० : प्रवाल—मूगा।

२१ : अभ्रक—खान से निकलता है।

२२ : अभ्रवालुका—अभ्रक के मिश्रण वाली रेती।

इन वाईस प्रकार मे चौदह रत्नो को मिला देने से कुल छत्तीस प्रकार हो जाते हैं। चौदह रत्नो के नाम इस प्रकार समझने चाहिए :—

२३ : गोमेदक।

२४ : रुचक।

२५ : अकरत्न

२६ : स्फटिक और लोहिताक्ष।

२७ : मरकत और मसारगल्ल।

२८ : भुजमोचक।

२९ : इन्द्रनील।

३० . चन्दन—गैरिक और हंसगर्भ।

३१ : पुलक।

३२ : सौगन्धिक।

३३ : चन्द्रप्रभ।

३४ : वैडूर्य।

३५ : जलकान्त।

३६ : सूर्यकान्त।

रत्नपरीक्षा आदि ग्रन्थों मे इन रत्नों का विशेष वर्णन दिया हुआ है। ये सभी रत्न पृथ्वी मे होते हैं तब जीवन-शक्ति से युक्त होने के कारण इनकी गणना पृथ्वीकायिक जीवों मे की जाती है। बाहर निकलने के पश्चात् इनमे जीवन-शक्ति नही रहती। अतः ये अजीव माने जाते हैं।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणदेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१०॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ८३]

इन जीवों के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान द्वारा हजारों भेद होते हैं।

दुविहा आऊजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥११॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया ।
सुद्धोदए य उस्से, हरतणू महिया हिमे ॥१२॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ८४-८५]

अप्कायिक जीव के दो प्रकार है :—सूक्ष्म और बादर। ठीक वैसे ही इनके पुनः पर्याप्त और अपर्याप्त—ऐसे दो भेद होते है।

जो बादर पर्याप्त अप्काय जीव है, वे पाँच प्रकार के कहे गये है :—(१) शुद्धोदक—मेघ का जल, (२) ओस, (३) तृण के ऊपर के जलबिन्दु, (४) कुहासा और (५) बर्फ।

विवेचन—अप्कायिक सूक्ष्म जीव पृथ्वीकायिक सूक्ष्म जीवो के समान ही सूक्ष्म हैं और वे सब लोक मे व्याप्त है।

दुविहा वणस्सईजीवा, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥१३॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया ।
साहारणसरीरा य, पत्तेगा य तहेव य ॥१४॥
पत्तेअसरीराओ, ऽणेगहा ते पकित्तिया ।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य, लया वल्ली तणा तहा ॥१५॥
वलया पव्वया कुहणा, जलरुहा ओसही तहा ।
हरियकाया य बोधव्वा, पत्तेया इति आहिया ॥१६॥

साहारणसरीराओ, ऽणेगहा ते पकित्तिया ।
आलुए मूलए चेव, सिगबेरे तहेव य ॥१७॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ९२ से ९६]

वनस्पतिकायिक जीव सूक्ष्म और बादर —इस तरह दो प्रकार के हैं और उनके प्रत्येक के पुनः पर्याप्त और अपर्याप्त—ऐसे दो प्रकार होते हैं।

जो बादर पर्याप्त हैं, वे दो प्रकार के कहे गये है :—साधारण-शरीरी तथा प्रत्येक-शरीरी।

प्रत्येक-शरीरी के अनेक भेद कहे गये हैं। जैसे कि—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, तृण, वलय, पर्वज, कूहण, जलरुह, औषधि, हरितकाय आदि।

साधारण-शरीरी भी अनेकविध कहे गये है। जैसे कि—आलू, मूली, शृंगबेर आदि।

विवेचन—वनस्पतिकायिक सूक्ष्म जीव भी पृथ्वीकायिक सूक्ष्म-जीवों के समान ही सूक्ष्म हैं और वे समस्त लोक मे व्याप्त हैं।

अनेक जीवों का एक समान शरीर हो, वह साधारण (समान) शरीरी कहलाता है और एक जीव के एक ही शरीर हो, वह प्रत्येक-शरीरी कहलाता है। यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिये कि—फल, पुष्प, छाल, लकडी, मूल, पत्ते और बीज—इन प्रत्येक का स्वतन्त्र शरीर माना गया है।

साधारण-शरीरी को साधारण वनस्पति और प्रत्येक-शरीरी को प्रत्येक वनस्पति कहा जाता है। इन दोनों वनस्पतियों को

किस प्रकार पहचाना जाय, इसका समुचित उत्तर जीवविचार-प्रकरण की निम्न गाथा में दिया गया है :—

गूढसिरसंधिपव्वं, समभंग महीरुगं च छिन्नरुह।
साहारणं सरीरं, तव्विवरिअं च पत्तेयं॥ १२॥

जिसके भुट्टा, शिराएं और ग्रन्थियाँ आदि गुप्त हो, जिसके टूटने से समान भाग हो तथा तन्तु आदि न निकले, साथ ही जिसे काट कर पुनः उगाया जाय तो उग जाय, उसे साधारण वनस्पति जानना; तथा इससे विपरीत लक्षणवाली हो उसे प्रत्येक वनस्पति समझना।

प्रत्येक-वनस्पति के अनेक प्रकार हैं। जैसे कि :—

१ : वृक्ष—आम, नीम आदि।
२ : गुच्छ—बैंगन (वैंताकडी) आदि।
३ : गुल्म—नवमल्लिका आदि।
४ : लता—चम्पकलता आदि।
५ : वल्ली—कुष्माण्ड, तुरई आदि।
६ : तृण—घास।
७ : वलय—वलयाकृतिवाली विशिष्ट वनस्पति।
८ : पर्वज—गन्ना आदि पर्व (गाँठ) वाली वनस्पति।
९ : कूहण—भूमि को फोड़कर निकलनेवाली वनस्पति।
१० : जलरुह—जल मे उगनेवाले—कमल आदि।
११ : औषधि—धान्यवर्ग, गेहूं आदि।
१२ : हरित—भाजी, पत्तियाँ।

साधारण वनस्पति के भी अनेक प्रकार होते हैं। यहाँ आलू, मूली, शृंगवेर आदि के ही नाम दिये गये है, ये सब कन्द हैं। आलू अर्थात् आलू-कन्द। मूली प्रसिद्ध है। शृंगवेर अर्थात् अद्रक। तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के कन्दो की गणना साधारण वनस्पति मे करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त समस्त वनस्पतियो के अकुर, कोंपले, कोमल फल तथा जिसके दाने और शिराएँ गुप्त हो, उसकी गणना भी साधारण वनस्पति मे करनी चाहिये। साधारण वनस्पति को अनन्तकाय भी कहते हैं क्योंकि उसके एक सूक्ष्म शरीर मे अनन्त जीव होते है।

तेऊ वाऊ अ बोधव्वा, उराला य तसा तहा।
इच्चेए तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१८॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १०७]

त्रस जीव तीन प्रकार के हैं :—तेजस्कायिक, वायुकायिक और प्रधान त्रसकाय। इनके भेद मुझ से सुनो।

विवेचन—तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव एकेन्द्रिय हैं, किन्तु वे हिलने-डुलनेवाले होने के कारण उनकी गणना त्रस मे की गई है।

जो जीव भयग्रस्त होकर हिलने-डुलने लगते हैं, वे प्रधान-त्रस कहलाते हैं। इन तीनों के भेद बाद मे कहे जायेंगे।

दुविहा तेऊजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥१९॥

वायरा जे उ पज्जत्ता, ऽणेगहा ते वियाहिया ।
इंगारे मुम्मुरे अगणी, अच्चिजाला तहेव य ॥२०॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १०८-९]

तेजस्कायिक जीव दो प्रकार के हैं :—सूक्ष्म और बादर, तथा उनके भी पर्याप्त और अपर्याप्त—ऐसे दो भेद होते हैं।

जो बादर पर्याप्त तेजस्कायिक जीव है, वे अनेक प्रकार के कहे गये हैं, जैसे कि :—अंगारे, चिनगारी, अग्नि, शिखा-(लौ), ज्वाला आदि ।

विवेचन—यहाँ 'आदि' पद से उल्का, विद्युत् तथा अग्निमय ऐसे अन्य पदार्थ भी समझने चाहिये। सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव पृथ्वीकायिक सूक्ष्म जैसे ही सूक्ष्म है और वे सकल लोक में व्याप्त है।

दुविहा वाउजीवा उ, सुहुमा वायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥२१॥
वायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया ।
उक्कलिया मंडलिया, घण-गुंजा-सुद्धवाया य ॥२२॥

[उत्त० अ० ३६, गा० ११७-८]

वायुकायिक जीव दो प्रकार के है ; सूक्ष्म और बादर तथा इनके भी पर्याप्त और अपर्याप्त—ऐसे दो भेद है ।

जो बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव है, वे पाँच प्रकार के कहे गये हैं। जैसे कि :—(१) उत्कलिक वायु, (२) मण्डलिक वायु, (३) घन वायु, (४) गूंजन वायु और (५) शुद्ध वायु ।

विवेचन—सूक्ष्म-वायुकायिक जीव पृथ्वीकायिक सूक्ष्म जीव के समान ही सूक्ष्म हैं और वे समस्त लोक में व्याप्त हैं।

जो रुक-रुक कर फिर से वहने लगे, वह उत्कलिक वायु। जो चक्राकार घूमता आये अर्थात् झंझावात जैसा हो, वह मण्डलिक वायु। जो वायु गाढ—घना हो, वह घन वायु। यह वायु ससार को स्थिर रखनेवाली घनोदधि का आधाररूप होता है। जो वायु गूंजता हुआ वहे, वह गूंजन वायु और जिस वायु की मन्द-मन्द लहरियाँ वहती है, वह शुद्ध वायु।

ओराला तसा जे उ, चउहा ते पकित्तिया।
वेइंदिया तेइंदिया, चउरो पंचिंदिया चेव ॥२३॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १२६]

प्रधान त्रस जीव चार प्रकार के कहे गये हैं:—(१) दो इन्द्रिय-वाले, (२) तीन इन्द्रियवाले, (३) चार इन्द्रियवाले और (४) पाँच इन्द्रियवाले।

वेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥२४॥
किमिणो सोमंगला चेव, अलसा माइवाहया।
वासीमुहा य सिप्पीया, संखा संखणगा तहा ॥२५॥
पल्लोयाणुल्लया चेव, तहेव च वराडगा।
जलूगा जालगा चेव, चंदणा य तहेव य ॥२६॥

इइ बेइंदिया एए, ऽणेगहा एवमायओ ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥२७॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १२७ से १३०]

दो इन्द्रियोवाले जीव दो प्रकार के होते है :—पर्याप्त और अपर्याप्त। इनके दो भेद मेरे द्वारा सुनो—

कृमि (अशुचिमय पदार्थो में उत्पन्न होनेवाले), सुमङ्गल, अलसिया, मातृवाहक (कनखजूरा), वासीमुख, छिपकली, शंख, घोघा, पल्लक, अनुपल्लक, कोडी, जलौका, जालक, चदनक (स्थापनाचार्य मे रखा जाता है) आदि।

ये दो इन्द्रियवाले जीव अनेक प्रकार के है। ये सब लोक के एक भाग मे स्थित कहे गये हैं, न कि सर्वत्र।

विवेचन—जिन्हे सामान्यतया जन्तु अथवा कीड़े (Worms and insects) कहते है, उनका समावेश, दो इन्द्रियवाले, तीन इन्द्रियवाले और चतुरिन्द्रियवाले जीवो में होता है।

तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ।२८।
कुंथु-पिवीलिया दंसा, उक्कलुदेहिया तहा ॥
तणहारकट्ठहारा य, मालूगा पत्तहारका ॥२९॥
कपासट्ठिमिंजा य, तिंदुगा तउस मिंजगा ॥
सदावरी य गुम्मी य, बोधव्वा इंदगाइया ॥३०॥

इंदगोवमाइया, ऽणेगहा एवमायओ ॥
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥३१॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १३६ से १३९]

तीन इन्द्रियवाले जीव दो प्रकार के कहे गये हैं :—पर्याप्त और अपर्याप्त। इनके भेद मेरे द्वारा सुनो।

कुँथु, चीटी, डास, उत्कल, उदई, तृणाहारक (घास मे होनेवाले) काष्ठाहारक (लकड़ी मे होनेवाली, घुन), मालुका, पत्राहारक (पत्तों मे-होनेवाले), कार्पासिक (कपास आदि मे होनेवाले), अस्थिजात (गुटली-गुटले आदि मे होनेवाले), तिन्दुक, त्रपुप. मिजग, शतावरी गुल्मी, इन्द्रकायिक आदि।

इन्द्रगोप (गोकुलगाय) आदि तीन इन्द्रियवाले जीव अनेक प्रकार के हैं, वे लोक के एक भाग मे कहे गये हैं, न कि सर्वत्र।

चउरिंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥३२॥
अंधिया पुत्तिया चेव, मच्छिया मसगा तहा।
भमरे कीड-पयंगे य, ढिंकुणे कुंकणे तहा ॥३३॥
कुक्कुडे सिंगिरीडी य, नंदावत्ते य विंछिये।
डोले य भिंगिरीडी य, विरिली अच्छिवेहए ॥३४॥
अच्छिले माहए अच्छिरोडए विचित्तचित्तए।
उहिंजलिया जलकारी य, तंनिया तंवगाइया ॥३५॥

इह चउरिंदिया एए, ऽणेगहा एवमायओ ।
लोगस्स एगदेसंमि, ते सव्वे परिकित्तिया ॥३६॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १४५ से १४९]

चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकार के कहे गये है :—पर्याप्त और अपर्याप्त। इनके भेद मुझसे सुनो।

अन्धक, पौतिक, मक्षिका, मशक, भ्रमर, कीट, पतग, बगाई, और कुकण, कर्कुट, सिंगरीटी, नन्द्यावर्त, बिच्छू, खड-मकडी, भृगरीटक, अक्षिवेधक, अक्षिल, मागध, अक्षिरोडक, विचित्र, चित्रपत्रक, उपधि, जलका, जलकारी, तन्निक, ताम्रक आदि को चार इन्द्रियवाले जीव माना है। ये सब लोक के एक भाग मे स्थित है (न कि सर्वत्र)।

पंचिंदिया उ जे जीवा, चउव्विहा ते वियाहिया ।
नेरइया तिरिक्खाय, मणुया देवा य आहिया ॥३७॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १५५]

जो जीव पचेन्द्रिय है, वे चार प्रकार के कहे गये है :— नारकीय, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव।

नेरइया सत्तविहा, पुढवीसु सत्तसू भवे ।
रयणाभ—सक्कराभा, वालुयाभा य आहिया ॥३८॥
पंकाभा य धूमाभा, तमा तमतमा तहा ।
इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥३९॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १५६-१५७]

नारकी-जीव सात प्रकार के हैं, क्योंकि नरक से सम्बद्ध पृथ्वियाँ सात प्रकार की हैं। वे इस प्रकार हैं :—(१) रत्नप्रभा, (२) शर्कराप्रभा, (३) वालुकाप्रभा, (४) पङ्कप्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तमप्रभा और (७) तमतमाप्रभा।

विवेचन—पहली नरक की अपेक्षा दूसरी नरक मे और दूसरी नरक की अपेक्षा तीसरी नरक मे इस प्रकार उत्तरोत्तर हर नरक मे अधिक अन्धकार होता है। जवकि सातवी नरक तमतमा नाम की है, अतः वहाँ घोर अन्धकार होता है।

पंचिंदिय तिरिक्खा उ, दुविहा ते वियाहिया।
संमुच्छिम—तिरिक्खा उ, गब्भवक्कंतिया तहा ॥४०॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १७०]

पचेन्द्रिय तिर्यंच जीव दो प्रकार के कहे गये हैं :—संमूर्च्छिम और गर्भोत्पन्न-गर्भज।

विवेचन—समूर्च्छिम जीव मनःपर्याप्ति के अभाव मे मूढदशा मे रहते है। वे कुछ पदार्थों मे उत्पन्न होते हैं जवकि गर्भोत्पन्न गर्भ से उत्पन्न होते हैं।

दुविहा वि ते भवे तिविहा, जलयरा थलयरा तहा।
नहयरा य बोधव्वा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥४१॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १७१]

इन दोनो प्रकार के तिर्यंच जीवों के तीन भेद हैं :—(१) जलचर, (२) स्थलचर और (३) नभचर अर्थात् खेचर। इनके भेद मेरे द्वारा सुनो।

मच्छा य कच्छभा य, गाहा य मगरा तहा ।
सुंसुमारा य बोधव्वा, पंचहा जलराहिया ॥४२॥
[उत्त० अ० ३६, गा० १७२]

जलचर जीव पाँच प्रकार के कहे गये हैं :—(१) मच्छ (मछलियों की जाति), (२) कच्छप (कछुए की जाति), (३) ग्राह (घड़ियाल की जाति), (४) मगर और (५) संसुमार (ह्वेल आदि की जाति)।

चउप्पया य परिसप्पा, दुविहा थलयरा भवे ।
चउप्पया चउव्विहा, ते मे कित्तयओ सुण ॥४३॥
[उत्त० अ० ३६, गा० १७९]

स्थलचर जीव दो प्रकार के है :—चतुष्पद और परिसर्प। इनमे चतुष्पद चार प्रकार के है। इनके भेद मेरे द्वारा सुनो।

एगखुरा दुखुरा चेव, गंडीपय सणप्पया ।
हयमाई गोणमाई, गयमाई सीहमाइणो ॥४४॥
[उत्त० अ० ३६, गा० १८०]

(१) एक खुरवाले—अश्व आदि। (२) दो खुरवाले—गाय आदि। (३) गण्डीपद—हाथी आदि और (४) सनखपद—सिंह आदि।

भुओरगपरिसप्पा य, परिसप्पा दुविहा भवे ।
गोहाई अहिमाई, इक्केका इणेगविहा भवे ॥४५॥
[उत्त० अ० ३६, गा० १८१]

परिसर्प दो प्रकार के होते है :—(१) भुजपरिसर्प—गोह, गिरगोट आदि। और (२) उर-परिसर्प—सर्प, अजगर आदि। ये प्रत्येक भी अनेक प्रकार के होते है।

चम्मे उ लोमपक्खी य, तइया समुग्गपक्खिया।
विययपक्खी य बोधव्वा, पक्खिणो य चउव्विहा ॥४६॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १८८]

खेचर अर्थात् पक्षी चार प्रकार के होते हैं :—(१) चर्मपक्षी—चमडे की पंखवाले, चमगादर आदि। (२) रोमपक्षी—रोमवाली पंखवाले, राजहंस आदि। (३) समुद्गपक्षी—आवेष्ठित पंखवाले और (४) विततपक्षी—जिनके पंख सदा खुले रहते हैं। ये दोनो मानुषोत्तर पर्वत से बाहर होते हैं।

मणुया दुविहभेया उ, ते मे कित्तयओ सुण।
संमुच्छिमा य मणुया, गब्भवक्कंतिया तहा ॥४७॥

[उत्त० अ० ३६, गा० १९५]

मनुष्य के दो भेद हैं, वे मेरे द्वारा सुनो :—सम्मूर्छिम और गर्भोत्पन्न।

विवेचन—मनुष्य के देश, रंग और जाति के अनुसार भेद होते हैं।

देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण।
भोमिज्ज—वाणमंतर—जोइस—वेमाणिया तहा ॥४८॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २०४]

देव चार प्रकार के कहे गये हैं। उनके भेद मेरे द्वारा सुनो। (१) भुवनपति, (२) वाणव्यतर, (३) ज्योतिष और (४) वैमानिक।

दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो।
पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥४९॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २०५]

भवनवासी के दस प्रकार है, वाणव्यन्तर अर्थात् वनचारी देवो के आठ प्रकार है, ज्योतिषी देवो के पॉच प्रकार है और वैमानिक देवो के दो प्रकार।

असुरा नाग-सुवण्णा, विज्जू अग्गी वियाहिया।
दीवोदहि-दिसा-वाया, थणिया भवणवासिणो ॥५०॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २०६]

भवनपति के दस प्रकार इस तरह समझने चाहिये :—(१) असुर-कुमार, (२) नागकुमार, (३) सुवर्णकुमार, (४, विद्युत्कुमार, (५) अग्निकुमार, ६) द्वीपकुमार, (७) उदधिकुमार, (८) दिशाकुमार, (९) वायुकुमार और (१०) स्तनितकुमार।

पिसाय-भूया जक्खा य, रक्खसा किंनरा य किंपुरिसा।
महोरगा य गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमंतरा ॥५१॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २०७]

वाणव्यतर देवो के आठ भेद इस प्रकार बताये गये है :—(१) पिशाच, (२) भूत, (३) यक्ष, (४) राक्षस, (५) किन्नर, (६) किम्पुरुष, (७) महोरग और (८) गन्धर्व।

चंदा सूरा य नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा।
दिसाविचारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ॥५२॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २०९]

ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के है :—(१) चन्द्र, (२) सूर्य, (३) नक्षत्र, (४) ग्रह और (५) तारा। ये सब मनुष्यलोक मे चर है

अर्थात् गतिमान् हैं और मनुष्यलोक के वाहर स्थिर है अर्थात् गति नही करते।

वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
कप्पोवगा य वोधव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥५३॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २०६]

वैमानिक देव दो प्रकार के है :—(१) कल्पोत्पन्न और (२) कल्पातीत।

कप्पोवगा य वारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा।
सणंकुमार-माहिंदा, वंभलोगा य लंतगा ॥५४॥
महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥५५॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २१०-११]

कल्पोत्पन्न वैमानिक देव वारह प्रकार के हैं :—(१) सौधर्म (२) ईशान, (३) सनत्कुमार, (४) माहेन्द्र, (५) ब्रह्म (६) लातक, (७) महाशुक्र, (८) सहस्रार, (९) आनत, (१०) प्राणत, (११) आरण और (१२) अच्युत।

कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाणुत्तरा चेव, गेविज्जा नवविहा तहिं ॥५६॥

[उत्त० अ० ३६ गा० २१२]

कल्पातीत देव दो प्रकार के वताये गये हैं:—(१) ग्रैवेयक और (२) अनुत्तर।

विवेचन—ग्रैवेयक देव नौ प्रकार के है।

विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया।
सव्वट्ठसिद्धगा चेव, पंचहाणुत्तरा सुरा ॥५७॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २१५-१६]

अनुत्तरविमानो के पाँच प्रकार है :—(१) विजय, (२) वैजयन्त, (३) जयन्त, (४) अपराजित और (५) सर्वार्थसिद्ध।

विवेचन—ससारीजीवो का यह स्वरूप जानने से जीव-सृष्टि कितनी व्यापक है और उसके कितने विभाग है आदि का बोध होता है। ठीक वैसे ही अहिंसा के पालनार्थ भी इसका ज्ञान होना निहायत आवश्यक है।

धारा : ४ :

कर्मवाद

नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउं नियस्स बंधो,
संसारहेउं च वयंति बंधं ॥१॥

[उत्त० अ० १४, गा० १९]

आत्मा अमूर्त्त है, अतः वह इन्द्रियग्राह्य नही है। अमूर्त्त होने के कारण ही आत्मा नित्य है। मिथ्यात्व आदि कारणो से आत्मा को कर्मबन्धन होता है और कर्मबन्धन को ही संसार का कारण कहा जाता है।

विवेचन—जिसमे वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श हो वही वस्तु मूर्त्त हो सकती है, परन्तु आत्मा मे वर्ण, रस, गन्ध अथवा स्पर्श आदि नही है, इसलिये वह अमूर्त्त है और यही कारण है कि वह इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नही है। साथ ही अमूर्त वस्तु नित्य होती है, जैसे कि आकाश, इस प्रकार आत्मा नित्य है। ऐसी अमूर्त्त और नित्य आत्मा को कर्मबन्धन होने का मूल कारण मिथ्यात्व, अविरति,

कषाय, आदि दोष ही है। कर्म-फल भोगने के लिये आत्मा को ससार मे परिभ्रमण करना पडता है, इसलिए कर्मबन्धन ही ससारवृद्धि का कारण है।

सर्व प्रथम आत्मा कर्मरहित था और बाद मे कर्मबन्धन हुआ, ऐसा नही है। यदि हम यह मान ले कि शुद्ध आत्मा को भी कर्म का बन्धन होता है तो सिद्ध जीवों को भी कर्म-बन्धन का प्रसङ्ग आता है, जो कतइ उचित नही है। अतः यह मानना ही उचित होगा कि आत्मा आरम्भ से ही कर्मयुक्त थी और कर्मबन्धन के कारण विद्यमान होने से वह कर्म बाँधती ही रही तथा उसका फल भोगती रही। सोना जब खदान मे रहता है, तब मिट्टी से युक्त रहता है। अर्थात् खदान मे सोना और मिट्टी दोनो का मिश्रण होता है। बाद मे उस पर रासायनिक प्रक्रिया होने से मिट्टी पृथक् हो जाती है और शुद्ध सोना पृथक् निकल आता है, ठीक यही बात आत्मा के बारे में भी समझनी चाहिए। संयम, तप आदि रासायनिक क्रिया के कार्यकलाप से आत्मा पर लिपटे हुए कर्मावरण दूर हो जाते है और उसका शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है।

सव्वजीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बज्झगं ॥२॥

(उत्त० अ० ३३, गा० १८)

सभी जीव अपने आसपास छहों दिशाओ मे स्थित कर्मपुद्गलों को ग्रहण करते हैं और आत्मा के सर्वप्रदेशों के साथ सर्वकर्मो का सर्वप्रकार से बन्धन हो जाता है।

विवेचन—कर्मरूप मे परिणत होने योग्य पुद्गल की एक प्रकार की वर्गणा को कार्मण-वर्गणा अथवा कर्मपुद्गल कहा जाता है। पुद्गल की वर्गणाएं अनेक प्रकार की होती हैं, उनमे औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण—इन नामो वाली ८ अयोग्य + ८ योग्य यो सोलह वर्गणाएं विशेषतः समझने योग्य है। वे इस प्रकार है :—

१ : औदारिक शरीर के लिये नही ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

२ : औदारिक शरीर के लिए ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

३ : औदारिक—वैक्रिय शरीर के लिये नही ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

४ : वैक्रिय शरीर के लिये ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

५ : वैक्रिय—आहारक शरीर के लिये नही ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

६ : आहारक—शरीर के लिये ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

७ : आहारक—तैजस शरीर के लिये ग्रहण न करने योग्य महावर्गणा।

८ : तैजस शरीर के लिये ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

९ : तैजस शरीर और भाषा के लिये ग्रहण नही करने योग्य महावर्गणा।

१० : भाषा के लिये ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

११ : भाषा और श्वासोच्छ्वास के लिये ग्रहण न करने योग्य महावर्गणा।

१२ : श्वासोच्छ्वास के लिये ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

१३ : श्वासोच्छ्वास और मन के लिये ग्रहण न करने योग्य महावर्गणा।

१४ : मन के लिये ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

१५ : मन और कर्म के लिये ग्रहण न करने योग्य महावर्गणा।

१६ : कर्म के लिये ग्रहण करने योग्य महावर्गणा।

इस सोलहवी वर्गणा को ही कार्मण-वर्गणा कहा जाता है।

ये कार्मण-वर्गणाएं पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः आदि छहो दिशाओ मे सर्वत्र व्याप्त रहती है। इन्ही मे से आत्मा उपर्युक्त वर्गणाओं को ग्रहण कर लेती है और वह आत्मा के सर्व-प्रदेशो के साथ सर्वप्रकार से अर्थात् प्रकृति से, स्थिति से, रस से और प्रदेश से इस तरह चारो प्रकार से बँध जाती है। यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिये कि आत्म-प्रदेशो के केन्द्र मे जो आठ रुचक-प्रदेश होते हैं, वे सदा निर्मल होते हैं। उन्हे किसी प्रकार के कर्म का बन्धन नही होता।

जमियं जगई पुढो जगा,
कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहई,
णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥३॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० १, गा० ४]

इस भूतलपर जितने भी प्राणी हैं, वे सब अपने-अपने सचित कर्मों के कारण ही संसार मे परिभ्रमण करते रहते हैं और स्वकृत

कर्मों के अनुसार ही भिन्न-भिन्न योनियों मे पैदा होते है। उपार्जित कर्मों का फल भोगे विना प्राणी मात्र का छुटकारा नहीं होता।

विवेचन—जीव के उत्पत्ति-स्थान को योनि कहते है। योनियों की सख्या ८४ लाख इस प्रकार मानी जाती है :—

पृथ्वीकाय की योनि		७ लाख
अप्‌काय की	,,	७ लाख
तेजस्‌काय की	,,	७ लाख
वायुकाय की	,,	७ लाख
प्रत्येक वनस्पतिकाय की	,,	१० लाख
साधारण ,,	,,	१४ लाख
दो इन्द्रियवाले जीवों की	,,	२ लाख
तीन इन्द्रियवाले जीवों की	,,	२ लाख
चार इन्द्रियवाले जीवो की	,,	२ लाख
देवताओं की	,,	४ लाख
नारकीयो की	,,	४ लाख
तिर्यच पञ्चेन्द्रियों की	,,	४ लाख
मनुष्यों की	,	१४ लाख
		८४ लाख

ये योनियाँ प्रधान रूप से नौ प्रकार की हैं :—(१) सचित्त, (२) अचित्त, (३) सचित्ताचित्त, (४) शीत, (५) उष्ण, (६) शीतोष्ण, (७) सवृत्त (८) विवृत्त, और (९) सवृत्त-विवृत्त। इनमे जो जीवप्रदेश वाली योनि है वह सचित्त, जीवप्रदेश से रहित है वह अचित्त,

और जो दोनो के मिश्रणवाली है वह सचित्ताचित्त। जिसका स्पर्श शीतल-ठडा है वह शीत, गर्म है वह उष्ण, और कुछ भाग मे शीत और कुछ भाग मे उष्ण हो वह शीतोष्ण। जो ढंकी हुई हो वह संवृत्त और जो खुली है वह विवृत्त तथा जो कुछ अश मे ढंकी हुई और कुछ अश मे खुली हो वह सवृत्त-विवृत्त।

अन्य सम्प्रदाय भी ८४ लाख योनि की मान्यता रखते हैं, किन्तु उनकी गणना अन्य प्रकार से करते है।

अस्सिं च लोए अदु वा परत्था,
सयग्गसो वा तह अन्नहा वा।
संसारमावन्न परं परं ते,
बंधंति वेदंति य दुन्नियाणि ॥४॥

[सू० श्रु० १, अ० ७, गा० ४]

किये गये कर्म, इस जन्म मे अथवा अगले जन्म मे ही सही जिस तरह भी किये गये हो वे उसी तरह से अथवा अन्य प्रकार से फल देते है। ससार मे भ्रमण करता हुआ जीव मानसिक, वाचिक और कायिकादि दुष्कृतो के कारण निरन्तर नये-नये कर्म बाँधता ही रहता है तथा उनका फल भोगता है।

सव्वे सयकम्मकप्पिया,
अवियत्तेण दुहेण पाणिणो।

हिण्डन्ति भयाउला सढा,
जाइ-जरा-मरणेहिऽभिद्दुया ॥५॥
[सू० श्रु० १, अ० २, उ० ३, गा० १८]

सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों मे अवस्थित हैं। कर्मों की अधीनता के कारण एकेन्द्रियादि की अवस्था में वह अव्यक्त दुःख से दुःखित रहता है और अशुभ कर्मों के कारण जन्म, जरा और मृत्यु से सदा पीड़ित होता हुआ तथा भयाकुल बन चारगति-रूपी संसार मे भटकता है।

कामेहि य संथवेहि गिद्धा,
कम्मसहा कालेण जंतवो।
ताले जह बंधणच्चुए,
एवं आयुक्खयम्मि तुट्टती ॥६॥
[सू० श्रु० १, अ० २, उ० १, गा० ६]

कर्मों का फल भोगते हुए प्राणी अनेक प्रकार की भोगेच्छा तथा कुटुम्बियों के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं और मृत्यु का जरा भी विचार नही करते। किन्तु आयुष्य का क्षय होते ही बन्धन से मुक्त ताडफल के समान वे टूट पड़ते हैं, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

तेणे जहा संधिमुहे गहीए,
स कम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मोक्खु अत्थि ॥७॥
[उत्त० अ० ४, गा० ३]

जैसे चोर सेंघ के मुखभाग पर ही पकडा जाय और वह पापचारी अपने कर्म से मारा जाय, ठीक वैसे ही पाप करनेवाली आत्मा को भी इस लोक मे अथवा परलोक मे किये कर्म का फल भोगना पडता है। जो कर्म एक बार बाध लिये हैं वे लाख प्रयत्न के बावजूद भी छूट नही सकते।

विवेचन—एक वडा महल था। उस पर चढना अत्यन्त कठिन था, तथापि एक चोर उस पर चढ गया। उसने वहाँ सेंघ लगाई और धन लेकर चम्पत हो गया। दूसरे दिन प्रातः जनता वहाँ इकट्ठी हुई और कहने लगी कि 'अहो! यह तो कोई विचित्र चोर लगता है। न जाने वह इस महल पर किस प्रकार चढा होगा और इतने छोटे से सेंघ मे से भीतर जाकर किस तरह चोरी कर नौ दो ग्यारह हो गया होगा? इस प्रकार जनता को अपनी प्रशसा करते हुए सुनकर चोर प्रसन्न हो उठा और उसी स्थान पर खडा रह कर उल्लसित नयनों से सेंघ के स्थान को देखने लगा तथा जी भर कर उसकी प्रशंसा करने लगा। फलतः रक्षको ने समझ लिया कि यही चोर है। शीघ्र ही उसे गिरफ्तार कर राजा के समक्ष प्रस्तुत करने पर उसको फाँसी की सजा हुई। इस तरह चोर को अपने किये हुए कर्म का फल मिला। वैसे ही प्राणियो को भी अपने किये हुए कर्मों का फल मिलता है। कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नही।

तम्हा एएसिं कम्माणं, अणुभागा वियाणिया।
एएसिं संवरे चेव, खवणे य जए बुहो ॥८॥

[उत्त० अ० ३३, गा० २५]

अतः कर्मों का फल देने की शक्ति का विचार कर बुद्धिमान् लोग नये कर्मों के सचय को रोकने के लिए तथा पुराने कर्मों को क्षय करने में सदा प्रयत्नशील रहे।

जहा महातलागस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥९॥
एवं तु संजयस्सवि, पावकम्मनिरासवे।
भव कोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ ॥१०॥

[उत्त० अ० ३०, गा० ५-६]

जैसे किसी विशाल तालाव मे पानी आने के मार्ग को वन्द कर दिया जाता, और उसमे स्थित पानी को उलीच दिया जाता अथवा सूर्य के ताप से वह क्रमशः सूखा दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार संयमी पुरुष भी सवर द्वारा नये पापकर्मों को रोकता है और निर्जरा-तपश्चर्या द्वारा करोडो भव मे सचित कर्मों का नाश करता है।

विवेचन—कहने का आशय यह है कि कर्मो का नाश करने के लिए संवर अर्थात् सयमसाधना तथा निर्जरा अर्थात् अन्तर्बाह्य विविध प्रकार की तपश्चर्या दो ही प्रमुख साधन हैं।

रागो य दोसो वि य कम्मवीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥ ११ ॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ७]

राग और द्वेष ये दोनो कर्म के बीज है। ज्ञानियो का कथन है कि कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मूल है। इस जन्म-मरण को ही दुःख कहा जाता है।

सुक्कमूले जहा रुक्खे, सिंचमाणे ण रोहति।
एवं कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खयं गये ॥१२॥

[दशाश्रुत० अ० ५, गा० १४]

जैसे वृक्ष की जड सूख जाने पर उसे कितना ही सीचा जाय, वह हरी नही होती। वैसे ही मोहनीय कर्म का क्षय होने पर पुनः कर्म उत्पन्न नही होते।

जहा दड्ढाणं बीयाणं, ण जायंति पुण अंकुरा।
कम्मबीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा ॥१३॥

[दशाश्रुत० अ० ५, गा० १५]

जैसे दग्ध (भूने हुए) बीज मे से पुनः अङ्कुर प्रकट नही होते वैसे ही कर्मरूपी बीजो के दग्ध हो जाने पर—जल जाने पर उसमे से भी भवरूपी अङ्कुर प्रकट नही होते।

जह जीवा बज्झंति मुच्चंति जह य परिकिलिसंति जह
दुक्खाण अंतं करेंति केई अपडिबद्धा ॥ १४ ॥

[औप० सू० ३४]

जिस तरह जीव कर्म-बन्धन में फंस जाते है वैसे ही मुक्त भी होते है और जैसे कर्म के सचय से असख्य कष्टो का सामना करना

पड़ता है, वैसे ही कुछ कर्म से रहित होने पर सर्व दुःखों का अन्त हो जाता है।

अट्टदुहट्टियचित्ता जह जीवा दुःख सागरमुवेंति जह वेरग्गमुवगया कम्मसमुग्गं विहाडेंति ॥१५॥

[औप० सू० ३४]

जैसे आर्त्त-रौद्र ध्यान से विकल्प-चित्तवाले जीव दुःखसागर को प्राप्त होते हैं, वैसे ही वैराग्यप्राप्त जीव कर्म-समूह को नष्ट कर डालते हैं।

जह रागेण कडाणं कम्माणं पावगो फलविवागो जह य परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ॥१६॥

[औप० सू० ३५]

जैसे राग (द्वेष) द्वारा उपार्जित कर्मो का फल अनुचित होता है, वैसे ही सब कर्मों के क्षय से जीव सिद्ध होकर सिद्धलोक मे पहुँचता है।

जह मिउलेवालित्तं गरुयं तुबं अहो वयइ एवं।
आसवकयकम्मगुरु, जीवा वच्चंति अहरगइं ॥१७॥

तं चेव तव्विमुक्कं, जलोवरिं ठाइ जायलहुभावं।
जह तह कम्मविमुक्का, लोयग्गपइट्ठिया होंति ॥१८॥

[ज्ञातासूत्र अ० ६]

जिस प्रकार तुम्बी पर मिट्टी की तहे जमाने से वह भारी हो

जाती है, और डूबने लगती है, ठीक वैसे ही हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार तथा मूर्च्छा-मोह इत्यादि आश्रवरूपी कर्म करने से आत्मा पर कर्मरूपी मिट्टी की तहे जम जाती है और यह भारी वन अधोगति को प्राप्त हो जाती है। यदि तुम्वी के ऊपर की मिट्टी की तहे हटा दी जायँ तो वह हलकी होने के कारण पानी पर आजाती है और तैरने लगती है, वैसे ही यह आत्मा भी जब कर्म-बन्धनो से सर्वथा मुक्त हो जाती है, तब ऊर्ध्वगति प्राप्त करके लोकाग्र-भाग पर पहुँच जाती है और वहाँ स्थिर हो जाती है।

धारा : ५ :

कर्म के प्रकार

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परिवट्टई ॥ १ ॥
नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥ २ ॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥ ३ ॥

मैं आठ कर्मों का स्वरूप यथाक्रम कहता हूं जिनसे बद्ध यह जीव ससार मे विविध पर्यायो का अनुभव करता हुआ निरतर परिभ्रमण करता रहता है।

(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अतराय।

विवेचन—आत्मा मिथ्यात्व, अविरति आदि दोषों के कारण कार्मण वर्गणाओं को अपनी ओर आकृष्ट करती है और जब ये कार्मण-वर्गणाएं आत्मप्रदेश के साथ मिल जाती है, तब उसे 'कर्म' सज्ञा प्राप्त होती है। कर्म का मुख्य कार्य आत्मा की शक्तियो पर आवरण चढाना है। अतः इसे आत्मा का विरोधी तत्त्व माना जाता है।

कर्म के कुल आठ प्रकार है ज्ञानावरणीयादि। जिस कर्म के कारण आत्मा के ज्ञानगुण पर आवरण छा जाता है उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते है। यह कम आँख की पट्टीके के समान होता है। आँख मे देखने की शक्ति रहने पर भी पट्टी रहने के कारण वह बराबर देख नही सकती, वैसे ही आत्मा अनन्त ज्ञानवाली होने पर भी ज्ञानावरणीय-कर्म के कारण बराबर जान नही पाती।

जिस कर्म के द्वारा आत्मा की दर्शनशक्ति पर आवरण छा जाय उसे दर्शनावरणीय-कर्म कहते है। इसका कार्य राजा के प्रतिहारी जैसा होता है। जैसे प्रतिहारी राजा के दर्शन करने पर रोक लगाता है, वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म आत्मा को वस्तुस्वरूप के दर्शन से रोकती है।

जिस कर्म से आत्मा को साता (सुख) और असाता (दुःख) का अनुभव हो, उसे वेदनीय कर्म कहते है। यह कर्म शहद से लिपटी हुई तलवार की धार जैसा है। शहद लिपटी तलवार की धार चाटने पर जैसी साता उत्पन्न होती है—सुख मिलता है, वैसे ही जीभ कट जाने पर असाता उत्पन्न होती है, अत्यन्त पीड़ा होती है। यही बात आत्मा के विषय मे है। आत्मा मूलस्वरूप मे आदन्दघन होते हुए भी वेदनीय-कर्म के कारण वह कृत्रिम सुख-दुःखो का लगातार अनुभव करती रहती है।

जिस कर्म के द्वारा आत्मा के सम्यक् श्रद्धान और सम्यक् चारित्र-रूपी गुणो का अवरोध होता है, उसको मोहनीय-कर्म कहते हैं। यह कर्म मदिरापान के समान है। मदिरापान करने से मनुष्य में

मानसिक विकार उत्पन्न होता है, वैसे ही मोहनीय-कर्म के कारण आत्मा की निर्मल श्रद्धा का विपर्यास हो जाता है और शुद्ध चारित्र मे विकृति उत्पन्न होती है।

जिस कर्म के फलस्वरूप आत्मा को एक शरीर मे नियत समय तक रहना पड़े उसे आयुकर्म कहते हैं। यह कर्म कैद जैसा है। जैसे कैद मे डाला हुआ मनुष्य उसकी अवधि पूरी होने से पूर्व मुक्त नही हो सकता, वैसे ही आयुकर्म के कारण आत्मा तदर्थ नियत अवधि को पूर्ण किये विना धारण की हुई देह से मुक्त नही हो सकता।

जिस कर्म के परिणामस्वरूप आत्मा मूर्तावस्था को प्राप्त हो तथा शुभाशुभ शरीर को धारण करे उसे नामकर्म कहते हैं। यह कर्म चित्र-कार जैसा है। चित्रकार जैसे विविध रगो से चित्रों का निर्माण करता है, वैसे ही नामकर्म आत्मा के लिये धारण करने योग्य ऐसे अच्छे-बुरे भिन्न-भिन्न रूप, रग, अवयव, यश, अपयश, सौभाग्य, दुर्भाग्य आदि का निर्माण करता है।

जिस कर्म के द्वारा आत्मा को उच्च-नीचावस्था प्राप्त हो, उसे गोत्र-कर्म कहते हैं। यह कर्म कुम्हार जैसा है। कुम्हार जैसे मिट्टी के पिंड से छोटे और वडे पात्र वनाता है, वैसे ही इस कर्म के द्वारा जीव को उच्चकुल मे अथवा नीचकुल मे जन्म धारण करना पडता है।

जिस कर्म के द्वारा आत्मा की लब्धि—(शक्ति) मे विघ्न उपस्थित हो, उसे अन्तरायकर्म कहते हैं। यह कर्म राजा के भण्डारी जैसा है। राजा की आज्ञा मिल चुकने पर भी जैसे भण्डारी के दिये विना भण्डार मे रही सामग्री प्राप्त नही होती, वैसे ही अन्तराय कर्म

के कारण आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यरूप लब्धि का पूर्णरूपेण विकास नही होता।

मूलभूत स्वरूप मे जगत् के सभी जीव समान होने पर भी उनकी अवस्थाओ मे जो विचित्रता और विभिन्नता दीख पड़ती है, उसके मूल मे कर्म के उक्त प्रकार ही हैं।

नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं ॥४॥

ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार के है :—(१) श्रुतज्ञानावरणीय, (२) मतिज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मनःपर्यायज्ञानावरणीय तथा (५) केवलज्ञानावरणीय।

विवेचन—ज्ञान के पाँच प्रकार हैं :—(१) आभिनिबोधिक अथवा मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्यवज्ञान और (५) केवलज्ञान। इन पाँचो ज्ञानो को अवरुद्ध करनेवाले अलग-अलग कर्म होते हैं, इसलिये ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच प्रकार माने गये हैं। यहाँ श्रुतज्ञानावरणीय कर्म प्रथम और मतिज्ञानावरणीय कर्म दूसरा कहा है, किन्तु ज्ञान के क्रमानुसार मतिज्ञानावरणीय पहला और श्रुतज्ञानावरणीय दूसरा समझना चाहिये।

निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयलपयला य।
तत्तो अ थीणगिद्धी उ, पंचमा होई नायव्वा ॥५॥
चक्खुमचक्खू ओहिस्स, दंसणे केवले अ आवरणे।
एवं तु नवविगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ॥६॥

निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि (थीणद्धी) इस तरह निद्रा के पाँच प्रकार है।

इसके अतिरिक्त चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधि-दर्शनावरणीय तथा केवलदर्शनावरणीय इस प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के अन्य और चार प्रकार हैं। अतः दर्शनावरणीय कर्म के कुल नौ प्रकार समझने चाहिये।

विवेचन—निद्रा दर्शनशक्ति का अवरोध करनेवाली होने से उसकी गणना दर्शनावरणीय कर्म मे होती है। (१) सुखपूर्वक अर्थात् शब्द-मात्र से जगा सके ऐसी निद्रा 'निद्रा' कहलाती है। (२) दुःखपूर्वक अर्थात् बहुत झकझोरने से जगाया जा सके ऐसी निद्रा 'निद्रानिद्रा' कहलाती है। (३-४) बैठे-बैठे अथवा खडे-खडे ही निद्रा आ जाय लेकिन उनमे से सुखपूर्वक जगाया जा सके ऐसी निद्रा को 'प्रचला' और दुःखपूर्वक जगाया जा सके उसे 'प्रचला-प्रचला' कहते हैं। (५) जिसमे दिन मे चिन्तित कार्य कर लिया जाय और कुछ पता ही न लगे, ऐसी गाढ निद्रा को 'स्त्यानर्द्धि' अथवा 'थीणद्धी' निद्रा कहते हैं। इस निद्रा मे मनुष्य का बल असाधारण रूप मे बढ जाता है। विज्ञान ने भी ऐसी निद्रा की सूचना दी है और इनसे सम्बद्ध अनेक उदाहरणों का सग्रह किया है।

(६) जो चक्षुरिन्द्रिय द्वारा होनेवाले सामान्य बोध को रोक दे वह चक्षुदर्शनावरणीय, (७) जो चक्षु के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों तथा पाँचवे मन के द्वारा होने हुए सामान्य बोध को रोके वह अचक्षु-दर्शनावरणीय, (८) जो आत्मा को होनेवाले रूपी द्रव्य के सामान्य

बोध को रोके वह अवधिदर्शनावरणीय और (९) जो केवलदर्शन द्वारा होनेवाले वस्तुमात्र के सामान्य बोध को रोके वह केवलदर्शनावरणीय।

वेयणियं पि दुविहं, सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया, एमेव असायस्स वि ॥७॥

वेदनीय कर्म दो प्रकार के कहे गये हैं :—(१) सातावेदनीय और असातावेदनीय। इन दोनो के अवान्तर भेद अनेक है।

विवेचन—जिसके द्वारा शारीरिक तथा मानसिक सुखशान्ति का अनुभव हो वह 'सातावेदनीय' और दुःख तथा अशान्ति का अनुभव हो वह 'असातावेदनीय' कर्म कहलाता है।

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥८॥

मोहनीय कर्म भी दो प्रकार के है :—(१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय। इनमे दर्शनमोहनीय-कर्म तीन प्रकार का और चारित्रमोहनीय-कर्म दो प्रकार का कहा गया है।

सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिण्णि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥९॥

(१) सम्यक्त्वमोहनीय, (२) मिथ्यात्वमोहनीय और (३) मिश्रमोहनीय। इस प्रकार दर्शनमोहनीय-कर्म की तीन उत्तरप्रकृतियाँ हैं।

विवेचन—आत्मा अपने अध्यवसाय के बल पर मिथ्यात्व के पुद्गलो को शुद्ध करे और उसमे से मिथ्यात्वकारी मल निकल जाय, उसे

सम्यक्त्वमोहनीय कर्म कहते हैं। इस कर्म का उदय होने से जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति तो होती है; परन्तु जब तक वह अस्तित्व मे रहता है, तब तक मोक्ष की एक शुद्ध अवस्थास्वरूप क्षायिक सम्यक्त्व को रोकता है।

जिससे आत्मा मिथ्यात्व मे आसक्त हो जाय वह मिथ्यात्व-मोहनीय-कर्म कहलाता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित तत्त्व को अतत्त्व और अज्ञकथित तत्त्व को तत्त्व मानता है, सत्य को असत्य और असत्य को सत्य मानता है। और इसीलिये वह तत्त्व का—सत्य का आग्रह न रखते हुए अरुचि रखता है। जो अतत्त्व का—असत्य का आग्रह रखता है, वह सत्य का साक्षात्कार नही कर सकता। ऐसी स्थिति मे वह अन्य प्रकार की आध्यात्मिक प्रगति भला कैसे कर सकता है!

जिससे न मिथ्यात्व और न सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्व के प्रति रुचि भी नही और अरुचि भी नही—(कुछ मिथ्यात्व चला जाय और कुछ शेष रहे) उसे मिश्रमोहनीय-कर्म कहते हैं। उपर्युक्त प्रकार के कर्मोदय के समय जीव तत्त्व और अतत्त्व सत्य और असत्य दोनो के प्रति समान वृत्ति धारण करता है। फलतः सत्य के लिए आग्रही नही बन सकता—यह स्थिति भी आध्यात्मिक प्रगति के लिये उतनी ही बाधक है।

चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तं वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं तु, नोकसायं तहेव य ॥१०॥

चारित्रमोहनीय-कर्म दो प्रकार का कहा गया है :—(१) कषाय-मोहनीय और (२) नोकषायमोहनीय।

सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा, कम्मं च नोकसायजं ॥११॥

कषायमोहनीय-कर्म के सोलह प्रकार है और नोकषायमोहनीय-कर्म के सात अथवा नौ प्रकार हैं।

विवेचन—जीव के शुद्ध स्वरूप को कलुषित करनेवाला तत्त्व कषाय कहलाता है, अथवा जो अनेक प्रकार के सुख और दुःख के फलयोग्य कर्मक्षेत्र का कर्षण करता है—वह कषाय कहलाता है। अथवा जिससे कष, यानी ससार का, आय यानी लाभ हो अर्थात् संसार की वृद्धि हो वह कषाय कहलाता है। कषाय के मुख्य चार प्रकार हैं : (१) क्रोध, (२) मान (अभिमान), (३) माया (कपट), तथा (४) लोभ (तृष्णा)। इन प्रत्येक के तरतमता के अनुसार (१) अनन्तानुबन्धी, (२) प्रत्याख्यानी, (३) अप्रत्याख्यानी तथा (४) सज्वलन ऐसे चार-चार भेद है। इस तरह कषाय के कुल सोलह प्रकार होते है।

अनन्तानुबन्धी कषाय अत्यन्त तीव्र होते है। प्रत्याख्यानी कषाय केवल तीव्र होते है जबकि अप्रत्याख्यानी कषाय मन्द होते है और सज्वलन कषाय अति मन्द।

कषाय की तरतमता को समझने के लिये जैन शास्त्रो मे निम्न दृष्टान्त दिये गये हैं—

क्रोध

अनन्तानुबन्धी—पर्वत मे पडी हुई दरार के समान। जिस तरह पर्वत मे पडी दरार पुनः जुडती नही, वैसे ही इस प्रकार का क्रोध उत्पन्न होने पर जीवन भर शान्त होता नही।

अप्रत्याख्यानी—पृथ्वी मे पडी हुई दरार के समान। जैसे पृथ्वी मे पडी हुई दरार वर्षा आने पर पट जाती है, ठीक वैसे ही इस प्रकार का क्रोध उत्पन्न हुआ हो तो अधिक से अधिक एक वर्ष में शान्त हो जाता है।

प्रत्याख्यानी—रेती मे खीची हुई रेखा के समान। रेती मे खीची हुई रेखा वायु का झोका आने पर मिट जाती है, इसी तरह ऐसा क्रोध उत्पन्न हुआ हो तो अधिक से अधिक एक मास में शान्त हो जाता है।

सज्वलन—पानी मे खीची गई रेखा के समान। पानी मे खीची गई रेखा जैसे शीघ्र नष्ट हो जाती है, वैसे ही इस तरह का क्रोध उत्पन्न हुआ हो तो अधिक से अधिक पन्द्रह दिन मे शान्त हो जाता है।

मान

अनन्तानुबन्धी—पत्थर के खम्भे के समान, जो किसी प्रकार झुकता ही नही।

अप्रत्याख्यानी—हड्डी के समान, जो अत्यन्त कष्ट से झुकता है।

प्रत्याख्यानी—काष्ठ के समान, जो उपाय करने पर झुकता है।

सज्वलन—बेंत की लकडी के समान, जो सरलता से झुक जाता है।

माया

अनन्तानुबन्धी—बाँस के कठोर जड जैसी, जो किसी प्रकार अपनी वक्रता को नही छोडती।

अप्रत्याख्यानी—भेड़ के सीग जैसी, जो बडे प्रयत्न से अपनी वक्रता छोडती है।

प्रत्याख्यानी—वैल के मूत्र की धारा जैसी, जो वायु के झोके से दूर हो जाय।

संज्वलन—बाँस की चीपट के समान।

लोभ

अनन्तानुबन्धी—किरमच के रग जैसा, जो एक बार चढने पर उखड नही जाता।

अप्रत्याख्यानी—गाडी के कीटे जैसा, जो एक बार वस्त्र को गन्दा कर लेने पर बहुत प्रयत्न से मिटता है।

प्रत्याख्यानी—कीचड जैसा कि जो कपडो पर पड जाने पर सामान्य प्रयत्न से दूर हो जाता है।

सज्वलन—हल्दी के रंग जैसा जो सूर्य की धूप लगते ही दूर हो जाय।

नोकषाय के सात प्रकार होते है :—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा और (७) वेद (जातीय सज्ञा—Sexual instinct)।

यदि वेद के स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद आदि तीन प्रकार मान लें तो हास्यादि छह और तीन वेद मिलकर नौ प्रकार हो जाते है।

नेरइयातिरिक्खाउं, मणुस्साउं तहेव य।
देवाउअं चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥१२॥

आयुकर्म के चार प्रकार हैं—(१) नरकायु, (२) तीर्यंचायु, (३) मनुष्यायु और (४) देवायु।

विवेचन—जीव को जिसके कारण नरकयोनि मे रहना पडे, वह नरकायु, तिर्यंच योनि मे रहना पड़े, वह तिर्यंचायु, मनुष्य योनि मे रहना पड़े, वह मनुष्यायु और देवयोनि मे रहना पडे, वह देवायु।

नामकम्मं तु दुविहं सुहमसुहं च आहियं।
सुहस्स उ बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ॥१३॥

नामकर्म दो प्रकार का कहा गया है—(१) शुभ और (२) अशुभ। शुभ नाम-कर्म के अनेक भेद हैं, और अशुभ नाम-कर्म के भी अनेक भेद हैं।

विवेचन—जिसके योग से जीव को मनुष्य और देव की गति, सुन्दर अङ्ग-उपाङ्ग, अच्छा स्वरूप, वचन की मधुरता, लोकप्रियता, यशस्विता आदि प्राप्त हों, वह शुभ नामकर्म कहा जाता है। और नरक तथा तिर्यंच की गति, वेडोल अङ्ग-उपाङ्ग, कुरूपता, वचन की कठोरता, अप्रियता, अपयश आदि प्राप्त हों वह अशुभ नामकर्म कहा जाता है।

शुभ नाम-कर्म के अनन्त भेद है, किन्तु मध्यम अपेक्षा से ३७ भेद माने जाते है और अशुभ नाम-कर्म के भी अनन्त भेद हैं, किन्तु मध्यम अपेक्षा से ३४ भेद माने जाते हैं। इनका विस्तार कर्मग्रन्थों से जानना।

गोयकम्मं तु दुविहं, उच्चं नीयं च आहियं।
उच्चं अट्ठविहं होइ, एवं नीयं वि आहियं ॥१४॥

गोत्रकर्म दो प्रकार का होता है—(१) उच्च और (२) नीच। इन दोनो के आठ-आठ और प्रकार कहे गये है।

विवेचन—उच्च गोत्रकर्म के आठ प्रकार इस तरह समझना चाहिये :—(१) उच्च जाति मे उत्पन्न होना, (२) उच्च कुल में उत्पन्न होना, (३) बलवान् बनना, (४) सौन्दर्यशाली होना, (५) तपस्वी बनना, (६) यथेष्ठ अर्थप्राप्ति होना, (७) विद्वान् बनना और (८) सम्पत्तिशाली बनना। जबकि नीचगोत्रकर्म के आठ प्रकार इनसे विपरीत समझना चाहिए।

दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं ॥१५॥

[उत्त० अ० ३३, गा० १ से १५]

अन्तराय कर्म को सक्षेप मे पाँच प्रकार का कहा गया है—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय।

विवेचन— दान देने की वस्तु विद्यमान रहने पर तथा उसके देने से होनेवाले लाभो का ज्ञान होते हुए भी, जिसके कारण दान नहीं दिया जा सके, वह दानान्तराय-कर्म कहलाता है। इसी तरह प्रयत्न करने पर भी जिस कारण किसी वस्तु का लाभ न हो उसे लाभान्तराय-कर्म कहते है। खान-पानादि सभी सामग्रियो के विद्यमान होने पर

भी जिस वजह उसका खाने-पीने मे उपयोग न किया जा सके और कदाचित् खा-पी सके तो उसका पाचन न हो सके वह भोगान्तराय-कर्म। जो एक वार ही काम में आये उसे भोग्य पदार्थ कहते हैं, जैसे भोजन, पानी आदि। जो वार-वार उपयोग में लिया जा सके उसे उपभोग्य कहते हैं, जैसे वस्त्र, आभूषण आदि। जिसके कारण उपभोग की सामग्री जव चाहिये तव और जितने प्रमाण मे चाहिए उतने प्रमाण मे स्वाधीन रहते हुए भी उपयोग में न आ सके, वह उपभोगान्तराय कर्म। और जिसके उदय मात्र से स्वय युवा और बलवान् होने पर भी कोई कार्य सिद्ध न कर सके वह वीर्यान्तराय-कर्म कहलाता है।

उदहीसरिसनामाणं, तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होई, अन्तोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१६॥
आवरणिज्जाण दुण्हं पि, वेयणिज्जे तहेव य।
अन्तराए य कम्मंमि, ठिई एसा वियाहिया ॥१७॥

[उत्त० अ० ३३, गा० १९-२०]

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय तथा अन्तराय इन चार कर्मों को जघन्य स्थिति अन्तर्मूहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम की होती है।

विवेचन—जब आत्मप्रदेशों के साथ कर्म का बन्धन होता है, तभी उनकी स्थिति अर्थात् टिकने का समय भी निश्चित हो जाता है। अतः वे इतने समय तक आत्मा के साथ बने रहते हैं। उसका

जघन्य अर्थात् कम से कम और उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक कितना प्रमाण होता है; इसी बात का यहाँ स्पष्टीकरण किया गया है। नौ समय से लेकर दो घडी मे एक समय न्यून को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं।

उदहीसरिसनामाणं, सत्तरिं कोडिकोडीओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अन्तोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१८॥
तित्तीसं सागरोवमा, उक्कोसेण वियाहिया।
ठिई उ आउकम्मस्स, अन्तोमहुत्तं जहण्णिया ॥१९॥
उदहीसरिसनामाणं वीसई कोडिकोडिओ।
नामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ठ मुहुत्ता जहण्णिया ॥२०॥

[उत्त० अ० ३३, गा० २१-२२-२३]

मोहनोयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है। आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैतीस सागरोपम और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है। नामकर्म और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट-स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की होती है।

धारा : ६ :

दुर्लभ संयोग

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥१॥

इस संसार मे प्राणी मात्र को मनुष्यजन्म, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम की प्रवृत्ति जैसे चार उत्तम अङ्गों की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

समावण्णाण संसारे, णाणागोत्तासु जाइसु ।
कम्मा णाणाविहा कट्टु, पुढो विस्संभिया पया ॥२॥

संसार मे भिन्न-भिन्न गोत्र और जाति मे पैदा हुए जीव विविध कर्म करके ससार मे भिन्न-भिन्न स्वरूप मे उत्पन्न होते हैं।

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिं गच्छई ॥३॥

अपने कर्म के अनुसार यह जीव किसी समय देवलोक मे, किसी समय नरक मे तो किसी समय असुरकाय मे (भुवनपति इत्यादि मे) उत्पन्न होता है।

एगया खत्तिओ होई, तओ चंडाल वुक्कसो ।
तओ कीड—पयंगो य, तओ कुंथू—पिवीलिया ॥४॥

जीव किसी समय क्षत्रिय, किसी समय चाण्डाल, किसी समय वुक्कस, (वर्णसंकर जाति), किसी समय कीट, किसी समय पतंग, किसी समय कुंथू और किसी समय चीटी भी बनता है ।

एवमावट्टजोणीसु, पाणिणो कम्मकिव्विसा ।
ण णिव्विज्जंति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥५॥

सर्वप्रकार की ऋद्धि-वैभव होने पर भी जिस तरह क्षत्रियो की राज्यतृष्णा शान्त नही होती, ठीक उसी तरह कर्मरूपी मैल से लिपटे जीव भी अनेकविध योनियो मे परिभ्रमण करने के बावजूद भी विरक्त नही होते ।

कम्मसंगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥६॥

कर्म के सम्बन्ध से मूढ बने हुए प्राणी असख्य वेदनाएं प्राप्त कर तथा दुःखी होकर मनुष्ययोनि के अतिरिक्त दूसरी योनियो में जन्म धारण कर बार-बार हना जाता है ।

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययति मणुस्सयं ॥७॥

क्रमशः अर्थात् एक योनि मे से दूसरी योनि मे भटकते हुए, की गई अकामनिर्जरा के कारण कर्मों का भार हलका हो जाने

से जीव-शुद्धि को पाता है और किसी समय मनुष्ययोनि मे जन्म धारण करता है।

विवेचन—अज्ञान अथवा मूढ दशा मे दुःख सहन करते हुए कर्म की जो निर्जरा होती है, वह अकामनिर्जरा कहलाती है।

मानव-जन्म की दुर्लभता समझने के लिये श्रीभद्रबाहुस्वामी ने श्री उत्तराध्ययन-सूत्र की निर्युक्ति मे निम्नलिखित दस दृष्टान्त दिये हैं :—

(१) चूल्हे का दृष्टान्त—चक्रवर्ती राजा छह खण्ड पृथ्वी का अधिपति होता है। उसके राज्य मे कितने चूल्हे होते हैं? प्रथम चक्रवर्ती के चूल्हे पर भोजन हो और बाद मे प्रत्येक चूल्हे पर भोजन करना हो तो चक्रवर्ती के चूल्हे पर भला पुनः भोजन का कब अवसर आवे?

(२) पासों का दृष्टान्त—किसी खेल में यन्त्रमय पासों का उपयोग करके किसी का सारा धन जीत लिया गया हो और उस पराजित मनुष्य को अक्ष-क्रीड़ा से फिर अपना धन प्राप्त करना हो, तो भला कब तक प्राप्त हो?

(३) धान्य का दृष्टान्त—लाखों मन धान्य के ढेर मे यदि सरसो के थोडे दाने मिला दिये हों और उन्हे वापस निकालने का प्रयत्न किया जाय तो भला कब मिल सकते हैं?

(४) द्यूत-क्रीडा का दृष्टान्त—किसी राजमहल के १००८ स्तम्भ हो और उनमे से प्रत्येक स्तम्भ के १०८ विभाग हों तथा उक्त प्रत्येक विभाग को जूआ मे जीतने पर ही राज्य मिलता हो, तो भला वह राज्य कब मिल सकेगा?

(५) रत्न का दृष्टान्त—सागर मे प्रवास करते समय पास मे रहे रत्न अगाध जल मे डूब जायँ तो भला खोज करने के बावजूद भी वे रत्न कब तक मिल सकेंगे ?

(६) स्वप्न का दृष्टान्त—राज्य की प्राप्ति करानेवाला शुभ स्वप्न देखा हो और उससे राज्य की प्राप्ति भी हो गई हो। यदि ऐसा ही स्वप्न पुनः लाने के लिये कोई प्रयत्न करे, तो भला ऐसा स्वप्न पुनः कब ला सकता है ?

(७) चक्र का दृष्टान्त—चक्र अर्थात् राधावेध। खम्भे के ऊंचे सिरे पर यन्त्र-प्रयोग से चक्राकार मे एक पुतली घूमती हो, उसका नाम राधा। स्तम्भ के नीचे तेल की कढाई उभलती हो, खम्भे के मध्य भाग मे एक तराजू बिठा दिया गया हो और उसमे खड़े रहकर नीचे की कढाई मे पडे राधा के प्रतिबिंब के आधार पर बाण मारकर उसकी बांई आँख बीधना हो तो भला कब बीध सकता है।

(८) चर्म का दृष्टान्त—यहाँ चर्म शब्द का अर्थ चमडे जैसी मोटी सरोवर के ऊपर की शैवाल है। किसी पूर्णिमा की रात्रि मे वायु के तेज झोका से शैवाल जरा इधर-उधर हो जाय, फलस्वरूप उसके नीचे छिपा हुआ कोई कछुआ चन्द्रमा के दर्शन कर ले और यदि वह पुनः वैसा ही चन्द्र-दर्शन अपने सगे-सम्बन्धियो को कराना चाहे तो भला कब करवा सकता है ? वायु के झोको से उसी स्थान पर शैवाल का इधर-उधर खिसकना और वैसे ही पूर्णिमा की रात्रि का होना, यह सब कितना दुर्लभ है ?

(९) *युग का दृष्टान्त*—युग अर्थात् धुरा-जूड़ा। बैल के कन्धे पर उसे बराबर बिठाने के लिये लकड़ी के एक छोटे डण्डे का उपयोग किया जाता है। यदि वह जूडा महासागर के एक छोर से पानी मे डाली गई हो और दूसरे छोर से लकड़ी, तो भला उस जूडे पर वह लकड़ी कब बैठ सकेगी ?

(१०) *परमाणु का दृष्टान्त*—एक स्तम्भ का अत्यन्त महीन चूर्ण करके फूंकनी मे भर दिया हो और किसी पर्वत के शिखर पर खड़ा होकर फूंक द्वारा उसे हवा मे उड़ा दिया जाय तो भला उक्त चूर्ण के सभी परमाणु पुनः कब एकत्र हो सकते हैं ?

यदि इन सभी प्रश्नों का उत्तर 'बहुत समय और बहुत कष्ट के बाद' यही है तो मनुष्यजन्म भी दीर्घावधि के पश्चात् और अत्यधिक कष्टों के बाद प्राप्त होता है, अर्थात् वह अतिदुर्लभ है।

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खन्तिमहिंसियं ॥८॥

कदाचित् मनुष्यजन्म मिल भी जाय तो भी धर्मशास्त्र के वचन सुनना अत्यन्त दुर्लभ है, जिन्हे सुनकर जीव तप, क्षमा तथा अहिंसा को स्वीकार करता है।

आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा णेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥ ९ ॥

कदाचित् धर्मशास्त्रों के वचन सुन भी ले, तो भी उस पर श्रद्धा होना अति दुर्लभ है। न्यायमार्ग पर चलने की बात सुनकर भी बहुत

से लोग (उसका अनुसरण नही करते और दुराचारी स्वच्छन्दी जीवन विताकर) भ्रष्ट बन जाते है।

सुई च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं।
वहवे रोयमाणा वि, णो य णं पडिवज्जई ॥ १० ॥

कदाचित् धर्मशास्त्रों के वचन मुने हो और उन पर श्रद्धा भी जम गई हो, पर सयम-मार्ग मे वीर्यस्फुरण होना अर्थात् प्रवृत्ति करना अत्यन्त कठिन है। वहुत से लोग श्रद्धासम्पन्न होते हुए भी सयममार्ग मे प्रवृत्त नही होते।

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥ ११ ॥

जो जीव मनुष्य-जीवन प्राप्त करके धर्मशास्त्र के वचन सुनता है, उस पर श्रद्धा रखता है, और सयम-मार्ग मे प्रवृत्त होता है, वह तपस्वी और सवृत्त (सवरवाला) बनकर अपने (बद्ध और बद्ध्यमान) सभी कर्मों का क्षय कर देता है, अर्थात् मुक्ति प्राप्त करता है।

सोही उज्जुभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तेव्व पावए ॥ १२ ॥

सरलता से युक्त आत्मा की शुद्धि होती है और ऐसी आत्मा मे ही धर्म स्थिर रह सकता है। घृत से सीची हुई अग्नि के समान वह देदीप्यमान होकर परम निर्वाण (मुक्ति) को प्राप्त करता है।

विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए।
पाढवं सरीरं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥ १३ ॥

कर्मो के कारण को अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति आदि को दूर करो। क्षमा, सरलता, मृदुता, निर्लोभतादि प्राप्त कर यश का संचय करो। ऐसा करनेवाला मनुष्य पार्थिव शरीर छोडकर ऊर्ध्व दिशा की ओर प्रयाण करता है, अर्थात् स्वर्ग अथवा मोक्ष मे जाता है।

विसालिसेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तर उत्तरा।
महासुक्का व दिप्पंता, मन्नंता अपुणच्चयं ॥ १४ ॥

उत्कृष्ट आचारो का पालन करने से जीव उत्तरोत्तर विमानवासी देव वनता है। वहाँ वह अतिशय सुशोभित और देदीप्यमान शरीर धारण करता है तथा स्वर्गीय सुखों मे इतना लीन हो जाता है कि 'मुझे अव यहाँ से च्यवित नही होना है' ऐसा समझ लेता है।

अप्पिया देवकामाणं, कामरूवविउव्विणो ।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति, पुव्वा वाससया वहू ॥ १५ ॥

देव सम्वन्धित काम-सुखों को प्राप्त एव इच्छानुसार रूप धारण करने की शक्तिवाले ये देव अनेक सैकडों पूर्व वर्षो तक ऊँचे स्वर्ग मे रहते हैं।

विवेचन—एक पूर्व=७०५६०००००००००० सत्तर हजार पाँच सौ साठ अरव वर्ष।

तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया।
उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायइ ॥ १६ ॥

वहाँ अपने-अपने स्थान रहे हुए ये देव आयुष्य का क्षय होने पर मनुष्ययोनि को प्राप्त करते हैं और उन्हे दस अगो की प्राप्ति होती है।

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दास-पोरुसं।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥ १७ ॥

उक्त स्वर्ग मे से च्यवित देव जहाँ क्षेत्र (खुली जगह—बाग-बगीचा आदि), वास्तु (मकान, महल आदि), हिरण्य (सोना, चाँदी, जवाहरात, आदि) और पशु तथा दास-दासी रूपी चार कामस्कन्ध अर्थात् सुखभोग की सामग्री हों, वहाँ जन्म धारण करते है ।

मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोत्ते य वण्णवं।
अप्पायके महापन्ने, अभिजाय जसो बले ॥ १८ ॥

[ऊपर चार काम-स्कन्धरूपी एक अग का निर्देश किया गया है। शेष अन्य नौ अगो का वर्णन इस गाथा मे किया गया है] (२) उसके अनेक सन्मित्र होते है, (३) उसके बहुत से कुटुम्बिजन होते है, (४) वह उत्तम गोत्र मे जन्म लेता है, (५) सौन्दर्यशाली होता है, (६) व्याधि-रहित होता है, (७) बुद्धि-सम्पन्न होता है, (८) विनयी होता है, (९) यशस्वी होता है और (१०) बलवान् भी होता है। इस प्रकार उसे दस अग की प्राप्ति होती है।

भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं।
पुव्विं विसुद्ध सद्धम्मे, केवलं बोहि बुज्झिया ॥१९॥

आयुष्य के अनुसार मनुष्य योनि के उत्तमोत्तम भोग भोगकर तथा पूर्वभव मे किये हुए शुद्ध धर्म के आचरण के फलस्वरूप वह सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है।

चउरंगं दुल्लहं नच्चा, संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए ॥२०॥

[उत्त० अ० ३, गा० १-२०]

इन चार अङ्गों को दुर्लभ जानकर मनुष्य को संयम-मार्ग ग्रहण करना चाहिये । तप द्वारा कर्मों को दूर कर देनेवाला मनुष्य शाश्वत सिद्ध होता है ।

—:०:—

आत्म-जय

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो ॥१॥

[उत्त० अ० २३, गा० ७३]

शरीर को 'नौका' कहा गया है, आत्मा को 'नाविक' कहा गया है और इस ससार को 'समुद्र' कहा गया है, जिसे महर्षिगण पार कर जाते है।

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो,
सव्विन्दिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ॥२॥

[दश० चूलिका २, गा० १६]

सर्व इन्द्रियो को बराबर समाधियुक्त कर आत्मा को पाप-प्रवृत्ति से निरन्तर बचाते रहना चाहिये, क्योकि इस प्रकार नही बचाई गई आत्मा जन्मो की परम्परा प्राप्त करती है, जबकि सुरक्षित आत्मा समस्त दुःखो से मुक्त होती है।

जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ,
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।
तं तारिसं नो पइलन्ति इन्दिया,
उवंति वाया य सुदंसणं गिरिं ॥३॥

[दश० चूलिका १, गा० १७]

जिस तरह वायु का प्रचण्ड झोका मेरुपर्वत को नही डिगा सकता, ठीक उसी तरह 'शरीर को भले ही छोड़ दूं किन्तु धर्म-शासन को कदापि नही छोडूंगा' ऐसी दृढ निश्चयवाली आत्मा को इन्द्रियाँ कभी भी विचलित नही कर सकती ।

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥४॥

[उत्त० अ० १, गा० १५]

आत्मा का ही दमन करना चाहिये । वस्तुतः आत्मा दुर्दम्य है । उसका दमन करनेवाला इस लोक और परलोक मे सुखी होता है ।

विवेचन—यहाँ आत्मा से अपनी आन्तरिक वृत्तियाँ समझना ।

वरं मे अप्पा दन्तो, संयमेण तवेण य ।
माऽहं परेहि दम्मन्तो, बंधणेहि वहेहि य ॥५॥

[उत्त० अ० १ गा० १६]

दूसरे भव मे कोई अन्य मेरी आत्मा को बन्धन मे डाले और उसे मार-मार कर दमन करे उसकी अपेक्षा यहाँ मैं स्वय ही अपनी आत्मा का सयम और तप के द्वारा दमन करूं, यही श्रेष्ठ है ।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं ॥६॥

[उत्त० अ० २०, गा० ३६]

मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है, मेरी आत्मा ही कूट शाल्मली वृक्ष है, मेरी आत्मा ही कामधेनु है और मेरी आत्मा ही नन्दन वन है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुक्खाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय-सुपट्ठिओ ॥७॥

[उत्त० अ० २०, गा० ३७]

आत्मा स्वय ही दुःख तथा सुखो को उत्पन्न तथा नाश करनेवाली है। सन्मार्ग पर चलनेवाली सदाचारी आत्मा मित्ररूप है, जब कि कुमार्ग पर चलनेवाली दुराचारी आत्मा शत्रु ।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥८॥

[उत्त० अ० ९, गा० ३४]

पुरुष दुर्जय संग्राम मे दस लाख शत्रुओ पर विजय प्राप्त करे उसकी अपेक्षा तो वह अपनी आत्मा पर ही विजय प्राप्त कर ले, यही श्रेष्ठ विजय है।

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥९॥

[उत्त० अ० ९, गा० ३५]

हे पुरुष ! तू आत्मा के साथ ही युद्ध कर। बाहरी शत्रुओं के साथ भला किस लिये लड़ता है ? आत्मा के द्वारा ही आत्मा को जीतने मे सच्चा सुख मिलता है।

पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं ॥१०॥

[उत्त० अ० ९, गा० ३६]

पाँच इन्द्रियो, क्रोध, मान, माया और लोभादि की वृत्तियाँ दुर्जय हैं, ठीक वैसे ही आत्मा को जीतना बहुत कठिन है। जिसने आत्मा को जीत लिया उसने सबको जीत लिया।

न तं अरी कंठछित्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥११॥

[उत्त० अ० २०, गा० ४८]

दुराचार मे प्रवृत्त आत्मा हमारा जितना अनिष्ट करती है, उतना अनिष्ट तो गला काटने वाला कट्टर शत्रु भी नही करता। ऐसा निर्दयी मनुष्य मृत्यु के समय अवश्य अपने दुराचार को पहचानेगा और फिर पश्चात्ताप करेगा।

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं,
सम्मं च नो फासयई पमाया ।

अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे,
न मूलओ छिन्दइ बंधणं से ॥१२॥

[उत्त० अ० २०, गा० ३९]

जो साधक प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् भी—प्रमादवश अङ्गीकृत महाव्रतों का उचित रूप से पालन नही करता और विविध रसो के प्रति लोभी बनकर अपनी आत्मा का निग्रह नही करता उसके बन्धन जड मूल से कभी नष्ट नही होते।

से जाणं अजाणं वा, कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं, बीयं तं न समायरे ॥१३॥

[द० अ० ८, गा० ३१]

यदि विवेकी मनुष्य जाने-अनजाने मे कोई अधर्म कृत्य कर बैठे तो उसे अपनी आत्मा को शीघ्र ही उस से दूर कर ले और फिर दूसरी बार वैसा कार्य नही करे।

पुरिसा! अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि ॥१४॥

[आ० अ० ३, उ० २, सू० ११६]

हे पुरुष! तू अपनी आत्मा को ही वश मे कर। ऐसा करने से तू सब दुःखो से मुक्त हो जायगा।

धारा : ८ :

मोक्षमार्ग

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयमग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥१॥

[उत्त० अ० २८, गा० ३]

ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप [ये मोक्षमार्ग हैं।] इस मार्ग पर चलनेवाले जीव सुगति में जाते हैं।

विवेचन—सभी मुमुक्षु मोक्षप्राप्ति की अभिरुचि रखते हैं, परन्तु मोक्ष की इस अवस्था पर पहुंचने का सच्चा विश्वास-पात्र मार्ग कौन-सा है? यह जानना आवश्यक है। इसीलिये यहाँ स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप की यथार्थ आराधना ही मोक्षप्राप्ति का सच्चा मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण करनेवाले अवश्य सुगति में अर्थात् मोक्ष में जाते हैं।

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥२॥

[उत्त० अ० २८, गा० ३५]

ज्ञान से पदार्थ जाने जा सकते हैं, दर्शन से उस पर श्रद्धा होती

है, चारित्र से कर्म का आस्रव रुकता है और तप से आत्मा की सम्पूर्ण शुद्धि होती है।

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं ॥३॥

[उत्त० अ० २८, गा० ४]

इनमें ज्ञान पाँच प्रकार का है :—(१) आभिनिबोधिक, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मनःपर्यव और (५) केवल।

विवेचन—मोक्ष के चतुर्विध साधनो मे ज्ञान का क्रम पहला है, अतः उसका वर्णन प्रथम किया गया है। जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान हो, वस्तु पहचान मे आवे, अथवा वस्तु समझी जाय, वह ज्ञान कहलाता है। इसके पाँच प्रकार है, आभिनिबोधिक आदि।

पाँच इन्द्रियाँ तथा छठे मन के द्वारा जो अर्थाभिमुख निश्चयात्मक बोध होता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है। इसी को मतिज्ञान भी कहते हैं। हम स्पर्श कर, चख कर, सूघ कर, देख कर तथा सुन कर जो ज्ञान प्राप्त करते है, वह मतिज्ञान है।

इस ज्ञान की प्राप्ति चार भूमिकाओं में होती है। जिसमें से पहली भूमिका का नाम अवग्रह है, दूसरी का ईहा, तीसरी का अपाय और चौथी का धारणा।

एक वस्तु का स्पर्श होने पर 'कुछ है' ऐसा जो ज्ञान अव्यक्त-रूप में होता है वह अवग्रह कहलाता है। 'यह क्या होगा ?' ऐसा जो विचार पैदा होता है वह है ईहा। 'यह वस्तु वही है' ऐसा जो निर्णय होता है वह अपाय कहलाता है। तथा 'मुझे इस वस्तु का स्पर्श हुआ'

ऐसा जो स्मरण, वह धारणा कहलाती है। लकडी का स्पर्श होते ही 'लकडी का स्पर्श मुझे हुआ' ऐसा अनुभव होता है। किन्तु इतनी अवधि मे तो उक्त चारों क्रियाएं अत्यन्त शीघ्रता से हो जाती हैं। अज्ञात वस्तु का स्पर्श होने पर ये क्रियाएं मन्दगति से होती हैं, तव उसका ज्ञान होता है, जवकि चिरपरिचित वस्तु मे उपयोग अति शीघ्र रहता है, इसलिये उसका ज्ञान नही होता।

श्रुतज्ञान का सादा अर्थ है—सुनकर प्राप्त किया हुआ ज्ञान। हम व्याख्यान सुनकर अथवा पुस्तक पढकर जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह यह दूसरे प्रकार का श्रुतज्ञान है।

प्रत्येक ससारी जीव मे ये दोनो ज्ञान व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप मे अवश्य रहते हैं।

आत्मा को रूपी द्रव्यो का अमुक काल और अमुक क्षेत्र तक मर्यादित जो ज्ञान होता है वह है अवधिज्ञान। दूसरे के मन के पर्यायों—भावों का जो ज्ञान होता है वह है मनःपर्यव अथवा मनःपर्यवज्ञान है, और प्रत्येक वस्तु के सभी पर्यायों का सर्वकालीन जो ज्ञान होता है वह है केवलज्ञान।

अवधिज्ञान नारकीय और देव के जीवों को सहज मे होता है अर्थात् वे जन्म लेते हैं तव से ही अवधिज्ञान से युक्त होते हैं, जवकि तिर्यंच तथा मनुष्यों को यह ज्ञान विशिष्ट लब्धि से प्राप्त होता है। मनःपर्यव और केवलज्ञान केवल मनुष्य को ही प्राप्त होता है और उसके लिये विशिष्टावस्था की अपेक्षा रहती है।

अवधि, मनःपर्यव और केवल ये तीनों ज्ञान इन्द्रिय और मन

की सहायता के बिना आत्मा को सीधे ही प्राप्त होते है, अतः इनकी गणना प्रत्यक्ष-ज्ञान में की जाती है। इसकी अपेक्षा आभिनिबोधिक ज्ञान तथा श्रुतज्ञान परोक्ष है, जबकि व्यवहार की गणना इससे भिन्न है। व्यवहार मे इन्द्रिय और मन के निमित्त से होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है और अनुमान, शब्द आदि से होनेवाले सीधे ज्ञान को परोक्ष कहते है। शास्त्रकारो ने संव्यवहारिक-प्रत्यक्ष और संव्यवहारिक-परोक्ष के रूप मे इसकी सूचना दी है।

एयं पंचविहं नाणं, दव्वाण य गुणाण य।
पज्जवाणं य सव्वेसिं, नाणं नाणीहि देसियं ॥४॥

[उत्त० अ० २८, गा० ५]

सर्वद्रव्य, सर्वगुण और सर्वपर्यायो का स्वरूप जानने के लिये ज्ञानियो ने पाँच प्रकार का ज्ञान बतलाया है।

विवेचन—इस कथन का तात्पर्य यह है कि कोई भी ज्ञेय वस्तु इन पाँच ज्ञान की मर्यादाओ से बाहर नही है।

पाँच ज्ञानो का स्वरूप तथा उनकी प्रक्रिया नन्दिसूत्र तथा विशेषावश्यकभाष्य मे विस्तारपूर्वक समझाई गई है। *

जीवाऽजीवा बंधो य, पुण्णं पावाऽसवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संते ए तहिया नव ॥५॥

[उत्त० अ० २८, गा० १४]

---

* इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए सम्पादक द्वारा गुजराती माध्यम से लिखी गई 'ज्ञानोपासना' (धर्मबोध-ग्रन्थमाला की आठवीं पुस्तक) देखनी चाहिये।

(१) जीव, (२) अजीव, (३) बंध, (४) पुण्य, (५) पाप, (६) आश्रव, (७) सवर, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष ये नव तत्त्व हैं।

विवेचन—इस जगत् मे जो कुछ जानने योग्य है, उसे ज्ञेय तत्त्व कहते हैं; जो कुछ छोड़ने योग्य है, उसे हेय तत्त्व कहते हैं, और जो कुछ आदरने योग्य है, उसे उपादेय तत्त्व कहते हैं।

इन तीनों तत्त्वों के विस्तार के रूप मे ही नव तत्त्वो की योजना की गई है। ज्ञेय तत्त्व के दो प्रकार हैं :—जीव और अजीव। इन दोनों तत्त्वो का परिचय पहले दिया जा चुका है। हेय तत्त्व के तीन प्रकार हैं :—आस्रव, वन्ध और पाप। जिससे कर्म आत्मप्रदेश की ओर खिचा जाता है, वह आस्रव, जिससे कर्म आत्मप्रदेश के साथ ओत-प्रोत हो जायं, वह वन्ध, और जिससे आत्मा को अशुभ फल भोगना पड़े वह पाप। उपादेय तत्त्व के चार प्रकार हैं :–सवर, निर्जरा, मोक्ष और पुण्य। आस्रव को रोकनेवाली क्रिया सवर कहलाती है, आत्म-प्रदेशों के साथ ओतप्रोत वने हुए कर्मों का अल्प अथवा अधिक अश मे पृथक् हो जाना उसे निर्जरा कहते हैं, सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने को मोक्ष कहते हैं तथा शुभफल देनेवाला कर्म पुण्य कहलाता है। इनमे पुण्य कथञ्चित् उपादेय है, क्योंकि उससे सत्साधनों की प्राप्ति होती है, किन्तु मोक्ष मे जाने के लिये उसका भी क्षय होना आवश्यक है।

नवतत्त्व-प्रकरण तथा सटीक कर्मग्रन्थों मे नवतत्त्वों के सम्बन्ध मे उपयोगी जानकारी दी गई है।*

---

* सम्पादक ने 'जैन-धर्मदर्शन' नामक अपने वृहद् ग्रंथ में इस विषय पर वैज्ञानिक तुलना के साथ विस्तृत विवेचन किया है।

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसेणं ।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥६॥

[उत्त० अ० २८, गा० १५]

स्वभाववश अथवा उपदेश के कारण इन तत्त्वो के यथार्थस्वरूप मे भावपूर्वक श्रद्धा रखना, उसे सम्यगदर्शन कहते है ।

विवेचन—सम्यग्दर्शन का अर्थ है तत्त्वो के यथार्थस्वरूप की भावपूर्वक श्रद्धा । वह स्वभाव से अर्थात् नैसर्गिक रीति से और उपदेश से अर्थात् गुरुजनो के व्याख्यानादि श्रवण करने से यो दो प्रकार से होती है । श्री उमास्वातिवाचक ने तत्त्वार्थधिगमसूत्र के प्रथम अध्याय मे— 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' और 'तन्निसर्गादधिगमाद् वा' इन दो सूत्रों द्वारा उसकी स्पष्टता की है ।

परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा ।
वावन्नकुदंसणवज्जणा य, सम्मत्तसद्दहणा ॥७॥

[उत्त० अ० २८, गा० २८]

परमार्थसंस्तव, परमार्थज्ञातृसेवन, व्यापन्नदर्शनी का त्याग और कुदर्शनी का त्याग, ये सम्यग् दर्शन से सम्बन्धित श्रद्धा के चार अग है ।

विवेचन—परमार्थसस्तव का अर्थ है तत्त्व की विचारणा, तत्त्व सम्बन्धी परिशीलन । परमार्थज्ञातृसेवन का अर्थ है तत्त्व को जानने-वाले गीतार्थ गुरुजनों के चरणों की सेवा । व्यापन्नदर्शनी का अर्थ है जो एक बार सम्यक्त्व से युक्त हो, किन्तु किसी कारणवश उससे

भ्रष्ट हो गया हो। कुदर्शनी का अर्थ है मिथ्यादर्शन की मान्यता रखनेवाला। इन चार अगो मे से आरम्भ के दो अंग श्रद्धा को पुष्ट करनेवाले हैं जबकि शेष दो अग श्रद्धा का सरक्षण करनेवाले हैं।

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥८॥

[उत्त० अ० २८, गा० ३०]

सम्यग् दर्शन के विना सम्यग् ज्ञान नही होता, सम्यग् ज्ञान के विना सम्यक् चारित्र के गुण नही आते, सम्यक् चारित्र के गुणों के विना सर्व कर्मों से छुटकारा नही होता, और सर्व कर्मों से छुटकारा पाये विना निर्वाण की प्राप्ति नही होती।

विवेचन—ज्ञान से पदार्थों को जाना जा सकता है और दर्शन से उसपर श्रद्धा होती है, इसलिये 'नाण दसण चेव' यह क्रम दिखलाया है। परन्तु जीव मात्र का मोक्षमार्ग की ओर सच्चा प्रस्थान तो सम्यग् दर्शन को—सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के पश्चात् ही होता है; यह वस्तु यहाँ स्पष्ट की गई है। जिसे सम्यग् दर्शन प्राप्त हो, उसे ही सम्यग् ज्ञान होता है। इसका अर्थ यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति से पूर्व जीव को जो कुछ ज्ञान रहता है, वह वास्तव मे अज्ञान ही है; क्योकि मोक्षप्राप्ति मे वह उपकारक सिद्ध नही होता। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के पश्चात् यही ज्ञान सम्यग् बन जाता है।

जिसको सम्यग् ज्ञान हुआ हो उसको ही सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है। इसका तात्पर्य यह समझना चाहिये कि मनुष्य चाहे जितने ऊँचे चरित्र का पालन करता हो, किन्तु यह सम्यग् ज्ञान से

रहित हो तो उसका चारित्र सम्यक् नही कहलाता और इसी कारण उसके द्वारा उसे मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती ।

यहाँ तप का समावेश सम्यक् चारित्र मे ही किया गया है, अतः उसकी पृथक् गणना नही की गई ।

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—इन तीन साधनो को रत्नत्रयी कहते है । श्री उमास्वातिवाचक ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के प्रारम्भ मे मोक्षमार्ग के साधनरूप मे इस रत्नत्रयी का ही उल्लेख किया है ।

उपर्युक्त तीन साधनो का सक्षेप ज्ञान और क्रिया इन—दो साधनो में किया जाता है ; वहाँ दर्शन का समावेश ज्ञान मे किया जाता है, और चारित्र के स्थान पर क्रिया शब्द बोला जाता है । 'नाण-किरियाहिं मोक्खो,' ये वचन उसके लिये प्रमाणभूत हैं । तात्पर्य यह कि यहाँ मोक्षमार्ग के चतुर्विध साधनो का वर्णन किया गया है, किन्तु ये साधन चार ही होते है, इनसे न्यूनाधिक नही हो सकते, ऐसा एकान्तिक आग्रह नही है । अपेक्षाभेद से इन साधनो की संख्या न्यूनाधिक हो सकती है ।

सामाइय त्थ पढमं, छेओवट्ठावणं भवे बीयं ।
परिहारविसुद्धीयं, सुहुमं तह संपरायं च ॥९॥
अकसायमहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा ।
एयं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं ॥१०॥

[उत्त० अ० २८, गा० ३२-३३]

पहला सामयिक नाम का चारित्र है, दूसरा छेदोपस्थापनीय नामक चारित्र है, तीसरा परिहारविशुद्धि नामक चारित्र है और चौथा सूक्ष्मसपराय नामवाला चारित्र है।

कषाय से रहित चारित्र यथाख्यात कहलाता है। वह छद्मस्थ और केवली को होता है। भगवान् ने कहा है कि ये पाँचो चारित्र कर्मो का नाश करनेवाले है।

विवेचन—आत्मा को शुद्ध दशा मे स्थिर करने का प्रयत्न चारित्र है। इसीको सवर, सयम, त्याग अथवा प्रत्याख्यान भी कहा जाता है। परिणामशुद्धि के तरतमभाव की अपेक्षा से चारित्र के पाँच प्रकार किये गये हैं। छद्म अर्थात् परदा। अव तक जिसके ज्ञान पर परदा है, वह है छद्मस्थ। केवलज्ञान होने से पूर्व सभी आत्माएँ इस अवस्था मे रहती हैं।

मन, वचन और काया से पापकर्म नहीं करना, नही कराना तथा करते हुए को अनुमति नही देना, ऐसे सकल्पपूर्वक जो चारित्र ग्रहण किया जाता है, उसे सामायिक-चारित्र कहते हैं। यह चारित्र व्रतधारी गृहस्थों मे अल्पाश तथा साधुओं मे सर्वांश मात्रा मे होता है।

नये शिष्य को दशवैकालिक-सूत्र का षड्जीवनिका नामक चौथा अध्ययन पढाने के वाद जो वडी दीक्षा दी जाती है, उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं अथवा एक तीर्थङ्कर के साधु को अन्य तीर्थङ्कर के शासन मे प्रवेश करने के लिये नया चारित्र ग्रहण करना पड़ता है, उसे भी छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं। श्री पार्श्वनाथ भगवान् के चातुर्याम व्रतवाले साधुओं ने पाँच महाव्रतवाला श्रीमहावीर

स्वामी का मार्ग स्वीकृत किया, तब नये सिरे से चारित्र ग्रहण किया था , वह इस प्रकार का था। सामायिक-चारित्र के पर्याय का छेदन कर उपस्थापित किया जाता है इसलिये इसे छेदोपस्थापनीय कहते है। इसमे प्रवेश करने के बाद पूर्वावस्था के मुनियो के साथ व्यवहार में आ सकते हैं।

विशिष्ट प्रकार की तपश्चर्या से आत्मा की शुद्धि करना, परिहार विशुद्धि नामक तीसरा चारित्र है।

क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायो को सम्पराय कहते है। वह सूक्ष्म हो जाय अर्थात् उपशम या क्षय को प्राप्त हो जाय, तब सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र की प्राप्ति मानी जाती है। इस चारित्र मे सूक्ष्म लोभ का अश शेष रहता है।

जब सूक्ष्म लोभ भी चला जाय और इस प्रकार सम्पूर्ण कषाय रहित अवस्था प्राप्त हो, तब यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति मानी जाती है। इस चारित्र को वीतराग चारित्र भी कहते है, क्योकि उस समय आत्मा राग और द्वेष दोनो से ऊपर उठ सम्पूर्ण माध्यस्थभाव को प्राप्त होती है।

छद्मस्थ आत्मा उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त करती हुई इस अवस्था तक पहुँचती है और केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् भी इस चारित्र मे स्थिर रहती है।

ये सब चारित्र उत्तरोत्तर शुद्ध हैं और कर्म का क्षय करने मे परम उपकारक हैं।

तवो य दुविहो वुत्तो, वाहिरब्भन्तरो तहा।
वाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो ॥११॥

[उत्त० अ० २८ गा० ३४]

तप दो प्रकार का वतलाया गया है। वाह्य और आभ्यन्तर। वाह्य तप छह प्रकार का वर्णित है और आभ्यन्तर तप भी इतने ही प्रकार का।

विवेचन—जो शरीर के सातों धातुओ तथा मन को तपाये, वह तप कहलाता है। कर्म की निर्जरा करने के लिये यह उत्तम साधन है। तप दो प्रकार का है :—वाह्य और आभ्यन्तर। इन मे वाह्य-तप शरीर की शुद्धि में विशेष उपकारक है और आभ्यन्तर तप मानसिक शुद्धि मे। इन दोनो तपों के अलग-अलग छह प्रकार हैं।

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया, य वज्झो तवो होई॥ १२ ॥

[उत्त० अ० ३०, गा० ८]

वाह्यतप के छह प्रकार है—(१) अनशन, (२) ऊनोदरिका, (३) भिक्षाचरी, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश तथा (६) सलीनता।

विवेचन—भोजन का अमुक समय के लिये अथवा पूर्ण समय के लिये परित्याग करना अनशन कहलाता है। एकाशन, आयविल, उपवास—ये सब इसी तप के प्रकार हैं। क्षुधा से कुछ कम भोजन करने की क्रिया को ऊनोदरिका कहते हैं। शुद्ध भिक्षा पर निर्वाह

लोक-समूह का त्याग करके एकाग्रभाव से विचरण करना तथा काया के ममत्व को छोड़कर आत्मभाव मे रहना व्युत्सर्ग हैं। *

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सव्वदुःखप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥१४॥

[उत्त० अ० २८, गा० ३६]

जो महर्षि है, वे सयम और तप से पूर्व कर्मों का क्षय कर समस्त दुःखों से रहित ऐसे मोक्षपद की ओर शीघ्र गमन करते हैं।

सद्धं नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं।
खन्ति निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसगं ॥१५॥
धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च ईरियं सया।
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेण पलिमन्थए ॥१६॥
तवनारायजुत्तेण, भित्तूणं कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥१७॥

[उत्त० अ० ९, गा० २०-२१-२२]

* तपोरत्नमहोदधि ग्रन्थ में अनेक प्रकार के तपों का वर्णन किया गया है और सम्पादक ने 'तप-विचार', 'तपनां तेज, (धर्मबोध-ग्रन्थमाला : पु० १२) और 'तपनी महत्ता' (जैन शिक्षावली प्रथम श्रेणी : पु० ८) तथा 'आयंविल-रहस्य' (जैन शिक्षावली द्वितीय श्रेणी : पु० ९) नामक गुजराती पुस्तकों मे तप के सम्बन्ध में विविध दृष्टियों से विचार किया है।

श्रद्धारूपी नगर, क्षमारूपी दुर्ग और तप-सयमरूपी अर्गला बनाकर त्रिगुप्तिरूप शस्त्रो द्वारा कर्मशत्रुओ से अपनी रक्षा करनी चाहिये।

पुनः पराक्रमरूपी धनुष की ईर्यासमिति रूप डोरी बनाकर धैर्य-रूपी केतन से सत्य द्वारा उसे बाँधना चाहिये।

उस धनुष पर तपरूपी बाण चढाकर कर्मरूपी कवच का भेदन करना चाहिये। इस प्रकार से सग्राम का सदा के लिये अन्त कर मुनि भवभ्रमण से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—इस वर्णन का तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग के पथिक को नीचे लिखे गुण प्राप्त करने चाहिये।

१ : श्रद्धा—आत्मश्रद्धा, देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा, नव तत्त्वों पर श्रद्धा।

२ : क्षमा – क्रोध पर विजय। यहाँ मान, माया और लोभ पर विजय का निर्देश नही किया गया है पर वह समझ लेना चाहिये। इस प्रकार आर्जव, सरलता और निर्लोभता भी अर्जित करनी चाहिये।

३ : तप—अनेकविध तप।

४ : सयम—पाँच इन्द्रियों पर नियन्त्रण।

५ : त्रिगुप्ति—गुप्ति अर्थात् अप्रशस्त प्रवृत्ति का निग्रह। इसके तीन प्रकार हैं—(१) मनगुप्ति, (२) वचनगुप्ति और (३) कायगुप्ति। सयम मार्ग मे आगे बढने के लिये ये तीनो गुप्तियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन है।

६ : पराक्रम—विघ्नो की परवाह किये बिना ध्येय की ओर अग्रसर होने का दृढ पुरुषार्थ।

७ : इर्यासमिति—समिति अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति। इसके पांच प्रकार हैं :—(१) ईर्या-समिति, (२) भाषा-समिति, (३) एषणा-समिति, (४) आदान-निक्षेप-समिति और (५) पारिष्ठा-पनिका-समिति। इन पाँचो समितियों का पालन सयमसाधना में अत्यन्त उपकारक सिद्ध होता है। तीन गुप्तियों और पांच समितियो को अष्टप्रवचन-माता कहा जाता है। इसका वर्णन इस ग्रन्थ की अठारहवी धारा मे किया गया है।

८ : धैर्य—चित्तस्वास्थ्य। जिस साधक का चित्त स्वस्थ नही है, वह मोक्षमार्ग की साधना मे आगे प्रगति नही कर सकता। चाहे कष्टों के पहाड ही न टूट जाय तो भी उसे सहन करने की तैयारी रखनी चाहिये।

९ : सत्य—सत्य की उपासना, सत्य के प्रति आग्रह।

१० : तप—यहाँ तप शब्द से इच्छानिरोधरूपी तप समझना चाहिये।

११ : कर्मरूपी कवच का भेदन—समस्त कर्मो का क्षय।

तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा,
विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगंतनिसेवणा य,
सुत्तत्थसंचिंतणया धिई य ॥१८॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ३]

गुरु और वृद्ध सन्तों की सेवा, अज्ञानी जीवों की सगति का दूर से ही त्याग, स्वाध्याय, स्त्री-नपुसकादि रहित एकान्तस्थल का सेवन

सूत्रार्थ का उत्तम प्रकार से चिन्तन तथा धैर्य, ये एकान्तिक सुखरूप मोक्षप्राप्ति के मार्ग है।

विवेचन—मोक्षमार्ग के पथिक मे कुछ और भी गुण होने चाहिये, जो यहाँ दिखाये गये है :—

१ : गुरु की सेवा—ज्ञान दे वे गुरु। उनके प्रति विनय रखने से, उनकी सेवा करने से शास्त्रो का रहस्य समझ मे आता है और मोक्ष की साधना मे शीघ्र आगे बढ सकता है।

२ : वृद्ध सन्तो की सेवा—यह भी गुरुसेवा के समान ही उपकारक है।

३ : अज्ञानियो की सगति का त्याग—जो बालभाव मे क्रीड़ा कर रहे है, उन्हे अज्ञानी समझना चाहिये। उनकी सगति करने से मोक्षसाधना का उत्साह शिथिल हो जाता है, अथवा उससे भ्रष्ट होने का प्रसग भी आ जाता है। इसलिये उनकी सगति का परित्याग करना चाहिये। सगति करना हो तो परमार्थ जाननेवाले ज्ञानियो की ही करनी चाहिए ताकि कल्याण की प्राप्ति हो।

४ : स्वाध्याय—आप्तप्रणीत शास्त्रो का अभ्यास।

५ : एकान्त-निषेवण—एकान्त मे रहना।

६ : सूत्रार्थ का उत्तम प्रकार से चिन्तन—सूत्र और अर्थ दोनो का अच्छी तरह चिन्तन-मनन करने पर मन का विक्षेप टल जाता है और मोक्षसाधना के उत्साह मे वृद्धि होती है।

७ : धैर्य—चित्त की स्वस्थता।

धारा : ६ :

साधना-क्रम

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥१॥

[दश० अ० ४, गा० ११]

साधक सद्गुरु का उपदेश श्रवण करने से कल्याण का—आत्म-हित का मार्ग जान सकता है, ठीक वैसे ही सद्गुरु का उपदेश श्रवण करने से पाप का—अहित का मार्ग भी जान सकता है। जब इस प्रकार वह हित और अहित दोनों का मार्ग जान ले, तभी जो मार्ग हितकर हो उसका आचरण करे।

जो जीवे वि न जाणेइ, अजीवे वि न जाणइ ।
जीवाऽजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ॥२॥

[दश० अ० ४, गा० १२]

जो जीवों को नही जानता है, वह अजीवों को भी नही जानता है। इस प्रकार जीव और अजीव दोनों को भी नही जाननेवाला भला सयम को किस प्रकार जानेगा ?

विवेचन—साधक को सर्व-प्रथम जीवो का आत्मतत्त्व—का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये, अर्थात् उसके लक्षणादि से परिचित होना

चाहिये। जिसने इस तरह का ज्ञान प्राप्त नही किया, उसको अजीव का ज्ञान भी नही हो सकता, क्योंकि इन दोनो के बीच का भेद उसकी समझ मे नही आता। इस तरह जो जीवो और अजीवो, दोनो के स्वरूप से अज्ञात है, वह सयम का स्वरूप भी नही जान सकता, क्योकि सयमपालन का जीवदया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥३॥

[दश० अ० ४, गा० १३]

जो जीवोंको अच्छी तरह जानता है, वह अजीवो को भी अच्छी तरह जानता है। इसी प्रकार जीव और अजीव दोनो को सर्वोत्तम रूप मे जाननेवाला संयम को भी अच्छी तरह जान लेता है।

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥४॥

[दश० अ० ४, गा० १४]

जब कोई साधक जीवो और अजीवों को उत्तम रीति से जानता है, तब वह सभी जीवो की बहुविध गति को भली-भाँति पहचानता है।

विवेचन—यहाँ गति शब्द का अर्थ एक भव से दूसरे भव में जाने की क्रिया समझनी चाहिये। यह गति नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव इस तरह चार प्रकार की है। ससारी जीव को इन चार गतियो में से एक गति मे अवश्य उत्पन्न होना पड़ता है, क्योकि उसने इस

प्रकार का कर्मबन्धन किया है, ओर कर्म के फल भोगे विना किसी को मुक्ति नही मिलती।

जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ।
तया पुण्णं च पावं च, वंधं मोक्खं च जाणइ ॥५॥

[दश० अ० ४, गा० १५]

जब साधक सर्वजीवो की अनेकविध गतियों को जानता है, तब पुण्य, पाप, वन्ध और मोक्ष को जानता है।

विवेचन—जव साधक जीवकी अनेकविध गति का कारण सोचता है तव उसके सामने पुण्य-पाप का सिद्धान्त आ जाता है। जैसे कि पुण्य करनेवालों की सद्गति होती है और पाप करनेवालो की दुर्गति। पीछे अधिक विचार करने पर पुण्य और पाप एक प्रकार का कर्मबन्धन है, यह बात उनके समझने मे आती है, और जहाँ कर्मवन्धन है, वहाँ उसमे से छूटने की कोई प्रक्रिया भी अवश्य होनी चाहिये, ऐसा अनुमान होते ही मोक्ष का निर्णय हो जाता है।

जया पुण्णं च पावं च, वंधं मोक्खं च जाणइ।
तया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ॥६॥

[दश० अ० ४, गा० १६]

जब साधक पुण्य, पाप, वन्ध और मोक्ष का स्वरूप अच्छी तरह जान लेता है, तव उसके मन मे स्वर्गीय तथा मानुषिक दोनों प्रकार के भोग सारहीन हैं, यह वात उसके ध्यान मे आ जाती है और उसके प्रति निर्वेद—वैराग्य उत्पन्न होता है।

जया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतर-बाहिरं ॥७॥

[दश० अ० ४, गा० १७]

जब साधक के मन में स्वर्गीय तथा मानुषिक भोगो के प्रति निर्वेद—वैराग्य उत्पन्न होता है, तब आभ्यन्तर और बाह्य संयोगो को वह छोड देता है।

विवेचन :—यहाँ आभ्यन्तर सयोग से कषाय और बाह्य सयोग से धन, धान्यादि का परिग्रह तथा कुटुम्बिजनो का सम्बन्ध ऐसा अर्थ लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि साधक मे जब स्वर्गीय अथवा मानुषिक भोग की इच्छा नही रहती, तब कषाय करने का कोई कारण नही रहता और धन-धान्यादि तथा कुटुम्बिजनो के प्रति रहे ममत्व मे अपने आप ही कमी आ जाती है।

जया चयइ संजोगं सब्भिंतर-बाहिरं।
तया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वयइ अणगारियं ॥८॥

[दश० अ० ४, गा० १८]

जब साधक आभ्यन्तर और बाह्य सयोगो को छोड देता है, तब सिर मुँडवाकर अणगार धर्म मे प्रव्रजित होता है।

विवेचन :—अणगार धर्म अर्थात् श्रमण-धर्म, साधु-धर्म। प्रव्रजित होना अर्थात् दीक्षित होना। निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय मे साधु-धर्म की दीक्षा ग्रहण करते समय सिर मुँडवाना अत्यावश्यक होता है। बौद्ध-श्रमण भी दीक्षा ग्रहण करते समय सिर का मुण्डन कराते है।

जिसने सिर मुँडवाया उसने शरीर सम्बन्धी सारी शोभा, सारे ममत्व का परित्याग कर दिया ऐसा समझा जाता है।

जया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वयइए अणगारियं।
तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥९॥

[दश० अ० ४, गा० १९]

जब साधक मस्तक का मुण्डन करवा कर अणगार धर्म मे प्रव्रजित होता है, तब उत्कृष्ट सयमरूपी धर्म का सर्वोत्तम ढग से आचरण कर सकता है।

जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं।
तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं ॥१०॥

[दश० अ० ४, गा० २०]

जब साधक उत्कृष्ट सयमरूपी धर्म का सर्वोत्तम रूप से आचरण करता है, तब मिथ्यात्वजनित कलुषित भावो से उत्पन्न कर्मरज को दूर कर देता है।

जया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं।
तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥११॥

[दश० अ० ४, गा० २१]

जब साधक मिथ्यात्वजनित कलुषित भावों से उत्पन्न कर्मरज को दूर कर देता है, तब सर्वव्यापी ज्ञान (केवलज्ञान) और सर्वव्यापी र्शन (केवलदर्शन) को प्राप्त कर सकता है।

जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥१२॥
[दश० अ० ४, गा० २२]

जब साधक सर्वव्यापी ज्ञान और सर्वव्यापी दर्शन को प्राप्त करता है, तब वह लोक और अलोक को जान लेता है तथा जिन एवं केवली बनता है।

जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥१३॥
[दश० अ० ४, गा० २३]

जब साधक लोक और अलोक का ज्ञाता जिन तथा केवली बनता है, तब अन्तिम समय में मन, वचन और काया की समस्त प्रवृत्तियो को रोककर शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है, अर्थात् पर्वत जैसी स्थिर-अकम्प दशा को प्राप्त होता है।

जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥१४॥
[दश० अ० ४, गा० २४]

जब साधक मन, वचन और काया की समस्त प्रवृत्तियो को रोक कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है, तब सम्पूर्ण कर्मों को क्षीण कर शुद्ध रूप धारण कर सिद्धि को पाता है।

जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥१५॥
[दश० अ० ४, गा० २५]

जब वह समस्त कर्मों को क्षीण कर शुद्ध बना हुआ सिद्धि को पाता है, तब लोक के मस्तक पर रहनेवाला ऐसा शाश्वत सिद्ध बन जाता है।

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहोयस्स, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥१६॥

[दश० अ० ४, गा० २६]

जो श्रमण बाह्य-सुख का अभिलाषी है, और सुख कैसे प्राप्त हो ? इसी उधेड़-बुन मे निरन्तर व्याकुल रहता है, सूत्रार्थ की वेला टल जाने के पश्चात् भी दीर्घकाल तक सोया रहता है, जो अपना शारीरिक सौन्दर्य बढ़ाने के हेतु सदा हाथ-पैर आदि धोता रहता है, ऐसे श्रमण को मोक्ष की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणन्तस्स, सुलहा सुगई तारिसगस्स ॥१७॥

[दश० अ० ४, गा० २७]

जो श्रमण तपोगुण मे प्रधान है अर्थात् घोर तप करता है, जो प्रकृति से सरल है, क्षमा और सयम मे सदा अनुरक्त रहता है, तथा परीषहो को जीतता है, उसके लिये मोक्षप्राप्ति सुलभ है।

विवेचन—शुद्ध चरित्र का पालन करते समय जो कष्ट, आपत्तियाँ और कठिनाइयाँ आती हैं उनको समतापूर्वक सहन कर लेने को ही परीषह-जय कहते हैं। इसके निम्नलिखित बाईस प्रकार हैं :—

१ : क्षुधापरीषह—भूख से उत्पन्न वेदना सहन करना ।

२ : तृषापरीषह—तृषा से उत्पन्न वेदना सहन करना ।

३ : शीतपरीषह—ठण्ड से होनेवाली वेदना सहन करना ।

४ : उष्णपरीषह—ताप से उत्पन्न वेदना सहन करना ।

५ : दंश-मशकपरीषह—मच्छरो के काटने से उत्पन्न वेदना सहन करना ।

६ : अचेलकपरीषह—वस्त्र रहित अथवा फटे हुए वस्त्रवाली स्थिति से दु खी नही होना ।

७ : अरतिपरीषह—चरित्र पालन करते हुए मन मे ग्लानि न होने देना ।

८ : स्त्रीपरीषह—स्त्रियो के अग-प्रदर्शन से मन को विचलित न होने देना ।

९ : चर्यापरीषह—किसी एक गाँव अथवा स्थान के प्रति ममत्व न रखते हुए राष्ट्र में विचरण करते रहना और इस प्रकार के विहार-परिभ्रमण मे जो कष्ट आए, उसे शान्तिपूर्वक सहन करना ।

१० : निषद्यापरीषह—स्त्री, पशु, और नपुसकरहित स्थान मे रह कर एकान्त सेवन करना ।

११ : शय्यापरीषह—शयन का स्थान अथवा शयन के लिये पटिया आदि जो भी मिले उसके लिए दुःखी न होना ।

१२ : आक्रोशपरीषह—कोई मनुष्य आक्रोश-क्रोध करे, तिरस्कार करे, अपमान करे उसे शान्ति से सह लेना ।

१३ : वधपरीषह—कोई मारपीट करे तो भी शान्ति से सह लेना।

१४ : याचनापरीषह—साधु को प्रत्येक वस्तु मांग कर ही प्राप्त करना चाहिये, अतः मन मे ग्लानि नही लाना।

१५ : अलाभपरीषह—भिक्षा मांगने पर भी कोई वस्तु न मिले तो, उसके लिये सन्ताप न करना।

१६ : रोगपरीषह—चाहे जैसा रोग अथवा व्याधि उत्पन्न क्यों न हुई हो किन्तु चीखना-चिल्लाना अथवा रोना-पीटना नही। साथ ही तत्सम्बन्धी सभी वेदनाएं शान्ति-पूर्वक सहना।

१७ : तृणस्पर्शपरीषह—बैठते-उठते तथा सोते समय दर्भादि तृणों के कठोर स्पर्श को शान्ति-पूर्वक सह लेना।

१८ : मलपरीषह—पसीना तथा विहार आदि के कारण शरीर पर मैल जम जाने पर भी स्नान की इच्छा नही करना।

१९ : सत्कारपरीषह—कोई कैसा भी सत्कार क्यों न करे उसने अभिमान न करते हुए मन को वश मे रखना और यह सत्कार मेरा नहीं अपितु चरित्र का हो रहा है, ऐसा मानना।

२० : प्रज्ञापरीषह—बुद्धि अथवा ज्ञान का अभिमान नही करना।

२१ : अज्ञानपरीषह—अत्यधिक परिश्रम करने पर भी सूत्रसिद्धान्त का चाहिये जितना बोध न हो तो उससे निराश न होना।

२२ : सम्यक्त्वपरीषह—किसी भी स्थिति मे सम्यक्त्व को डावांडोल न होने देना तथा उसका संरक्षण करना।

———

धारा : १० :

धर्माचरण

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥१॥

[उत्त० अ० २३, गा० ६८]

जरा और मरण के प्रचड झझावात मे जीवो की रक्षा के लिये धर्म एक द्वीप (बेट) है, आधार है और उत्तम शरण है ।

विवेचन—जहाँ जन्म है वहाँ जरा और मरण अवश्य है । जरा और मरण का वेग इतना तो प्रचण्ड है कि रोकने से रुक नही सकता, अर्थात् उसके प्रचंड प्रवाह मे प्राणी मात्र को बहना ही पड़ता है और अनेक प्रकार के दुःखो का अनुभव भी करना पड़ता है । ऐसी अवस्था मे धर्म ही एक अद्वितीय सहायक बनता है, इसके आधार पर ही जीव मात्र अचल-अटल रह सकते है, और उनकी उत्तम रीति से रक्षा होती है । अन्य शब्दो मे कहे तो जिसने धर्म का आचरण नही किया उसको वृद्धावस्था मे बहुत दुःख उठाना पडता है और उसकी मृत्यु बिगड जाती है ।

मरिहिसि रायं जया तया वा,
मणोरमे कामगुणे विहाय ।

एक्को हु धम्मो नरदेव ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥ २ ॥

[उत्त० अ० १४, गा० ४०]

हे राजन् ! इन मनोहर एव कमनीय ऐसे कामभोगों को छोड़कर एक दिन तुझे मरना ही है। उस समय हे नरदेव ! एकमात्र धर्म ही तेरा शरणावलम्बन सिद्ध होगा। धर्म के अतिरिक्त इस ससार मे ऐसी कोई वस्तु विद्यमान नही कि जो तेरे उपयोग मे आए।

विवेचन—यहाँ राजा को सम्बोधित किया है, किन्तु बात सब के लिये समान रूप से उपयोगी है।

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समाचरे ॥३॥

[दश० अ० ८, गा० ३६]

जब तक जरा पीडित न करे, व्याधि मे वृद्धि न हो और इन्द्रियाँ बलहीन न हो जाएं तबतक की अवधि मे उत्तम प्रकार से धर्माचरण कर लेना चाहिये।

विवेचन—प्रायः मनुष्य ऐसा समझता है कि जब मैं बड़ा हो जाऊंगा, वृद्ध बनूंगा, तब धर्माचरण करूंगा। अभी तो आमोद-प्रमोद के दिन है। किन्तु उसका यह समझना भ्रान्ति है। देह क्षणभगुर है। यह कब नष्ट हो जायगा कहा नही जा सकता। यदि मान लिया जाय कि आयुष्य की डोरी लम्बी है, और वह वृद्ध होनेवाला है,

तो क्या उस समय वह धर्माचरण कर सकेगा ? उस समय उसकी शारीरिक शक्तियाँ क्षीण हो जाती है, छोटी-बड़ी अनेक प्रकार की व्याधियाँ शरीर को ग्रस्त कर लेती है और इन्द्रियाँ यथेष्ट कार्य करने मे प्रायः असमर्थ होती है। ऐसी स्थिति मे भला किस-तरह धर्माचरण हो सकता है ? अतः सुज्ञ मनुष्य को आरम्भ से ही धर्म का आचरण कर लेना चाहिये। साथ ही यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि जिसने बाल्यकाल मे अथवा यौवन मे धर्माचरण नही किया, उसे वृद्धावस्था में धर्म प्रिय नही लगता। फलतः जबसे मनुष्य कुछ समझने लगता है तब से ही उसे धर्माचरण करना आरम्भ कर देना चाहिये।

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥ ४ ॥
जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥ ५ ॥

[उत्त० अ० १४, गा० २४-२५]

जो-जो रात्रियाँ बीतती है वे पुनः लौटकर नही आती और अधर्मी की रात्रियाँ हमेशा निष्फल बीतती है।

जो जो रात्रियाँ बीतती हैं वे वापस लौट नही आती और धर्मी की रात्रियाँ हमेशा सफल होती है।

विवेचन—जो-जो रात बीतती है, वह पुनः लौट नही आती; वैसे ही जो-जो दिन बीतता है, वह भी पुनः लौट नही आता।

तात्पर्य यह है कि जो समय चला गया, वह सदा के लिये हाथ से निकल गया, वह पुनः आनेवाला नही है। ऐसी अवस्था मे वुद्धिमान मनुष्यो का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि समय का वन सके उतना सदुपयोग कर लेना चाहिये। जो मनुष्य अधर्म करता है, उसके समय का दुरुपयोग हुआ, ऐसा समझना चाहिए, क्योकि उससे नया कर्मवन्धन होता है, जिसके फलस्वरूप उसे अनेकविध दुःख सहन करने पडते हैं। जो मनुष्य धर्म का आचरण करता है उसके समय का सदुपयोग हुआ मानना चाहिये, क्योकि उससे नये कर्म नही बंधते और जो वंधे हुए हैं उनका भी क्षय हो जाता है। परिणामस्वरूप उसकी भव-परम्परा का अन्त आ जाता है और वह सर्वदुःखों से मुक्त हो जाता है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥६॥

[दश० अ० १, गा० १]

धर्म उत्कृष्ट मगल है। वह अहिसा, सयम और तपरूप है। जिसके मन में सदा ऐसा धर्म है, उसको देवता भी नमस्कार करते हैं।

विवेचन—इस जगत् मे मनुष्य मात्र सदा सर्वदा मंगल की कामना किया करते है। किन्तु उनको यह स्मरण नही होता कि उत्कृष्ट मगल तो धर्म ही है, क्योंकि धर्म से दुरित (पाप) दूर होते हैं और इच्छित फल की प्राप्ति होती है। यहाँ धर्म शब्द से अहिसा, सयम और तप की त्रिपुटी समझना चाहिये। जहाँ किसी भी प्रकार की हिंसा होती है वहाँ धर्म नही रहता। जहाँ किसी भी

प्रकार की स्वच्छंदता (दुराचार) हो वहाँ भी धर्म नही होता। और जहाँ एक अथवा अन्य प्रकार से भोग-विलास की पुष्टि हो, वहाँ भी धर्म नही होता। जो अहिंसा, संयम और तपोमय धर्म का शुद्ध भावसे पालन करता है, वह मानव समाज के लिये ही नही अपितु देवताओं के लिये भी वन्दनीय-पूजनीय सिद्ध होता है। साराश यह है कि धर्म के पालन से मनुष्य सर्वश्रेष्ठ गति को प्राप्त कर सकता है।

अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू ॥७॥

[उत्त० अ० २१, गा० १२]

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतो को जीवन मे स्वीकार कर श्री जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

विवेचन—जो इन पाँच महाव्रतो को स्वीकार नही कर सकता, उसके लिये पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—ऐसे बारह प्रकार के अन्य व्रतो की भी योजना की गई है। कदाचित् इनका पालन भी नही किया जा सके तो इनमे से जितना बन सके उतना पालन करना चाहिये और उसमे प्रतिदिन अधिकाधिक प्रगति किस प्रकार हो, इसका सदा ध्यान रखना चाहिये।

वहिया उड्ढमादाय, नावकंक्खे कयाइ वि।
पुव्वकम्मखयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥८॥

[उत्त० अ० ६, गा० १४]

संसार से वाहर और सवसे ऊपर सिद्धशिला नामक जो स्थान है, वहाँ पहुचने का उद्देश्य रखकर ही कार्य करना चाहिये। विषय-भोग की आकाँक्षा कदापि नही करनी चाहिये। पहले जिन कर्मों का सचय किया हुआ है, उनका क्षय करने के लिये ही यह देह धारण करनी चाहिये।

विवेचन—मोक्ष मे पहुँचने का अवसर केवल मनुष्यजन्म मे ही मिल सकता है। मानवजन्म अनन्त भवों मे भ्रमण करने के पश्चात् अत्यन्त कष्ट से प्राप्त होता है। वुद्धिमान् लोगो को उपयुक्त तथ्य को लक्ष्य में रखकर ही मोक्षप्राप्ति को अपना ध्येय वनाना चाहिये। यह शरीर भोग-विलास के लिये नही है, वल्कि पूर्वसचित कर्मों का क्षय करने के लिये है इस वात को पुनः पुनः अपने मन मे दृढ करने की अत्यन्त आवश्यकता है। जव यह वात पूर्णरूप से मन मे दृढ हो जाएगी, तभी भोगासक्ति दूर होकर धर्माचरण करने का उत्साह वढ़ेगा।

धम्मे हरए वम्भे संतितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥९॥

[उत्त० अ० १२, गा० ४६]

मिथ्यात्व आदि दोषो से रहित और आत्म-प्रसन्नलेश्या से युक्त धर्म एक जलाशय है और ब्रह्मचर्य एक प्रकार का शान्ति-तीर्थ। इसमे स्नान करके मैं विमल, विशुद्ध और सुशीतल होता हूं। ठीक वैसे ही कर्मों का नाश करता हूं।

विवेचन—कुछ मनुष्य नहाना-धोना और बाहर से शुद्ध रहने को ही धर्म मान बैठे है, जबकि धर्म अन्तर की शुद्धि के साथ मुख्य सम्बन्ध रखता है। यह अन्तर की शुद्धि तभी प्राप्त होती है जब मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषायादि दोष दूर कर दिये जाते है और आत्मा के परिणामों को शुद्ध रखा जाता है।

आत्मा के परिणामों की योग्यता समझने के लिये भगवान् महावीर ने छह लेश्याओं का स्वरूप प्रकट किया है। उनमे कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन लेश्याएं आत्मा के अशुद्धतम, अशुद्धतर और अशुद्ध परिणामो का सूचन करनेवाली है तथा पीत, पद्म तथा शुक्ल—ये तीन लेश्याएं आत्मा के शुद्ध—शुद्धतर—शुद्धतम परिणामो का सूचन करती है। अतः धर्माराधक को चाहिये कि वह सदा शुद्ध लेश्याओं मे ही रहे।

धर्माराधना मे ब्रह्मचर्य का महत्त्व भी बहुत है। जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसका मन सदा विषय-विकार से दूर रहता है, और उससे अनन्य शान्ति मिलती है।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के लोकोत्तर—उच्च धर्म का जो आचरण करता है, उसके सब मल दूर होते है, उसकी सभी अशुद्धियाँ दूर होती हैं और उसके अन्तर के सारे ताप मिटकर

उसे अनुपम शान्ति मिलती हैं। ऐसी आत्मा के सब कर्म शीघ्रता से नष्ट हो जाय, यह स्वाभाविक ही है।

पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं ॥१०॥

[उत्त० अ० १८, गा० २५]

जो मनुष्य पापकर्ता है वह घोर नरक में जाता है और जो आर्य धर्म का आचरण करनेवाला है वह दिव्य गति मे जाता है।

विवेचन—कर्म का नियम अबाधित है। उसमे किसी का अनुनय-विनय अथवा अनुरोध नही चलता। जो अनुचित काम करता है, अधर्माचरण करता है, पाप-प्रवृत्ति मे लीन रहता है, उसे मृत्यु के पश्चाप् भयंकर नरक-योनि मे जन्म लेना पड़ता है और वहाँ उसे अवर्णनीय दुःख सहने पड़ते हैं। इसी तरह जो अच्छे कर्म करते हैं, आर्यधर्म का आचरण करते हैं, अर्थात् दया-दान परोपकारादि प्रवृत्ति में लीन रहते हैं, उन्हे मृत्यु के पश्चात् स्वर्गीय सुख अथवा सिद्धिगति प्राप्त होती है।

—:०:—

धारा : ११ :

अहिंसा

नाइवाइज्ज किंचण ॥१॥

[आ० श्रु० १, अ० २, उ० ४]

किसी भी प्राणी की हिंसा न करो।

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो, जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं ॥२॥

[आ० श्रु० १, अ० २, उ० ३]

(क्योंकि) सभी प्राणियों को अपना आयुष्य प्रिय है, सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है। वध सभी को अप्रिय लगता है और जीना सब को प्रिय लगता है। जीवमात्र जीवित रहने की कामना वाले हैं। सब को अपना जीवन प्रिय लगता है।

एस मग्गो आरिएहिं पवेइए, जहेत्थ कुसले नोवलिंपिज्जासि ॥३॥

[आ० श्रु० १, अ० २, उ० २]

आर्य महापुरुषों द्वारा अहिंसा के इस मार्ग का कथन किया गया है। अतः कुशल पुरुष भूलकर भी अपने को हिंसा से लिप्त न करे।

पणया वीरा महावीहिं ॥४॥

[आ० श्रु० १, अ० १, उ० ३]

कुशल पुरुष परीषह सहन करने मे सूर होते हैं और अहिंसा के प्रशस्त पथ पर चलनेवाले होते हैं।

अदुवा अदिन्नादाणं ॥५॥

[आ० श्रु० १, अ० १. उ० ३]

जीवों की हिंसा करना यह एक प्रकार का अदत्तादान है यानी चोरी है।

तं से अहियाए, तं से अबोहिए ॥६॥

[आ० श्रु० १, अ० १, उ० १]

पृथ्वीकायिक (आदि) जीवो की हिंसा, हिंसक व्यक्ति के लिए सदा अहितकर होती है और अबोधि (अज्ञान-मिथ्यात्व) का मुख्य कारण बनती है !

आयातुले पयासु ॥७॥

[सू० श्रु० १, अ० ११, गा० ३]

प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य भाव रखो।

सव्वाहिं अणुजुत्तीहि मतिमं पडिलेहिया।

सव्वे अकन्तदुक्खाय, अओ सव्वे न हिंसया ॥८॥

[सू० श्रु० १, अ० ११, गा० ९]

बुद्धिमान् पुरुष को सर्व प्रकार की युक्तियों से सोच-विचार कर तथा सभी प्राणियों को दुःख अच्छा नही लगता, इस तथ्य को ध्यान मे रखकर किसी भी प्राणी की हिंसा नही करनी चाहिये।

एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण ।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया ॥६॥

[सू० श्रु० १, अ० ११, गा० १०]

ज्ञानियो के वचन का यह सार है कि—'किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।' अहिंसा को ही शास्त्रकथित शाश्वत धर्म समझना चाहिए।

संवुज्झमाणे उ नरे मइमं,
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता,
वेरानुवन्धीणि महब्भयाणि ॥१०॥

[सू० श्रु० १, अ० १०, गा० २१]

दुःख हिंसा से उत्पन्न हुए है, बैर को कराने तथा बढानेवाले है और महाभयङ्कर है—ऐसा जानकर मतिमान् मनुष्य अपने आप को हिंसा से बचावे।

सयं तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं धायए ।
हणन्तं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढई अप्पणो ॥११॥

[सू० श्रु० १, अ० १, उ० १, गा० ३]

परिग्रह मे आसक्त मनुष्य स्वय प्राणी का हनन करता है, दूसरे के द्वारा हनन करवाता है और हनन करनेवाले का अनुमोदन करता है—इस तरह अपना बैर बढाता है।

विवेचन—जैसे-जैसे हिंसा का क्षेत्र बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे वैर का भी विस्तार होता जाता है, क्योंकि जिन-जिन प्राणियों की हिंसा होती है, वे सब बदला लेने के लिए हर घड़ी तत्पर रहते हैं ; अतः अपना हित चाहनेवाले व्यक्ति को किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना चाहिये, न ही दूसरे के द्वारा हिंसा करवानी चाहिये। और यदि कोई हिंसा करता हो, तो उसका अनुमोदन भी नहीं करना चाहिये।

अणेलिसस्स खेयन्ने,
ण विरुज्झेज्ज केणइ ॥१२॥
[सू० श्रु० १, अ० १५, गा० १३]

संयम मे निपुण मनुष्य को किसी के भी साथ वैर-विरोध नहीं करना चाहिए।

सया सच्चेण संपन्ने,
मित्तिं भूएहिं कप्पए ॥१३॥
[सू० श्रु० १, अ० १५, गा० ३]

जिसकी अन्तरात्मा सदा सर्वदा सत्य भावों से ओतप्रोत है, उसे सभी प्राणियों के साथ मित्रता रखनी चाहिए।

सव्वं जगं तू समयाणुपेही,
पियमप्पियं कस्सइ नो करेज्जा ॥१४॥
[सू० श्रु० १, अ० १०, गा० ७]

मुमुक्षु को चाहिये कि वह सारे जगत् अर्थात् सभी जीवों को

समभाव से देखे। वह किसी को प्रिय और किसी को अप्रिय न बनाए।

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते आत्तओ पासइ सव्वलोए ॥१५॥
[सू० श्रु० १, अ० १२, गा० १८]

मुमुक्षु छोटे और बडे समस्त जीवों को आत्मानुरूप माने।

पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आऊजीवा तहाऽगणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥१६॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छकायं आहिया।
एयावए जीवकाए, नावरे कोइ विज्जई ॥ १७ ॥
सव्वाहिं अणुजुतीहिं, मईमं पडिलेहिया।
सव्वे अक्कन्तदुक्खा य, अओ सव्वे न हिंसया ॥१८॥
[सू० श्रु० १, अ० ११, गा० ७-८-९]

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और बीजयुक्त तृण, वृक्ष आदि वनस्पति-काय जीव अति सूक्ष्म है। (ऊपर से एक आकृतिवाले दिखाई देने पर भी सब का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है।)

उक्त पाँच स्थावरकाय के अतिरिक्त अन्य त्रस प्राणी भी हैं। ये छह षड्जीवनिकाय कहलाते है। संसार मे जितने भी जीव हैं, उन सब का समावेश इन षड्निकाय मे हो जाता है। इनके अति-रिक्त अन्य कोई जीव-निकाय नही है।

बुद्धिमान् मनुष्य उक्त षड्जीवनिकाय का सर्व प्रकार से सम्यग्-ज्ञान प्राप्त करे और 'सभी जीव दुःख से घबराते हैं' ऐसा मानकर उन्हे पीडा न पहुँचाए।

जे केइ तसा पाणा, चिट्ठन्ति अदु थावरा।
परियाए अत्थि से अञ्जू, जेण ते तस-थावरा ॥ १९ ॥

[सू० श्रु० १, अ० १, उ० ४, गा० ८]

जगत् में जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं, अपनी-अपनी पर्याय के कारण है। अर्थात् सभी जीव अपने-अपने कर्मानुसार त्रस अथवा स्थावर होते हैं।

उरालं जगओ जोगं,
विवज्जासं पलिन्ति य।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य,
अओ सव्वे अहिंसिया ॥२०॥

[सू० श्रु० १, अ० उ० ४. गा० ९]

एक जीव जो एक जन्म मे त्रस होता है, वही दूसरे जन्म मे स्थावर होता है। त्रस हो अथवा स्थावर, सभी जीवों को दुःख अप्रिय होता है, ऐसा मानकर मुमुक्षु को सभी जीवों के प्रति अहिंसक बने रहना चाहिए।

उड्ढं अहे य तिरियं, जे केइ तसथावरा।
सव्वत्थ विरइं विज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥२१॥

[सू० श्रु० १, अ० ११, गा० ११]

ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक, इन तीनो लोको मे जितने भी त्रस और स्थावर जीव है, उनके प्राणो का अतिपात (विनाश) करने से दूर रहना चाहिये। वैर की शान्ति को ही निर्वाण कहा गया है।

विवेचन—ऊर्ध्वलोक अर्थात् ऊपर का भाग—स्वर्ग, अधोलोक अर्थात् नीचे का भाग—पाताल और तिर्यग्लोक अर्थात् इन दोनो के बीच का भाग—मनुष्यलोक। जब किसी भी प्राणी के प्रति हृदय के एक अणु मे भी वैर-वृत्ति नही रहेगी तभी निर्वाण की प्राप्ति हो गई, ऐसा समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि अहिंसा की पूर्णता ही निर्वाण है।

पभूदोसे निराकिच्चा,
न विरुज्झेज्ज केण वि।
मणसा वयसा चेव,
कायसा चेव अंतसो ॥ २२ ॥

[सू० श्रु० १, अ० ११, गा० १२]

इन्द्रियो को जीतनेवाला समर्थ पुरुष मिथ्यात्व आदि दोष दूर करके किसी भी प्राणी के साथ यावज्जीव मन, वचन और काया से बैर-विरोध न करे।

विरए गामधम्मेहिं, जे केइ जगई जगा।
तेसिं अवुत्तमायाए, थामं कुव्वं परिव्वए ॥ २३ ॥

[सू० श्रु० १, अ० ११, गा० ३३]

शब्दादि विषयो के प्रति उदासीन वने हुए मनुष्य को इस ससार मे विद्यमान जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं, उनको आत्मतुल्य मान, उनकी रक्षा करने मे अपनी शक्ति का उपयोग करना चाहिये और इसी प्रकार संयम का भी पालन करना चाहिये ।

जे य बुद्धा अतिक्कंता,
जे य बुद्धा अणागया ।
संति तेसिं पइट्ठाणं,
भूयाणं जगई जहा ॥२४॥
[सू० श्रु० १, अ० ११, गा० ३६]

जीवो का आधार-स्थान पृथ्वी है । वैसे ही भूत और भावी तीर्थङ्करों का आधार-स्थान शान्ति अर्थात् अहिंसा है । तात्पर्य यह है कि तीर्थङ्करों को इतना ऊंचा पद अहिंसा के उत्कृष्ट पालन से ही प्राप्त होता है ।

पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ,
तण-रुक्ख-बीया य तसा य पाणा ।
जे अण्डया जे य जराउ पाणा,
संसेयया जे रसयाभिहाणा ॥ २५ ॥
एयाइं कायाइं पवेइयाइं,
एएसु जाणे पडिलेह सायं ।

एएण काएण य आयदण्डे,

एएसु या विप्परियासुविन्ति ॥२६॥

[सू० श्रु० १, अ० ७, गा० १-२]

(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) तृण, वृक्ष, बीज आदि वनस्पति तथा (६) अण्डज, जरायुज, स्वेदज, रसज—इन सभी त्रस प्राणियो को ज्ञानियो ने जीवसमूह कहा है। इन सब में सुख की इच्छा है, यह जानो और समझो।

जो इन जीवकायो का नाश करके पाप का सचय करता है, वह बारबार इन्ही प्राणियो मे जन्म धारण करता है।

अज्झत्थं सव्वओ सव्व, दिस्स पाणे पियायए।

न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥ २७ ॥

[उत्त० अ० ६, गा० ७]

सभी सुख-दुखो का मूल अपने हृदय मे है, यो मानकर तथा प्राणिमात्र को अपने अपने प्राण प्यारे है, ऐसा समझकर भय और वैर से निवृत्त होते हुए किसी भी प्राणी की हिंसा न करना।

समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे।

पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्करं ॥ २८ ॥

[उत्त० अ० १६, गा० २५]

शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियो पर समभाव रखना ही अहिंसा कहलाती है। आजीवन किसी भी प्राणी की मन-वचन-काया से हिंसा न करना, यह वस्तुतः दुष्कर व्रत है।

अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥२९॥

[उ० अ० १८, गा० ११]

हे पार्थिव ! तुझे अभय है । तू भी अभयदाता बन । इस क्षणभगुर संसार मे जीवों की हिंसा के लिए तू क्यों आसक्त हो रहा है ?

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥३०॥

[उत्त० अ० ८, गा० १०]

ससार मे त्रस और स्थावर जितने भी जीव हैं, उनके प्रति मन, वचन और काया से दण्ड-प्रयोग नही करना ।

विवेचन—कोई भी प्राणी हमे पीडित करे, हमे सताये अथवा हमारे मार्ग मे विघ्नभूत हो, तो भी उसे दण्डित करने का—उसकी हिंसा करने का विचार मन, वचन तथा काया से कदापि नहीं करना चाहिये। यह हमारा व्यवहार जब पीडा पहुँचानेवाले आदि के प्रति भी उचित है, तब जिसने हमारा कभी कुछ नही बिगाड़ा अथवा हमे किसी भी रूप मे कोई क्षति नही पहुँचाई—उसे भला क्योंकर दण्ड दे सकते हैं ? तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु को मन, वचन और काया से अहिंसा का पालन करना चाहिये ।

समणामु एगे वयमाणा,
पाणवहं मिया अयाणंता ।

मन्दा निरयं गच्छन्ति,
बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ॥३१॥

[उत्त० अ० ८, गा० ७]

'हम श्रमण हैं' ऐसा कहनेवाला और प्राणिहिंसा में पाप नही माननेवाले मन्दबुद्धि कुछ अज्ञानी जीव अपनी पापदृष्टि से ही नरक में जाते हैं।

न हु पाणवहं अणुजाणे,
मुच्चेज्ज कयाई सव्वदुक्खाणं।
एवारिएहिमक्खायं,
जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो ॥३२॥

[उत्त० अ० ८, गा० ८]

जो प्राणिहिंसा का अनुमोदन करता है, वह सर्वदुःखो से कदापि मुक्त नही हो सकता। ऐसा तीर्थङ्करो ने कहा है कि जिनके द्वारा यह साधुधर्म का प्रतिपादन किया गया है।

विवेचन—कहने का आशय यह है कि साधु स्वय हिंसा न करे, दूसरों से भी हिंसा न करवाये और कोई हिंसा करता हो तो उसकी अनुमोदना भी न करे। यदि वह अनुमोदना करे तो उसका मोक्षप्राप्ति का ध्येय ही विफल हो जाता है।

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥३३॥

[दश० अ० ६, गा० ६]

भगवान् महावीर ने सभी धर्मस्थानों में पहला स्थान अहिंसा को दिया है। सर्व प्राणियों के साथ संयमपूर्वक वर्ताव करना, इसमें उन्होंने उत्तम प्रकार की अहिंसा देखी है।

जावन्ति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा, न हणे नो वि घायए ॥३४॥
[दश० अ० ६, गा० १०]

इस लोक मे जितने भी त्रस और स्थावर जीव है, उनकी जाने-अनजाने हिंसा नही करना, और दूसरो के द्वारा भी हिंसा नही करवाना।

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥३५॥
[दश० अ० ६, गा० १०]

सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई मरना नही चाहता। अतः निर्ग्रन्थ मुनि सदा भयङ्कर ऐसी प्राणिहिंसा का परित्याग करते हैं।

विवेचन—निर्ग्रन्थ मुनि अर्थात् जैन श्रमण। भयङ्कर अर्थात् परिणाम मे भयङ्कर। प्राणिवध अर्थात् जीवहिंसा हिंसा, घातना अथवा मारना।

तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा कायवक्केण, एवं हवइ संजए ॥३६॥
[दश० अ० ८, गा० ३]

इन जीवो के प्रति सदा अहिंसक वृत्ति से रहना। जो कोई मन, वचन और काया से अहिंसक रहता है, वही आदर्श संयमी है।

अजयं चरमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥३७॥

असावधानी से चलनेवाला मनुष्य त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा करता है, जिससे कर्मबन्धन होता है और उसका फल कटु होता है।

अजयं चिट्ठमाणो उ, पाणभूयाहिं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥३८॥

असावधानी से खड़ा रहनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा करता है, जिससे कर्मबन्धन होता है और उसका फल कटु होता है।

अजयं आसमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥३९॥

असावधानी से बैठनेवाला मनुष्य त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा करता है, जिससे कर्मबन्धन होता है और उसका फल कटु होता है।

अजयं सयमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥४०॥

असावधानी से सोनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है, जिससे कर्मबन्धन होता है और उसका फल कटु होता है।

अजयं भुञ्जमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥४१॥

असावधानी से भोजन करनेवाला मनुष्य त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है, जिससे कर्मबन्धन होता है और उसका फल कटु होता है ।

अजयं भासमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥४२॥

[दश० अ० ४, गा० १ से ६]

असावधानी से बोलनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है, जिससे कर्मबन्धन होता है और उसका फल कटु होता है ।

धारा : १३ :

सत्य

तं सच्चं भयवं ॥ १ ॥

[प्रश्न० द्वितीय सवरद्वार]

वह सत्य भगवान है।

पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए
से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ ॥ २ ॥

[आ० श्रु० १, अ० ३, उ० ३]

हे पुरुष ! तू सत्य को ही वास्तविक तत्त्व जान। सत्य की आज्ञा मे रहनेवाला वह बुद्धिमान् मनुष्य मृत्यु को तैर जाता है।

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥३॥

[दश० अ० ६, गा० ११]

अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरे के लाभ के लिये, क्रोध से अथवा भय से, किसी की हिंसा हो ऐसा असत्य वचन खुद नही बोलना चाहिये, ठीक वैसे ही दूसरे से भी नही बुलवाना चाहिये।

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरिहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥४॥

[दश० अ० ६, गा० १२]

इस जगत मे सभी साधु पुरुषो ने मृषावाद अर्थात् असत्य वचन की घोर निन्दा की है ; क्योंकि वह मनुष्यों के मन मे अविश्वास उत्पन्न करनेवाला है। अतः असत्य वचन का परित्याग करना चाहिये।

न लविज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्संतरेण वा ॥५॥

[उत्त० अ० १, गा० २५]

यदि कोई पूछे तो अपने लिये अथवा अन्य के लिये, अथवा दोनों के लिए, स्वप्रयोजन अथवा निष्प्रयोजन, पापी एव निरर्थक वचन नही बोलना चाहिये। न मर्मभेदी वचन ही बोलना चाहिये।

आहच्च चण्डालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइ वि।
कडं कडेत्ति भासेज्जा, अकडं नो कडेत्ति य ॥६॥

[उत्त० अ० १, गा० ११]

यदि क्रोध के कारण कभी मुँह से असत्य वचन निकल पडे, तो उसे छिपाये नही। यदि असत्य वचन बोल चुके हों तो वैसा साफ-साफ कह देना चाहिये और नही बोला हो तो वैसा कहना चाहिये। अर्थात् किये हुए को किया हुआ और नही किये हुए को नही किया हुआ कहना जरूरी है। इस तरह सदा सत्य बोलना चाहिये।

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पन्नवं।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासिज्ज सव्वसो ॥७॥

[दश० अ० ७, गा० १]

प्रज्ञावान् साधक चार प्रकार की भाषाओ के स्वरूप को जानकर उनमे से दो प्रकार की भाषा द्वारा विनय (आचार) सीखे ; और दो प्रकार की भाषाओ का कदापि उपयोग न करे।

विवेचन—भाषा के चार प्रकार है :—(१) सत्य, (२) असत्य, (३) सत्यासत्य अर्थात् मिश्र और (४) असत्यामृषा अर्थात् व्यावहारिक। इनमें से प्रथम और अन्तिम इन दो भाषाओ का साधक विनयपूर्वक व्यवहार करे और असत्य तथा मिश्र भाषा का सर्वथा परित्याग करे।

जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा।
जा य बुद्धेहिंऽनाइन्ना, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥८॥

[दश० अ० ७, गा० २]

जो भाषा सत्य होने पर भी बोलने योग्य न हो, जो भाषा सत्य और असत्य के मिश्रणवाली हो, जो भाषा असत्य हो और जिस भाषा का तीर्थङ्करो ने निषेध किया हो—ऐसी भाषा का प्रयोग प्रज्ञावान् साधक को नही करना चाहिये।

विवेचन—ऊपर की सातवी गाथा मे सत्य और व्यावहारिक भाषा बोलने के सम्बन्ध में कहा गया है। उसमे भी बहुत कुछ बात समझने योग्य है। उसीका स्पष्टीकरण प्रस्तुत गाथा मे किया गया है। भाषा सत्य हो किन्तु बोलने जैसी न हो, अर्थात् जिसके बोलने से हिंसा अथवा अन्य किसी की हानि होने जैसी स्थिति हो तो वैसी भाषा कभी नही बोलनी चाहिये। उदाहरण के लिये—बाजार में जाते हुए यदि कोई कसाई-वधिक पूछे, "मेरी गाय को देखा है ?"

तो गाय को जाती हुई देखने पर उत्तरदाता ऐसा कह दे—"हाँ, मैंने देखी है, वह उस ओर गई है।" तो परिणामस्वरूप हिंसा होना सम्भव है, क्योंकि कसाई उस दिशा मे जाकर गाय को पकड लायगा और फिर उसका वध करेगा। अतः ऐसी भाषा नही बोलनी चाहिये।

असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं।
समुपेहमसंदिद्धं, गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥९॥

[दश० अ० ७, गा० ३]

व्यावहारिक भाषा तथा सत्य भाषा भी जो पापरहित हो, कर्कशता से मुक्त (कोमल) हो, निःसन्देह हो तथा स्व-पर का उपकार करनेवाली हो, ऐसी भाषा का ही प्रयोग प्रज्ञावान् साधक को करना चाहिये।

वितहं वि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं वए ॥१०॥

[दश० अ० ७, गा० ५]

जो मनुष्य प्रकट सत्य को भी वास्तविक असत्य के रूप मे भूल से बोल जाय तो वह पाप का भागी बनता है, तब सर्वथा असत्य बोलनेवाले का तो कहना ही क्या? वह अनन्त पापो का भागी बनता है।

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥११॥

[दश० अ० ७, गा० ११]

इसी तरह सत्यभाषा भी अगर अनेकविध प्राणियो की हिंसा का कारण बनती हो अथवा कठोर हो तो कभी नही बोलनी चाहिये, क्योकि उससे पाप का आगमन होता है।

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥१२॥

[दश० अ० ७, गा० १२]

ठीक इसी प्रकार काने को काना, नपुसक को नपुसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर भी नही कहना चाहिये, क्योकि यह सब सत्य होने पर भी सुनने मे अत्यन्त कठोर लगता है।

एएणऽन्नेण अट्ठेणं, परो जेणुवहम्मइ।
आयारभावदोसन्नू, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥१३॥

[दश० अ० ७, गा० १३]

अतः प्रज्ञावान् साधक आचार और भाव के गुण-दोषो को परख कर उपर्युक्त तथा दूसरे के हृदय को आघात पहुँचानेवाली भाषा का प्रयोग न करे।

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघायणी।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥१४॥

[दश० अ० ७, गा० ५४]

इसी प्रकार प्रज्ञावान् साधक क्रोध, लोभ, भय, हास्य अथवा विनोद मे पापकारिणी, पाप का अनुमोदन करनेवाली, निश्चयकारिणी और दूसरे के मन को दुःख पहुँचानेवाली भाषा बोलना छोड़ दे।

मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबन्धीणि महब्भयाणि ॥१५॥

[दश० अ० ९, उ० ३, गा० ७]

यदि हमे लोहे का काँटा चुभ जाय तो घडी दो घड़ी ही दुःख होता है और वह भी सरलता से निकाला जा सकता है, परन्तु अशुभ वाणीरूपी काँटा हृदय मे एक बार चुभ जाने पर सरलता से नही निकाला जा सकता, साथ ही वह चिरकाल के लिए वैरानुबन्ध करनेवाला तथा महान् भय उत्पन्न करनेवाला होता है।

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं विय जियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥१६॥

[दश० अ० ८, गा० ४९]

आत्मार्थी साधक को चाहिये कि वह दृष्ट, परिमित, असन्दिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट, अनुभूत, वाचालता-रहित और किसी को भी उद्विग्न न करनेवाली ऐसी वाणी का उपयोग करे।

भासाइ दोसे य गुणे य जाणिया,
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया।

छसु संजए सामणिए सया जए,
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥१७॥
[दश० अ० ७, गा० ५६]

भाषा के दोष और गुणो को जानकर उसके दोषों को सदा के लिये छोड देना चाहिये। छह काय के जीवो का यथार्थ संयम पालने वाले और सदा सावधानी से वर्ताव करनेवाले ज्ञानी साधक हमेशा परहितकारी तथा मधुर भाषा का ही प्रयोग करे।

सुवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥१८॥
[दश० अ० ७, गा० ५५]

मुनि हमेशा वचनशुद्धि का विचार करे और दुष्ट भाषा का सदा के लिये परित्याग करे। यदि अदुष्ट भाषा बोलने का अवसर भी आ जाय तो वह परिमित एव विचारपूर्वक बोले। ऐसा बोलनेवाला सन्त पुरुषो की प्रशसा का पात्र बनता है।

अप्पत्तिअं जेण सिया, आसु कुप्पिज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहिअगामिणिं ॥१९॥
[दश० अ० ८, गा० ४८]

जिससे अविश्वास पैदा हो अथवा दूसरे को जल्दी से क्रोध आ जाय ऐसी अहितकर भाषा का विवेकी पुरुष कदापि प्रयोग न करे।

देवाणं मणुयाणं च, तिरियाणं च वुग्गहे।
अमुगाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए ॥२०॥

[दश० अ० ७, गा० ५०]

देवता, मनुष्य तथा तिर्यचों में जब परस्पर युद्ध हो, तब इसकी जय हो और इसकी पराजय हो, ऐसा नही बोलना चाहिये।

विवेचन—क्योंकि इस प्रकार के वचनोच्चार से एक प्रसन्न होता है और दूसरा रुष्ट। ऐसी दुःखद परिस्थिति उपस्थित करना प्रज्ञाशाली साधक के लिये उपयुक्त नही है।

अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥२१॥

[दश० अ० ८, गा० ४७]

संयमी साधक विना पूछे उत्तर न दे, अन्य लोग वाते करते हो तो उनके बीच में न बोले, पीठ पीछे किसी की निन्दा न करे तथा बोलने मे कपटयुक्त असत्यवाणी का प्रयोग न करे।

जणवयसम्मयठवणा,
नामे रूवे पडुच्चे सच्च य।
ववहारभावजोगे,
दसमे ओवम्मसच्चे य ॥२२॥

[प्रज्ञापना सूत्र-भाषा पद]

सत्यवचनयोग के दस प्रकार है :—(१) जनपद-सत्य, (२) सम्मत-सत्य, (३) स्थापना-सत्य, (४) नाम-सत्य, (५) रूप-सत्य,

(६) प्रतीत-सत्य, (७) व्यवहार-सत्य, (८) भाव-सत्य, (६) योग-सत्य और (१०) उपमा-सत्य।

विवेचन—दशवैकालिक-निर्युक्ति मे इन दस प्रकार के सत्य-वचनयोग की जानकारी इस प्रकार दी है :—

१ : जनपद-सत्य—जिस देश मे जैसी भाषा बोली जाती हो वैसी भाषा बोलना, उसे जनपद-सत्य कहते है। जैसे कि 'बिल' शब्द से हिन्दी भाषा मे चूहे-सर्प आदि का निवास-स्थान समझा जाता है, जबकि अंग्रेजी भाषा में 'बिल' शब्द से मूल्य-पत्रक, [की हुई सेवा के मूल्य का पत्रक] अथवा किसी नियम की स्थापना का पत्रक समझा जाता है।

२ : सम्मत-सत्य—पूर्वाचार्यों ने जिस शब्द को जिस अर्थ में माना है, उस शब्द को उसी अर्थ मे मान्य रखना, वह है 'सम्मत-सत्य'। जैसे कि कमल और मेढक दोनों ही कीचड मे उत्पन्न होते है, तथापि पङ्कज शब्द कमल के लिये ही प्रयुक्त होता है, न कि· मेढक के लिये।

३ : स्थापना-सत्य—किसी भी वस्तु की स्थापना कर उसे इस नाम से पहिचानना, यह है, 'स्थापना-सत्य'। जैसे कि ऐसी आकृति-वाले अक्षर को ही 'क' कहना। एक के ऊपर दो बिन्दु और लगा देने से 'सौ' और तीन शून्य जोड देवे तो उसे 'हजार' कहना आदि। शतरज के मुहरों को 'हाथी', 'ऊँट', 'घोडा' आदि कहना यह भी इसीमे आता है।

४ : नाम-सत्य—गुण-विहीन होने पर भी किसी व्यक्ति अथवा वस्तुविशेष का नाम निर्धारित करना 'नाम-सत्य' कहलाता है। जैसे एक वालक का जन्म किसी गरीब घर मे होने पर भो उसका नाम रख लिया जाता है 'लक्ष्मीचन्द्र'।

५ : रूप-सत्य—किसी विशेष रूप के धारण कर लेने पर उसे उसी नाम से सम्बोधित किया जाता है। जैसे कि साधु का वेष पहने हुए देखने पर उसे 'साधु' कहा जाता है।

६ : प्रतीत-सत्य—(अपेक्षा-सत्य) एक वस्तु की अपेक्षा अन्य वस्तु को वडी, भारी, हल्की आदि कहना वह 'प्रतीत-सत्य' है। जैसे कि—अनामिका की अंगुली वडी है यह वात कनिष्ठा की अपेक्षा से सत्य है, परन्तु मध्यांगुली की अपेक्षा वह छोटी है।

(७) *व्यवहार-सत्य*—(लोक-सत्य)—जो वात व्यवहार में बोली जाय वह 'व्यवहार-सत्य'। जैसे कि गाड़ी कलकत्ता पहुचती है तब कहा जाता है कि कलकत्ता आ गया। रास्ता अथवा मार्ग स्थिर है, वह चल तो सकता नही, फिर भी कहा जाता है कि यह मार्ग आबू जाता है। इसी प्रकार वन मे स्थित घास जलता है, तथापि कहा जाता है कि वन जल रहा है।

(८) *भाव-सत्य*—जिस वस्तु मे जो भाव प्रधानरूप मे दिखाई पडता हो, उसे लक्ष्य मे रख युक्त वस्तु का प्रतिपादन करना, 'भाव-सत्य' कहलाता है। कितने ही पदार्थों मे पाँचों रग न्यूनाधिक प्रमाण मे रहने पर भी उन रगों की प्रधानता मानकर काला, पीला

आदि कहा जाता है। जैसे तोते मे अनेक रंग होने पर भी उसे हरे रंग का ही कहते हैं, यह है 'भाव-सत्य'।

(९) *योग-सत्य*—योग अर्थात् सम्बन्ध से किसी व्यक्ति अथवा वस्तु को पहचानना, वह 'योग-सत्य' कहलाता है। जैसे कि अध्यापक को अध्यापन-काल के अतिरिक्त सयय मे भी अध्यापक कहा जाता है।

(१०) *उपमा-सत्य*—किसी एक प्रकार की समानता हो, उसके आधार पर उस वस्तु की अन्य वस्तु के साथ तुलना करना और उसे तदनुसारी नाम से पहचानना वह उपमा-सत्य कहलाता है। जैसे कि 'चरण-कमल', 'मुख-चन्द्र', 'वाणी-सुधा' आदि।

कोहे माणे माया, लोभे पेज्जे तहेव दोसे य।
हासे भए अक्खाइय, उवघाए निस्सिया दसमा ॥२३॥

[प्रज्ञापनासूत्र-भाषापद]

क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, हास्य तथा भयभीत होकर बोली जानेवाली भाषा, कल्पित व्याख्या तथा दसमे उपघात (हिंसा) का आश्रय लेकर जिस भाषा का उपयोग किया जाय, वह असत्य भाषा कहलाती है।

———

धारा : १३ .

अस्तेय

पंचविहो पण्णत्तो, जिणेहिं इह अण्हओ अणादीओ।
हिंसामोसमदत्तं, अब्बंभपरिग्गहं चेव ॥ १ ॥

[प्रश्न० द्वार १, गा० २]

जिन भगवन्तों ने आस्रव को,अनादि तथा पाँच प्रकार का कहा है : (१) हिंसा, (२) मृषावाद, (३) अदत्त, (४ अब्रह्म और (५) परिग्रह।

विवेचन—जिसके द्वारा आत्मप्रदेशों की ओर कार्मण-वर्गणा का आकर्षण हो उसे आस्रव कहते हैं। वह प्रवाह से अनादि है। हिंसादि पाँच प्रकार के पाप के कारण उसका उद्भव होता है। इनमें से हिंसा को रोकने के लिये प्राणातिपात-विरमणव्रत अर्थात् अहिंसा-व्रत, मृषावाद को रोकने के लिये मृषावादविरमणव्रत अर्थात् सत्यव्रत, तथा अदत्तादान की निवृत्ति के लिये अदत्तादानविरमणव्रत अर्थात् अस्तेयव्रत व्रत हैं। इसी प्रकार अब्रह्म को रोकने के लिये मैथुन-विरमणव्रत और परिग्रह को रोकने के लिये परिग्रह-विरमणव्रत हैं।

तइयं च अदत्तादाणं हरदहमरणभयकलुसतासणपर-संतिमऽभेज्ज लाभमूलं·····अकित्तिकरणं अणज्जं·····

साहुगरहणिज्जं पियजणमित्तजणभेदविप्पीतिकारकं राग-दोसबहुलं ॥ २ ॥

[प्रश्न० द्वार ३, सूत्र ६]

तीसरा अदत्तादान दूसरों के हृदय को दाह पहुँचानेवाला, मरण-भय, पाप, कष्ट तथा परद्रव्य की लिप्सा का कारण और लोभ का मूल है। यह अपयशकारक है, अनार्य कर्म है, साधु-पुरुषो द्वारा निन्दित है, प्रियजन और मित्रजनो मे भेद करानेवाला है, और अनेकविध रागद्वेष को जन्म देनेवाला है।

विवेचन—प्रश्नव्याकरण सूत्र के तृतीय द्वार मे स्तेय के तीस नाम गिनाये हैं, जिनमे से कुछ इस प्रकार समझने चाहिये :—
(१) चोरी, (२) अदत्त, (३) परलाभ, (४) असयम, (५) परधनगृद्धि, (६) लौल्य, (७) तस्करत्व, (८) अपहार, (९) पापकर्मकरण, (१०) कूटतूल-कूटमान, (११) परद्रव्याकाक्षा, (१२) तृष्णा आदि।

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहंसि अजाइया ॥ ३ ॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥ ४ ॥

[दश० अ० ६, गा० १४-१५]

वस्तु सजीव हो या निर्जीव, कम हो या ज्यादा, वह यहाँ तक कि दाँत कुतरने की सलाई के समान तुच्छ वस्तु भी उसके स्वामी को पूछे बिना सयमी पुरुष स्वय लेते नही, दूसरे से लिवाते नही तथा जो कोई लेता हो, उसे अनुमति देते नही।

निच्चं तसे पाणिणो थावरे य,
जे हिंसंति आयसुहं पडुच्च ।
जे लूसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खई सेयवियस्स किंचि ॥५॥

[सूत्र० श्रु० १, अ० ५, उ० १, गा० ४]

जो मनुष्य अपने सुख के लिये त्रस तथा स्थावर प्राणियों की निरन्तर हिंसा करता रहता है और जो दूसरे की वस्तुएं विना लौटाये अपने पास रख लेता है अर्थात् चुरा लेता है, वह आदरणीय व्रतों का तनिक भी पालन नही कर सकता।

उड्ढं अहेय तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहि पाएहि य संजमित्ता,
अदिन्नमन्नेसु य नो गहेज्जा ॥६॥

[सू० श्रु० १, अ० १०, गा० २]

आत्मार्थी पुरुष को चाहिये कि वह ऊपर, नीचे और तिरछी दिशाओं मे जहाँ त्रस और स्थावर जीव रहते है, उन्हे हाथ-पैरों के आन्दोलन से अथवा अन्य अगों द्वारा किसी प्रकार की यातना न पहुँचाते हुए सयम से रहे तथा दूसरे द्वारा नही दी गई वस्तु ग्रहण न करे अर्थात् अदत्तादान न करे।

दंतसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं ॥७॥
[उत्त० अ० १९, गा० २८]

दाँत कुतरने का तिनका भी उसके मालिक के दिये बिना ग्रहण नही करना, साथ ही निरवद्य और एषणीय वस्तुएं ही ग्रहण करना— ये दोनो बाते अत्यन्त दुष्कर है।

विवेचन—निरवद्य अर्थात् पापरहित। एषणीय वस्तुएं अर्थात् साधुधर्म के नियमानुसार उपयोग में ली जायँ ऐसी वस्तुएं।

रूवे अतित्ते य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥८॥
[उत्त० अ० ३२, गा० २९]

मनोहररूप ग्रहण करनेवाला जीव अतृप्त ही रहता है। उसकी आसक्ति बढती ही जाती है, इसलिए तुष्टि—तृप्ति नही होती। अतृप्ति-दोष से दुःखित होकर वह दूसरे की सुन्दर वस्तुओ का लोभी बनकर अदत्त ग्रहण करता है।

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।

मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्था वि दुक्खा न विमुच्चई से॥६॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ३०]

रूप के संग्रह मे असन्तुष्ट बना हुआ जीव तृष्णा के वशीभूत होकर अदत्त का हरण करता है और इस तरह प्राप्त वस्तु के रक्षणार्थ लोभदोप मे फंसकर कपट-क्रिया द्वारा असत्य बोलता है। इन कारणो से वह दुःख से मुक्त नही होता।

——

धारा : १४ :

ब्रह्मचर्य

लोगुत्तमं च वयमिणं ॥१॥

[प्रश्न० संवरद्वार ४, सूत्र १]

यह व्रत लोकोत्तम है।

बंभचेर उत्तमतव-नियम-नाण-दंसण-चरित्त-सम्मत-विणयमूलं ॥२॥

[प्रश्न० संवरद्वार ४, सूत्र १]

ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सयम और विनय का मूल है।

एक्कं पि बंभचेरे जंमिय आराहियं पि, आराहियं वयमिणं सव्वं तम्हा निउएण बंभचेरं चरियव्वं ॥३॥

[प्रश्न० संवरद्वार ४, सूत्र १]

जिसने अपने जीवन मे एक ही ब्रह्मचर्य-व्रत की आराधना की हो, उसने सभी उत्तमोत्तम व्रतों की आराधना की है—ऐसा समझना चाहिये। अतः निपुण साधक को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं ॥४॥

[सू० श्रु० १, अ० ६, गा० २३]

अथवा तप में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है ।

विरइ अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥५॥

[उत्त० अ० १६, गा० २६]

कामभोग का रस जाननेवालों के लिए मैथुन-त्याग और उग्र ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने का कार्य अति कठिन है ।

मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स,
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए,
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥५॥

[उत्त० अ० ३२, गा० १७]

मोक्षार्थी, संसारभीरु और धर्मनिष्ठ पुरुषों के लिये इस संसार में बाल जीवों का मन हरण करनेवाली स्त्रियों का परित्याग करने जितना मुश्किल कार्य दूसरा कोई नही है ।

एए य संगे समइक्कमित्ता,
सुदुत्तरा चेव भवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥७॥

[उत्त० अ० ३२, गा० १८]

जैसे महासागर को तैर जानेवाले के लिये गङ्गा नदी तैर जाना सुगम है, ठीक वैसे ही स्त्री-ससर्ग का त्याग करनेवालों के लिये अन्य वस्तुओं का त्याग करना अत्यन्त सरल है।

णो रक्खसीसु गिज्झेज्जा,
गंडवच्छासु ऽणेगचित्तासु ।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता,
खेल्लंति जहा व दासेहिं ॥८॥

[उत्त० अ० ८, गा० १८]

जिस तरह कोई राक्षसी किसी का सारा रक्त चूसकर उसके प्राण हर लेती है, ठीक उसी तरह पुष्ट स्तनवाली तथा अनेको का ध्यान चित्त में धारण करनेवाली स्त्रियाँ साधक के ज्ञान-दर्शन आदि सब का अपहरण कर उसकी साधना का नाश कर देती है। ऐसी स्त्री सर्वप्रथम पुरुषो को अपनी ओर आकृष्ट करती है और बाद में उनसे आज्ञाकारी दास के समान कार्य करवाती है।

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं ।
नाऽऽयरंति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥९॥

[दश० अ० ६, गा० १५]

सयम का भंग करनेवाले रमणीय स्थानो से दूर रहनेवाले साधु-पुरुष साधारण जन-समूह के लिये अत्यन्त दुःसाध्य, प्रमाद के कारण-रूप और महान् भयङ्कर ऐसे अब्रह्मचर्य का सपने मे भी सेवन नहीं करते।

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१०॥

[दश० अ० ६, गा० १६]

यह अब्रह्मचर्य, अधर्म का मूल और महान् दोषो का स्थान है। अतः निर्ग्रन्थ मुनि उसका सदा त्याग करते हैं।

इत्थिओ जे न सेवन्ति, आइमोक्खा हु ते जणा ॥११॥

[सू० श्रु० १, अ० १५, उ० ६]

जो पुरुष स्त्रियों का सेवन नही करते, वे मोक्ष-मार्ग मे अग्रगण्य होते हैं।

विवेचन—इसी प्रकार जो स्त्रियाँ पुरुष-सेवन नही करती, वे भी मोक्ष-मार्ग में अग्रगण्य होती हैं। ब्रह्मचर्यव्रत पुरुष तथा स्त्री—दोनों के लिये समान रूप से हितकर है।

जे विन्नवणाहिअजोसिया,
संतिण्णेहि समं वियाहिया ।
तम्हा उड्ढं ति पासहा,
अदक्खु कामाई रोगवं ॥१२॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० ३, गा० २]

काम को रोगरूप समझकर जो पुरुष स्त्रियों का सेवक नहीं बनते, वे मुक्त पुरुष के समान ही हैं। स्त्री-त्याग के पश्चात् ही मोक्ष-दर्शन सुलभ है।

जंहिं नारीणं संजोगा, पूयणा पिट्ठओ कया।
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥१३॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० ४, गा० १७]

जिन पुरुषों ने स्त्रीससर्ग और शरीरशोभा को तिलाञ्जलि दे दी है, वे समस्त विघ्नो को जीतकर उत्तम समाधि मे निवास करते है।

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति तं ॥१४॥

[उत्त० अ० १६, गा० १६]

अत्यन्त दुष्कर ऐसे ब्रह्मचर्यव्रत की साधना करनेवाले ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नरादि सभी देवी-देवता नमस्कार करते हैं।

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण, सिज्झस्सन्ति तहाऽवरे ॥१५॥

[उत्त० अ० १६, गा० १७]

यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिन-देशित है, अर्थात् जिनों द्वारा उपदिष्ट है। इसी धर्म के पालन से अनेक जीव सिद्ध बन गये, बन रहे है और भविष्य मे भी बनेंगे।

वाउव्व जालमच्चेइ, पिया लोगंसि इत्थओ ॥१६॥

[सू० श्रु० १, अ० १५, गा० ८]

जैसे वायु अग्नि की ज्वाला को पार कर जाता है, वैसे ही महापरानुक्रमी पुरुष इस लोक मे स्त्री-मोह की सीमा का उल्लंघन कर जाते है।

नीवारे व न लीएज्जा, छिन्नसोए अणाविले।
अणाइले सया दंते, संधिपत्तं अणेलिसं ॥१७॥

[सू० श्रु० १, अ० १५, गा० १२]

विषय-वासना तथा इन्द्रियों को जीतकर जो छिन्नस्रोत (संसार के प्रवाह को काटनेवाले) बन गये हैं, साथ ही राग-द्वेष रहित हैं, वे भूलकर भी कदापि स्त्रीमोह मे न फँसे। क्योंकि स्त्री-मोह सूअर को फँसानेवाले चावल के दाने के समान है। जो पुरुष विषयभोग मे अनाकुल और सदा-सर्वदा अपनी इन्द्रियो को वश मे रखनेवाला है, वह अनुपम भावसन्धि (कर्मक्षय करने की मानसिक दशा) को प्राप्त होता है।

आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा च मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं, तेसिं इंदियदरिसणं ॥१८॥
कूइअं रुइअं गीअं, हासभुत्तासिआणि य।
पणीअं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोअणं ॥१९॥
गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥२०॥

[उत्त० अ० १६, गा० ११-१२-१३]

(१) स्त्रियों से व्याप्त स्थान, (२) स्त्रियों की मनोहर कथाएँ, (३) स्त्रियों का परिचय, (४) स्त्रियों के अङ्गोपाग का निरीक्षण, (५) स्त्रियों के मधुर शब्द, रुदन, गीत, हँसी आदि का श्रवण, (६) पूर्वकाल मे भुक्त भोगो तथा अनुभूतविषयों का स्मरण,

(७) अधिक चिकने पदार्थों का सेवन, (८) प्रमाण से अधिक आहार, (९) इच्छित शरीर-शोभा और (१०) दुर्जय कामभोग का सेवन— ये दस वस्तुएं आत्मार्थी पुरुष के लिए तालपुट विष के समान है।

जं विवित्तमणाइन्नं, रहियं थीजणेण य।
बंभचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए ॥२१॥

[उत्त० अ० १६, गा० १]

मुमुक्षु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये ऐसे स्थान मे निवास करे, जहाँ एकान्त हो, जो कम वस्तीवाला हो और स्त्री आदि से रहित हो।

विवित्तसेज्जासणजंतियाणं,
ओमासणाणं दमिइंदियाणं।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं,
पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥२२॥

[उत्त० अ० ३२, गा० १२]

जिस तरह सर्वोत्तम औषधियो से दूर की गई व्याधियाँ पुनः अपना सिर ऊपर नहीं उठाती अर्थात् पैदा नही होती, ठीक उसी तरह विविक्त शय्या और आसन का सेवन करनेवाले अल्पाहारी तथा जितेन्द्रिय महापुरुषो के चित्त को राग और विषयरूपी कोई शत्रु सता नही सकता, चचल बना नही सकता।

मणपल्हायजणणी, कामराग-विवड्ढणी।
बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥२३॥

[उत्त० अ० १६, गा० २]

ब्रह्मचर्यपरायण साधक को चाहिए कि वह मन मे आह्लाद उत्पन्न करनेवाली तथा विषय-वासनादि की वृद्धि करनेवाली स्त्री-कथा का निरन्तर त्याग करे।

समं च संथवं थीहि, संकहं च अभिक्खणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥२४॥

[उत्त० अ० १६, गा० ३]

ब्रह्मचर्य मे अनुराग रखनेवाले साधक स्त्रियों के परिचय और उनके साथ बैठकर बारबार वार्तालाप करने के अवसरो का सदा के लिए परित्याग कर दे।

कुव्वंति संथवं ताहिं,
पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं।
तम्हा उ वज्जए इत्थी,
विसलित्तं व कण्ठगं नच्चा ॥२५॥

[सू० श्रु० १, अ० ४, उ० १, गा० १६-११]

जो स्त्रियों के साथ परिचय रखता है, वह समाधियोग से भ्रष्ट हो जाता है। अतः स्त्रियों को विषलिप्त कंटक के समान समझकर ब्रह्मचारी उनका सम्पर्क छोड़ दे।

नो तासु चक्खु संधेज्जा,
नो वि य साहसं समभिजाणे।

नो सहियं पि विहरेज्जा,
एवमप्पा सुरक्खिओ होई ॥२६॥

[सू० श्रु० १, अ० ४, उ० १, गा० ५]

ब्रह्मचारी स्त्रियो पर कुदृष्टि न डाले। उनके साथ कुकर्म करने का साहस न करे। ठीक वैसे ही उनके साथ विहार अथवा एकान्तवास भी न करे। इस प्रकार स्त्री-सम्पर्क से वचनेवाला ब्रह्मचारी अपनी आत्मा को सुरक्षित रख सकता है।

जतुकुंभे जहा उवज्जोई,
संवासं विदू विसीएज्जा ॥ २७ ॥

[सू० श्रु० १, अ० ४, उ० १, गा० २६]

जैसे अग्नि के पास रहने से लाख का घडा पिघल जाता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष भी स्त्री के सहवास से विषाद को प्राप्त होता है, अर्थात् उसका मन सक्षुब्ध बन जाता है।

हत्थपायपडिच्छिन्नं, कन्ननासविगप्पियं।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥२८॥

[उत्त० अ० ८, गा० ५६]

जिस के हाथ-पैर कट चुके हो, नाक-कान बेडोल बन गये हों, तथा जो सौ वर्ष की आयु की हो गई हो ऐसी वृद्धा और कुरूप स्त्री का सम्पर्क भी ब्रह्मचारी को छोड देना चाहिये।

अहसेऽणुतप्पई पच्छा,
भोच्चा पायसं व विसमिस्सं।

एवं विवेगमायाय,
संवासो नवि कप्पए दविए ॥२९॥
[सू० श्रु० १, अ० ४, उ० १, गा० १०]

विषमिश्रित भोजन करनेवाले मनुष्य की तरह ही स्त्री-समागम करनेवाले ब्रह्मचारी को बाद मे बहुत पछताना पडता है। इसलिये प्रारम्भ से ही विवेकी बन, मुमुक्षु आत्मा को स्त्रियों के साथ समागम नही करना चाहिये।

जहा बिरालावसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,
न बंभयारिस्स खमो निवासो ॥३०॥
[उत्त० अ० ३२, गा० १३]

जैसे बिल्लियों के वास-स्थान के पास रहना चूहों के लिये योग्य नही है, वैसे ही स्त्रियो के निवास-स्थान के बीच रहना ब्रह्मचारी के लिये योग्य नही है।

जहा कुक्कुडपोअसस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थी विग्गहओ भयं ॥३१॥
[दश० अ० ८, गा० ५४]

जिस तरह मुर्गी के बच्चे को बिल्ली मेरा प्राण हरलेगी ऐसा भय सदा बना रहता है, ठीक वैसे ही ब्रह्मचारी को भी नित्य स्त्री-सम्पर्क मे आते हुए अपने ब्रह्मचर्य के भग होने का भय बना रहता है।

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
बंभचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥३२॥

[उत्त० अ० १६, गा० ४]

ब्रह्मचर्य मे अनुराग रखनेवाले साधक को चाहिये कि वह स्त्रियो के अङ्ग-प्रत्यग, सस्थान, मधुर भाषण तथा कटाक्ष का रसास्वादन करना छोड दे ।

न रूवलावण्णविलासहासं,
न जंपियं इंगियपेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥३३॥

[उत्त० अ० ३२, गा० १४]

तपस्वी श्रमण स्त्रियो के रूप-लावण्य, विलास, हास-परिहास, भाषण-सभाषण, स्नेहचेष्टा अथवा कटाक्षयुक्त दृष्टि को अपने मन मे स्थान न दे अथवा उसे देखने का प्रयास न करे ।

चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं ।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥३४॥

[दश० अ० ८, गा० ५५]

साधक शृङ्गारपूर्ण चित्रो से सुसज्जित दीवार तथा उत्तम रीति से अलंकृत ऐसी नारी की ओर टकटकी लगाकर देखने का प्रयास न करे । और तिसपर भी यदि दृष्टि पड जाय तो उसे सूर्य पर पडी दृष्टि की तरह शीघ्र ही हटा ले ।

अदंसणं चेव अपत्थणं च,
अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्साऽऽरियज्झाणजुग्गं,
हियं सया बंभवए रयाणं ॥३५॥

[उत्त० अ० ३२, गा० १५]

ब्रह्मचर्य मे लीन और धर्म-ध्यान के योग्य साधु स्त्रियो को रागदृष्टि से न देखे, स्त्रियो की अभिलाषा न करे, मन से उनका चिन्तन न करे और वचन से उनकी प्रशसा न करे। यह सब उसके ही हित मे है।

जइ तं काहिसी भावं,
जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हडो,
अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥३६॥

[उत्त० अ० २२, गा० ४५]

हे साधक! जिन-जिन स्त्रियों पर तेरी दृष्टि पडे, उन सब को भोगने की अभिलाषा करेगा तो वायु से कम्पायमान हड वृक्ष की तरह तू अस्थिर बन जाएगा और अपने चित्त की समाधि खो बैठेगा।

कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणियकंदियं।
बंभचेररओ थीणं, सोयगेज्झं विवज्जए ॥३७॥

[उत्त० अ० १६, गा० ५]

ब्रह्मचर्यानुरागी साधक स्त्रियो के मीठे शब्द, प्रेम-रुदन, गीत, हास्य, चित्कार, विलाप, आदि श्रोत्रग्राह्य विषयो का परित्याग कर दे ; अर्थात् इन्हे कानो पर पडने ही न दे।

हासं किड्डं रइं दप्पं, सहसा वित्तासियाणि य।
बंभचेररओ थीणं, नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥३८॥

[उत्त० अ० १६, गा० ६]

ब्रह्मचर्य-प्रेमी साधक ने पूर्वावस्था मे स्त्रियो के साथ हास्य, द्यूतक्रीडा, शरीर-स्पर्श का आनन्द, स्त्री का मान-मर्दन करने के लिये धारण किये हुए गर्व तथा विनोद के लिये की गई सहज चेष्टादि क्रियाओ का जो कुछ अनुभव किया हो, उनका मन से कदापि विचार न करना चाहिये।

मा पेह पुरा-पणामए,
अभिकंखे उवहिं धुणित्तए।
जे दूमणएहि नो नया,
ते जाणंति समाहिमाहियं ॥३९॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० २, गा० २७]

हे प्राणी ! पूर्वानुभूत विषय-भोगों का स्मरण न कर ; न ही इनकी कामना कर। सभी माया-कर्मों को दूर कर। क्योंकि मन को दुष्ट बनानेवाले विषयों द्वारा जो नही झुकता है, वही जिनकथित समाधि को जानता है।

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे,
समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥४०॥
[उत्त० अ० ३२, गा० ११]

जैसे अधिक ईंधनवाले वन मे लगी हुई तथा वायु द्वारा प्रेरित दावाग्नि शान्त नही होती, वैसे ही सरस एव अधिक प्रमाण मे आहार करनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियरूपी अग्नि शान्त नही होती ।

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥४१॥
[दश० अ० ८, गा० ५७]

आत्म-गवेषी—आत्मान्वेषक पुरुष के लिये देहविभूषा, स्त्रीससर्ग (सम्पर्क) तथा रसपूर्ण स्वादिष्ट भोजन तालपुट विष के समान हैं ।

पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥४२॥
[उत्त० अ० १६, गा० ७]

ब्रह्मचर्य के अनुरागी साधक को शीघ्र ही मद (उन्मत्तता) बढाने वाले स्निग्ध भोजन का सदा के लिये परित्याग कर देना चाहिये ।

विवेचन—स्निग्ध अर्थात् रसपूर्ण । घी, दूध, दही, तेल, गुड़ और मिठाई, ये सब स्निग्ध पदार्थों मे गिने जाते हैं ।

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं ।
नाइमत्तं तु भुंजिज्जा, बंभचेररओ सया ॥४३॥

[उत्त० अ० १६, गा० ८]

ब्रह्मचर्यानुरागी साधक को चाहिए कि भिक्षा के समय शुद्ध एषणा द्वारा प्राप्त आहार को ही स्वस्थ चित्त होकर सयम-यात्रा के लिये परिमित मात्रा मे ग्रहण करे, किन्तु अधिक मात्रा मे ग्रहण न करे।

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमंडणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥४४॥

[उत्त० अ० १६, गा० ६]

ब्रह्मचर्यप्रेमी साधक हमेशा आभूषणो का त्याग करे, शरीर की शोभा वढाये नही तथा शृंगार सजाने की कोई क्रिया करे नहीं।

सद्दे रूवे य गंधे य, रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥४५॥

[उत्त० अ० १६, गा० १०]

ब्रह्मचर्यप्रेमी साधक को शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शादि इन पाँच प्रकार के काम-गुणो का सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये।

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए ।
संकाठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥४६॥

[उत्त० अ० १६, गा० १४]

एकाग्र मन रखनेवाला ब्रह्मचारी दुर्जय कामभोगो को सदा के लिये त्याग दे और सर्व प्रकार के शकास्पद स्थानो का परित्याग करे।

विसएसु मणुन्नेसु, पेमं नाभिनिवेसए ।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय, परिणामं पुग्गलाण य ॥४७॥
[दश० अ० ८, गा० ५६]

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शरूप समस्त पुद्गलों के परिणामों को अनित्य समझ कर ब्रह्मचारी साधक मनोज्ञ विषयों मे आसक्त न बने ।

पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं नच्चा जहा तहा ।
विणीयतिण्हो विहरे, सीईभूएण अप्पणा ॥४८॥
[दश० अ० ८, गा० ६०]

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शरूप पुद्गल परिणामों का यथार्थ स्वरूप जानकर ब्रह्मचारी साधक अपनी आत्मा को शान्त करे तथा तृष्णारहित बन कर जीवन विताये ।

धारा : १५

अपरिग्रह

धणधन्नपेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारंभपरिच्चाओ, निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥१॥

[उत्त० अ० १९, गा० २९]

धन, धान्य, नौकर-चाकर आदि का परिग्रह छोडना, सर्व हिंसक प्रवृत्तियो का त्याग करना और निर्ममत्व भाव से रहना, यह अत्यन्त दुष्कर है ।

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खाण मुच्चइ ॥२॥

[सू० श्रु० १, अ० १, उ० १, गा० २]

जो सजीव अथवा निर्जीव वस्तु का स्वय सग्रह करता है और दूसरे के द्वारा भी ऐसा ही सग्रह करवाता है अथवा अन्य व्यक्ति को ऐसा परिग्रह करने की सम्मति देता है, वह दुःख से मुक्त नही होता । अर्थात् संसार मे अनन्त काल तक परिभ्रमण करता रहता है ।

परिव्वयन्ते अणियत्तकामे,
अहो य राओ परितप्पमाणे ।

अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणं,
पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च ॥३॥
[उत्त० अ० १४, गा० १४]

जो पुरुष काम-भोग से निवृत्त नही हुआ है, वह रात-दिन सन्तप्त रहता है। और तदर्थ इधर उधर भ्रमण किया करता है। साथ ही स्वजनो के लिये वह दूषित प्रवृत्ति से धन प्राप्त करने के प्रयत्न मे ही जरा एव मृत्यु को प्राप्त होता है।

आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे,
ममाइसे साहसकारि मंदे।
अहो य राओ परितप्पमाणे,
अट्टेसु मूढे अजरामरेव्व ॥४॥
[सू० श्रु० १, अ० १०, गा० १८]

आयुष्य पल-पल घट रहा है। इस तथ्य को न समझ कर मूर्ख मनुष्य 'मेरा-मेरा' करते हुए नित्य प्रति नया साहस करता रहता है। वह मूढ अजरामर हो इस प्रकार अर्थ-प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है और आर्त्तध्यान वशात् दिन और रात सन्तप्त होता है।

माहणा खत्तिया वेस्सा, चण्डाला अदु वोक्कसा।
एसिया वेसिया सुद्दा, जेहि आरम्भनिस्सिया ॥५॥
परिग्गहनिविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई।
आरंभसंभिया कामा, न ते दुःखविमोयगा ॥६॥
[सू० श्रु० १, अ० ६ गा० २-३]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, बोक्कस, ऐषिक, वैश्कि, शूद्र
जो कोई आरम्भ मे मग्न है और परिग्रह मे आसक्त है, उसका वैर
बहुत बढ जाता है। विषय-वासनादि प्रवृतियाँ आरम्भ-समारम्भ से
परिपूर्ण है अतः वे मनुष्य को दुःख से छुडा नही सकती।

विवेचन—बोक्कस अर्थात् वर्णसङ्कर—जाति मे उत्पन्न। ऐषिक
अर्थात् बहेलिया आदि। वैशिक अर्थात् वेश्याओ से सम्बन्ध रखने-
वाला।

जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा,
समाययन्ती अमइं गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा णरयं उवेन्ति ॥७॥

[उत्त० अ० ४, गा० २]

जो मनुष्य धन को अमृत मान कर अनेकविध पापकर्मों द्वारा
धन की प्राप्ति करता है, वह कर्मों के दृढ पास मे बंध जाता है
और अनेक जीवो के साथ वैरानुबन्ध कर अन्त मे सारा धन-ऐश्वर्य
यही पर छोड नरक मे जाता है।

थावरं जंगमं चेव, धणं धन्नं उवक्खरं।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाओ मोअणे ॥८॥

[उत्त० अ० ६, गा० ६]

कर्मवश दुःख भोगनेवाले प्राणी को चल-अचल सम्पति, धन,
धान्य, उपकरण आदि कोई भी दुःख से मुक्त करवाने मे समर्थ
नही है।

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च,
पुत्तदारं च बन्धवा ।
चइत्ता णं इमं देहं,
गन्तव्यमवसस्स मे ॥९॥

[उत्त० अ० १९, गा० १७]

मनुष्य मात्र को हमेशा ऐसा सोचना चाहिये कि क्षेत्र (भूमि), घर, सोना-चाँदी, पुत्र, स्त्री, सगे-सम्बन्धी तथा शरीरादि सभी को छोड़कर मुझे एक दिन अवश्य जाना पडेगा ।

जस्सिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे ।
ममाइ लुप्पई बाले, अन्नमन्नेहि मुच्छए ॥१०॥

[सू० श्रु० १, अ० १, उ० १, गा० ४]

मनुष्य जिस कुल मे उत्पन्न होता है अथवा जिनके साथ वास करता है, उनके साथ अज्ञानवश ममत्व से लिपट जाता है । (अर्थात् यह मेरी माता, यह मेरी पत्नी, यह मेरा पुत्र, ऐसा मानता है ।) ठीक वैसे ही अन्यान्य वस्तुओं मे (धन-धान्यादि में) भी मूर्च्छित (ममत्व-शाली) होता है ।

वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेयं न ताणइ ।
संखाए जीवियं चेव, कम्मुणा उ तिउट्टइ ॥११॥

[सू० श्रु० १, अ० १, उ० १, गा० ५]

धन-धान्य और बान्धव आदि कोई भी आत्मा को ससार-परिभ्रमण से बचा नहीं सकते । अतः सुज्ञ साधक को यह जीवन स्वल्प

है—ऐसा समझ कर [सयमानुष्ठान द्वारा] कर्म से मुक्त होना चाहिये।

कसिणं पि जो इमं लोयं,
पणिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणाऽवि से न संतुस्से,
इइ दुप्पूरए इमे आया ॥१२॥

[उत्त० अ० ८, गा० १६]

यदि धन-धान्य से परिपूर्ण यह सारा जगत् किसी मनुष्य को दे दिया जाय तो भी इससे उसे सन्तोष नही होगा। लोभी आत्मा की तृष्णा इस प्रकार शान्त होनी अत्यन्त कठिन है।

सुवण्णरूपस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिआ ॥१३॥

[उत्त० अ० ६, गा० ४८]

कदाचित् सोने और चाँदी के कैलास के समान असख्य पर्वत बन जांय तो भी वे लोभी मनुष्य के लिये कुछ भी नही है। वास्तव में इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।

दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥१४॥

[उत्त० अ० ४, गा० ५]

प्रमादी पुरुष इस लोक मे अथवा परलोक में कही भी धन के वल से अपनी रक्षा नही कर सकता। कारण जिसका ज्ञानदीपक अनन्त मोह से वुझ गया है, (अत्यन्त अन्धकारपूर्ण वन गया है) ऐसी आत्मा न्यायमार्ग को देखते हुए भी नही देखते हुए के समान वर्तन करती है।

वियाणिया दुक्खविवड्ढणं धणं,
ममत्तवन्धं च महब्भयावहं ।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं,
धारेज्ज निव्वाणगुणावहं महं ॥१५॥

[उत्त० अ० १६, गा० ६८]

हे भव्यजनो ! धन को दुःख वढानेवाला, ममत्त्वरूपी वन्धन का कारण तथा महान् भयदाता मानकर उत्तम और महान् धर्मधुरा को धारण करो कि जो सुखदायक और निर्वाण-गुणो को देनेवाली है।

विडमुब्भेइमं लोणं, तिल्लं सप्पिं च फाणियं ।
न ते सन्निहिमिच्छंति, नायपुत्तवओरया ॥१६॥

[दश० अ० ६, गा १७]

जो लोग भगवान् महावीर के वचनो मे अनुरक्त हैं अर्थात् भगवान् महावीर द्वारा वताये हुए सयम-मार्ग मे विचरण कर रहे हैं,

वे मक्खन, नमक, तेल, घृत, गुड़ आदि का सग्रह (एक रात्रि के लिए भी) नही करते ।

लोहस्सेस अणुप्फासे, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहिकामे, गिही पव्वइये न से ॥१७॥

[दश० अ० ६, गा० १८]

क्योकि इस तरह सञ्चित करना, यह एक अथवा अन्य रूप मे लोभ का ही स्पर्श करने जैसा है , अतः जो सग्रह करने की वृत्तिवाले है, वे साधु नही बल्कि (सांसारिक वृत्तियो मे रमे हुए) गृहस्थ ही है ।

जं पि वत्थं च पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
त पि संजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरन्ति य ॥१८॥

[दश० अ० ६, गा० १६]

सयमी पुरुष वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादलुञ्छन आदि जो कुछ भी अपने पास रखते है, वह सयम के निर्वाह हेतु ही रखते है (अतः वह परिग्रह नही है) । किसी समय वे संयम की रक्षा के लिये इनका त्याग भी करते हैं ।

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥१६॥

[दश० अ० ६, गा० २०]

प्राणिमात्र के सरक्षक ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर देव ने वस्त्रादि बाह्य

वस्तुओ को परिग्रह नही कहा है, वल्कि उनके प्रति मन मे रहे ममत्व को परिग्रह कहा है ।

सव्वत्थुवहिणा वुद्धा, संरक्खणपरिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नाऽऽयरंति ममाइयं ॥२०॥

[दश० अ० ६, गा० २१]

ज्ञानी पुरुष वस्त्र, पात्र आदि सर्वप्रकार की साधन-सामग्री के संरक्षण या स्वीकार मे ममत्व-वृत्ति का अवलम्बन नही रखते । अधिक क्या ? वे अपने शरीर के प्रति भी ममत्व नही रखते ।

सामान्य साधुधर्म

पंचासवपरिण्णाया, तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥१॥

[दश० अ० ३, गा० ११]

निर्ग्रन्थ मुनि (हिंसादि) पांच आश्रवद्वार के त्यागी. तीन गुप्तियो से गुप्त, छह प्रकार के जीवो की दया पालनेवाले, पाँच इन्द्रियो का निग्रह करनेवाले, स्वस्थ चित्तवाले और सरलस्वभावी होते हैं।

गारवेसु कसाएसु, दण्डसल्लभएसु अ।
नियत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबंधणो ॥२॥

[उत्त० अ० १९, गा० ९२]

साधु (रसगारव, ऋद्धिगारव और सातागारवादि तीन प्रकार के) गारव, (क्रोधादि चार प्रकार के) कषाय, (मन, वचन, काया की) दुष्प्रवृत्तिआँ तथा (माया, निदान और मिथ्यात्वादि तीन) शल्य, भय, हास्य एवं शोक से निवृत्त होता है। वह जप-तप के फलस्वरूप सासारिक सुखो की कामना नही करता और माया के बन्धनो से पूर्णतया मुक्त होता है।

अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो ।
अज्झप्पज्झाण जोगेहिं, पसत्थदमसासणो ॥३॥

[उत्त० अ० १९, गा० ९४]

साधु कर्म आने के सभी अप्रशस्त द्वारों को सब ओर से बद कर अनास्रवी हो जाता है और अध्यात्म तथा ध्यान-योग से आत्मा का प्रशस्त दमन एव अनुशासन करनेवाला होता है ।

अतिंतिणे अचवले, अप्पभासी मियासणे ।
हविज्ज उअरे दंते, थोवं लद्धुं न खिसए ॥४॥

[दश० अ० ८, गा० २९]

साधु क्रोध से बड़बड़ाहट न करनेवाला, स्थिर-बुद्धि, तोलकर बोलनेवाला, परिमित आहारकर्ता तथा भूख का दमन करनेवाला होता है । वह थोडा आहार मिलने पर कभी क्रोध नही करता ।

जाइ सद्धाइ निक्खंतो, परियायट्ठाणमुत्तमं ।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरियसम्मए ॥५॥

[दश० अ० ८, गा० ६१]

(साधु ने) जिस अनन्य श्रद्धा से गृहत्याग कर उत्तम चारित्र-पद अगीकार किया हो, उसी श्रद्धा से महापुरुषो द्वारा प्रदर्शित कल्याण-मार्ग का अनुसरण करना चाहिये ।

देवलोगसमाणो य, परियाओ महेसिणं ।
रयाणं अरयाणं च, महानरयसारिसो ॥६॥

[दश० चू० १, गा० १०]

सयम मे अनुरक्त महर्षियों को चारित्रपर्याय देवलोक जैसा सुख-ऐश्वर्य प्रदान करनेवाला होता है। जो सयम मे अनुरक्त नही है, उनके लिए वही चारित्रपर्याय महानरक जैसा कष्टदायक बन जाता है।

आयावयाही चय सोअमल्लं,
कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं,
एवं सुही होहिसि संपराए ॥७॥
[दश० अ० २, गा० ५]

आत्मा को तपाओ (क्लेश पहुँचाओ), सुकुमारता का त्याग करो और कामनाओ को छोड दो, इससे दुःख अवश्य दूर होगे। द्वेष को छिन्न-भिन्न करो और राग का उच्छेद करो। ऐसा करने से संसार में सुखी बनोगे।

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्से।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठइ ॥ ८ ॥
[दश० अ० ५, उ० २, गा० ३०]

यदि कोई वन्दन न करे तो क्रुद्ध न होवे और यदि कोई वन्दन करे तो अभिमान न करे। इस प्रकार जो विवेकपूर्वक सयम-धर्म का पालन करता है, उसका साधुत्व स्थिर रहता है।

न सयं गिहाइं कुव्विज्जा, नेव अन्नेहिं कारए।
गिहकम्मसमारंभे, भूयाणं दिस्सए वहो ॥९॥
[उत्त० अ० ३५, गा० ८]

साधु स्वयं गृहादि का निर्माण न करे, दूसरों के पास न करवाये और कोई करता हो तो उसका अनुमोदन भी न करे। क्योंकि गृह-कार्य के समारम्भ मे अनेक प्राणियों का वध प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

तसाणं थावराणं च, सुहुमाणं बायराण य।
गिहकम्मसमारंभं, संजओ परिवज्जए ॥१०॥

[उत्त० अ० ३५, गा० ९]

गृहादिनिर्माण मे त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर (स्थूल) जीवों का वध होता है। इसलिये साधु गृहकार्य-समारम्भ का परिवर्जन करे।

तहेव भत्तपाणेसु, पयणे पयावणेसु य।
पाणभूयदयट्ठाए, न पए न पयावए ॥११॥

[उत्त० अ० ३५, गा० १०]

इसी प्रकार भोजन बनाने-बनवाने मे भी जीववध प्रत्यक्ष दिखाई देता है। अतः प्राणियो तथा भूतमात्र की दया के लिये साधु स्वय भोजन बनाये नही और दूसरों से भी बनवाये नही।

एगयाचेलए होइ, सचेले यावि एगया।
एअं धम्महियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥१२॥

[उत्त० अ० २, गा० १३]

साधु कभी वस्त्ररहित होता है तो कभी वस्त्रसहित। इन दोनों अवस्थाओं को धर्म में हितकारी मानकर उनका खेद न करे।

कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं, पेमं नाभिनिवेसए ।
दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहियासए ॥१३॥
[दश० अ० ८, गा० २६]

साधु कर्ण-प्रिय शब्दो पर मुग्ध न होवे, साथ ही दारुण और कर्कश स्पर्शो को समभावपूर्वक सहन करे।

समणं संजयं दन्तं, हणेज्जा को वि कत्थइ ।
नत्थि जीवस्स नासोत्ति, एवं पेहेज्ज संजए ॥१४॥
[उत्त० अ० २, गा० २७]

इन्द्रियो का दमन करनेवाले संयमी साधु को यदि कोई दुष्ट व्यक्ति किसी प्रकार से सताये अथवा मार-पीट करे तो 'जीव का कभी नाश नही होता' ऐसा विचार करे।

खुअं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउण्हं अरइं भयं ।
अहियासे अव्वहिओ, देहदुक्खं महाफलं ॥१५॥
[दश० अ० ८, गा० २७]

क्षुधा, तृषा, दुःशय्या, ठड, गर्मी, अरति, भय, आदि सभी कष्टो को साधक अदीन भाव से सहन करे। [समभाव से सहन किये गये] दैहिक कष्ट महाफलदायी होते है।

सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सई ।
जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपालो व महारहं ॥१६॥

पयाया सूरा रणसीसे, संगामम्मि उवट्ठिए ।
माया पुत्तं न जाणाइ, जेएण परिविच्छए ॥१७॥

एवं सेहे वि अप्पुट्ठे, भिक्खायरियाअकोविए ।
सूरं मन्नइ अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए ॥१८॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० १, गा० १ २-३]

जहाँ तक कायर पुरुष विजयी पुरुष को नही देखता है, वहाँ तक वह अपने को शूर मानता है, परन्तु युद्ध करते समय महारथी श्रीकृष्ण से शिशुपाल ज्यो क्षुब्ध हुआ था, त्यों ही क्षुब्ध होता है।

स्वय को शूरवीर माननेवाला पुरुष सग्राम के अग्रिम मोर्चे पर चला जाता है, किन्तु जव युद्ध आरम्भ होता है तो ऐसी घवराहट फैल जाती है कि माता को अपनी गोद से गिरते वच्चे की भी सुधि नही रहती, तव शत्रुओं के प्रहार से भयभीत वना वह अल्प पराक्रमी पुरुष दीन वन जाता है।

जैसे कायर पुरुष शत्रुओ द्वारा घायल न होवे तवतक अपने आपको शूरवीर मानता है। ठीक वैसे ही भिक्षाचर्या मे अकुशल तथा परीषहों से अस्पृष्ट ऐसा नवदीक्षित मुनि भी कठोर सयम का पालन नही करता, तवतक अपने को वीर मानता है।

जया हेमंतमासम्मि, सीयं फुसइ सव्वगं ।
तत्थ मन्दा विसीयंति, रज्जहीणा व खत्तिया ॥१९॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० १, गा० ४]

जिस तरह राज्य-भ्रष्ट क्षत्रिय विषाद का अनुभव करता है, ठीक उसी तरह अल्प पराक्रमी साधु पुरुष भी हेमन्त ऋतु के महीने में सर्वांगो को शीत स्पर्श करने पर विषाद का अनुभव करता है ।

पुट्ठे गिम्हाहितावेणं, विमणे सुपिवासिए ।
तत्थ मन्दा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥२०॥
[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० १, गा० ५]

ज्यों थोड़े जल मे मछली विषाद का अनुभव करती है, त्यो ही ग्रीष्म ऋतु के अति ताप से तृषापीडित होने पर अल्प पराक्रमी साधु पुरुष भी विषाद का अनुभव करता है ।

सया दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोल्लिया ।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहंसु पुढोजणा ॥२१॥
[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० १, गा० ६]

साधुजीवन मे दी गई वस्तु लेना, यह दु,ख सदा रहता है । याचना का परीषह असह्य होता है । सामान्य मनुष्य प्रायः यह कहते पाये जाते है कि 'यह भिक्षु भाग्यहीन है और अपने कर्मो का फल भोग रहा है' ।

एए सद्दा अचायन्ता, गामेसु नगरेसु वा ।
तत्थ मन्दा विसीयन्ति, संगामम्मि व भीरुया ॥२२॥
[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० १, गा० ७]

गाँव और नगरो में इसतरह कहे गये आक्रोशपूर्ण वचनों को सहन न कर सकनेवाला अल्प पराक्रमी साधु पुरुष सग्राम मे गये हुए भीरु पुरुष के समान ही विषाद को प्राप्त होता है ।

अप्पेगे खुधियं भिक्खुं, सुणी डंसइ लूसए ।
तत्थ मन्दा विसीयन्ति, तेउपुट्ठा व पाणिणो ॥२३॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० १, गा० ८]

भिक्षा के लिये निकले हुए भूखे साधु को जब कोई क्रूर प्राणी —कुत्ता आदि काट खाता है, तब अल्प पराक्रमी साधु पुरुष अग्नि से झुल्से गये प्राणी के समान विषाद को प्राप्त होता है ।

पुट्ठो य दंसमसगेहिं, तणफासमचाइया ।
न मे दिट्ठे परे लोए, जइ परं मरणं सिया ॥२४॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० १, गा० १२]

डाँस और मच्छर के डंश तथा तृण की शय्या के रूखे स्पर्श को सहन न कर सकनेवाला अल्प पराक्रमी साधु पुरुष ऐसा भी सोचने लगता है कि—'मैंने परलोक तो प्रत्यक्ष देखा नहीं, किन्तु इस कष्ट से तो साक्षात् मरण ही दिखाई दे रहा है' ।

संतत्ता केसलोएणं, बंभचेरपराइया ।
तत्थ मन्दा विसीयन्ति, मच्छा विट्ठा व केयणे ॥२५॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० १, गा० १३]

केशलोच से पीड़ित एवं ब्रह्मचर्य पालन मे असमर्थ अल्प पराक्रमी साधु पुरुष जाल मे फँसी हुई मछली के समान दुःख का अनुभव करता है ।

आयदण्डसमायारे, मिच्छासंठियभावना ।
हरिसप्पओसमावन्ना, केई लूसन्ति ऽनारिया ॥२६॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० १, गा० १४]

कितने अनार्य-पुरुष मिथ्यात्व की भावना मे डूबे हुए राग-द्वेष-पूर्वक जान-बूझकर साधुओ को पीडा पहुँचाते है और अपनी आत्मा को दण्डभागी बनाते है।

अप्पेगे पलियन्ते सिं, चारो चोरो त्ति सुव्वयं ।
बन्धन्ति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥२७॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० १, गा० १५]

कई अज्ञानी जन विहार करते हुए सुव्रती साधु को यह 'गुप्तचर है' 'यह चोर है' ऐसा कहकर रस्सी आदि से बँधवाकर तथा कटु-वचनो से पीडा पहुँचा कर कष्ट देते रहते है।

तत्थ दंडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा ।
नाईणं सरई बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥२८॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० १, गा० १६]

अनार्य देश के असस्कारी लोग साधु को लाठी, मुक्का अथवा लकड़ी के पटिये आदि से मारते—पीटते है। उस समय अल्प पराक्रमी साधु पुरुष क्रोधवश घर से बाहर निकली हुई तथा बन्धु-बान्धवो का स्मरण करती हुई स्त्री के समान अपने बन्धु-बान्धवो का स्मरण करता है।

न वि ता अहमेव लुप्पए,
लुप्पन्ती लोगंसि पाणिणो ।
एवं सहिएहि पासए,
अनिहे से पुट्ठे हियासए ॥२९॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० १, गा० १३]

कष्ट या आपत्ति के टूट पड़ने पर ज्ञानी पुरुष प्रायः खेदरहित मन से ऐसा विचार करता है कि निरा मैं ही इन कष्टों से पीड़ित नहीं हूं, किन्तु संसार में दूसरे भी दुःखित हैं। और जो कष्ट या आपत्तियाँ सिरपर आती हैं—उन्हे शान्तिपूर्वक सहन करता है।

एए भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया ।
हत्थी वा सरसंवित्ता, कीवा वस गया गिहं ॥३०॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० १, गा० १७]

हे शिष्यो ! ये सारे परीषह कष्टदायी और दुःसह हैं। ऐसी स्थिति मे कायर-पुरुष बाणो के प्रहार से घायल हुए हाथी की तरह भयभीत होकर गृहवास मे चला जाता है।

जहा संगामकालम्मि, पिट्ठओ भीरू पेहइ ।
वलयं गहणं नूमं, को जाणइ पराजयं ॥३१॥
एवं उ समणा एगे, अबलं नच्चाण अप्पगं ।
अणागयं भयं दिस्स, अविकप्पंतिमं सुयं ॥३२॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० ३, गा० १२]

जैसे युद्ध के समय कायर पुरुष किसकी विजय होगी ? ऐसी शंका-कुशंका करता हुआ हमेशा पीछे की ओर देखता है और किसी वलय (गोल आकार का खड्डा), झाड़ी आदि घना प्रदेश अथवा दुर्गम भाग पर दृष्टि डालता है, वैसे ही कुछ श्रमण अपने को संयम का पालन करने मे असमर्थ पाकर अनागत भय की आशङ्का मे व्याकरण और ज्योतिष आदि की शरण लेते है।

जे उ संगामकालम्मि, नागा सूरपुरंगमा ।
नो ते पिट्ठमुवेहिंत्ति, किं परं मरणं सिया ॥३३॥

सू० श्रु० १, अ० ३, उ० गा० ६]

परन्तु जो पुरुष लडने मे प्रसिद्ध और शूरो मे अग्रगण्य होते हैं वे पिछली बातों पर कतइ ध्यान नही देते। क्योकि वे यह भली-भाँति जानते हैं कि मृत्यु से अधिक और क्या होनेवाला है ?

जे लक्खणं सुविण पउंजमाणे,
निमित्तकोउहलसंपगाढे,
कुहेडविज्जासवदारजीवी,
न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥३४॥

[उत्त० अ० २०, गा० ४५]

जो साधु लक्षणशास्त्र तथा स्वप्नशास्त्र का प्रयोग करता है, सदा निमित्त-कुतूहल मे आसक्त रहता है, जन साधारण को आश्चर्य चकित कर आश्रव बढानेवाली विद्याओ से जीवन चलाता है, उसका कर्मफल भोगने के समय कोई शरणभूत नही होता ।

जे सिया सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से ॥३५॥

[दश० अ० ६, गा० १६]

जो साधु (घृत, गुड, मिस्री, शक्कर आदि का) सग्रह करना चाहता है, वह वस्तुतः साधु नही, गृहस्थ है ।

गोवालो भंडवालो वा, जहा तद्दव्वणिस्सरो ।
एवं अणिस्सरो तं पि, सामण्णस्स भविस्ससि ॥३६॥

[उत्त० अ० २२, गा० ४६]

हे शिष्य ! जिस तरह ग्वाला गौओ के चराने मात्र से उनका स्वामी नही वन जाता अथवा कोपाध्यक्ष धन की सुरक्षा करने मात्र से ही उसका स्वामी नही वन पाता। ठीक उसी तरह तू भी केवल सावु के वेश-वस्त्रादि की रक्षा करने से सावुत्व का अधिकारी नही वन सकेगा।

कह न कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ ॥३७॥

[दश० अ० २, गा० १]

जो साधक सङ्कल्प-विकल्प के वशीभूत होकर पद-पद पर विषाद-युक्त अर्थात् शिथिल हो जाता है और विषय-वासनादि का निवारण नही करता, वह भला श्रमणत्व का पालन किस तरह कर सकेगा ? तात्पर्य यह है कि वह कदापि नही कर सकेगा।

न पूयणं चेव सिलोयकामी,
पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते,
अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥३८॥

[सू० श्रु० १, अ० १३, गा० २२]

सावु पूजन और कीर्ति की कामना न करे, किसी को प्रिय अथवा अप्रिय न वनाये। वह सभी प्रकार की अनर्थकारी प्रवृत्तियों का त्याग करे और भयरहित तथा कपायरहित वने।

सुक्कज्झाणं झियाएज्जा, अनियाणे अकिंचणे ।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥३९॥

[उत्त० अ० ३५, गा० १९]

साधु शुक्ल ध्यान मे मग्न रहे, जप-तप के फलरूप सासारिक सुखो की कामना न करे, सदा अकिञ्चनवृत्ति से रहे तथा मृत्यु-पर्यन्त काया का ममत्व त्याग कर विचरण करता रहे ।

जे माहणे खत्तियजायए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा ।
जे पव्वइए परदत्तभोई, गोत्ते ण जे थब्भति माणबद्धे ॥४०॥

[सू० श्रु० १, अ० १३, गा० १०]

जिसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और जो दूसरे को दी गई भिक्षा का भोक्ता बन गया, वह पहली अवस्था मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रवंश अथवा लिच्छवी आदि किसी भी वश या जाति का हो, किन्तु उसे अपने पूर्व गोत्र के अभिमान मे बंधे रहना नही चाहिये ।

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं,
सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोगं,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥४१॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ४]

समाधि के इच्छुक तपस्वी साधु को परिमित और शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिये, निपुणार्थ बुद्धिवाले को अपना साथी रखना

चाहिये और रहने के लिये स्त्री आदि के ससर्ग से रहित स्थान को पसन्द करना चाहिये ।

न वा लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को वि पावाइ विवज्जयंतो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥४२॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ५]

यदि योग्य छान-बीन के वाद भी गुण मे अपने से अधिक या अपने जैसी ही कक्षावाला—योग्यतावाला निपुण साथी नही मिले तो वह सदा-सर्वदा पापो का वर्जन करता हुआ और भोग के प्रति अनासक्त वृत्ति धारण कर अकेला ही विचरण करे ।

जे ममाइअमइं जहाइ, से जहाइ ममाइअं ।
से हु दिट्ठभए मुणी, जस्स नत्थि ममाइअं ॥४३॥

[आचा० श्र० २, उ० ६]

जो अपनी ममतावाली वुद्धि का त्याग कर सकता है, वही परिग्रह का त्याग कर सकता है । जिसके चित्त मे ममत्व नही है, वही ससार के भयस्थानो को भली-भाँति देख सकता है ।

वत्थगंधमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य ।
अच्छन्दा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥४४॥

[दश० अ० २, गा० २]

जो वस्त्र, गन्ध, अलकार, स्त्री, पलग आदि का परवशता के कारण उपभोग नही कर सकता, उसे सच्चा त्यागी अर्थात् साधु नही कहा जा सकता ।

जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वई ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥४५॥

[दश० अ० २, गा० ३]

जो इष्ट और मनोहर भोग प्राप्त होने पर भी उनका परित्याग करता है, तथा स्वाधीन भोगो को भी नही भोगता है, वही सच्चा त्यागी अर्थात् साधु कहा जाता है ।

छज्जीवकाए असमारभन्ता,
मोसं अदत्तं च असेवमाणा ।
परिग्गहं इत्थिओ माणमायं,
एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता ॥४६॥

[उत्त० अ० १२, गा० ४१]

इन्द्रियो का दमन करनेवाले साधु पुरुष छह काय के जीवो को पीडा नही पहुँचाते, मृषावाद और अदत्त का सेवन नही करते तथा परिग्रह, स्त्री, मान और माया को त्याग करके विचरते हैं ।

निद्दं च न बहु मन्नेज्जा, सप्पहासं विवज्जए ।
मिहो कहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया ॥४७॥

[दश० अ० ८, गा० ४२]

साधु पुरुष को चाहिये कि वह निद्रा का विशेष आदर न करे, हँसी-मजाक का त्याग करे, किसी की गुप्त बातों मे दिलचस्पी न ले और स्वाध्याय मे सदा मग्न रहे ।

अच्चणं रयणं चेव, वन्दणं पूअणं तहा ।
इड्ढीसक्कारसम्माणं, मणसा वि न पत्थए ॥४८॥

[उत्त० अ० ३५, गा० १८]

साधुपुरुष अर्चना, रचना, वन्दन, पूजन, ऋद्धि, सत्कार और सम्मान की मन से भी कभी इच्छा न करे ।

चरे पयाइं परिसंकमाणो,
जं किंचि पासं इह मण्णमाणो ।
लाभांतरे जीविय वूहइत्ता,
पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥४९॥

[उत्त० अ० ४, गा० ७]

साधुपुरुष इस जगत् मे स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदि जो कुछ भी सुख की सामग्री है उसे एक प्रकार का जाल या फन्दा माने ; और कही मेरे चारित्र्य मे इनसे दोष न लग जाय, ऐसी शका धारण कर सावधानी से अपना कदम उठाये । जहाँ तक ज्ञानादि का लाभ होता हो वहाँ तक वह जीवन की वृद्धि करे और जब यह शरीर संयम-साधना में निरुपयोगी प्रतीत हो, तब मल के समान उसका त्याग कर दे ।

निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो ।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ॥५०॥

[उत्त० अ० १६, गा० ८६]

साधु पुरुष ममत्वरहित, अहङ्कारहित, निःसंगी, गौरव का परित्याग करनेवाला और त्रस-स्थावर सभी प्राणियो के प्रति समदृष्टि रखनेवाला होता है ।

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदापसंसासु, समो माणावमाणवो ॥५१॥

[उत्त० अ० १६, गा० ६०]

साधु पुरुष लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशसा और मानापमान आदि हर स्थिति मे समभाव से रहनेवाला होता है ।

गारवेसु कसाएसु, दंड-सल्ल-भएसु य ।
नियत्तो हास-सोगाओ, अणियाणो अबंधणो ॥५२॥

[उत्त० अ० १६, गा० ६१]

साधु पुरुष (तीन प्रकार के) गारव से, (चार प्रकार के) कषाय से, (तीन प्रकार के) दण्ड से, (तीन प्रकार के) शल्य से, (सात प्रकार के) भय-स्थानो से, हास्य से तथा शोक से निवृत्त होता है । वह सयम के फलरूप किसी प्रकार के सासारिक सुखो की इच्छा करता नही, किसी प्रकार के बन्धन में फंसता नही ।

अणिस्सियो इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचंदणकप्पो य, असणे अणसणे तहा ॥५३॥

[उत्त० अ० १६, गा० ६२]

साधु इस लोक मे सुख भोगने की इच्छा न रखे, और न ही परलोक मे सुख भोगने की इच्छा रखे। कोई अपने शरीर को वसौले से छील डाले अथवा चन्दन का लेप करे, ठीक वैसे ही भोजन मिले या अनशन करना पड़े तो भी हर स्थिति मे समभाव धारण करे।

हम्ममाणो न कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले।
सुमणो अहियासिज्जा, न य कोलाहलं करे ॥५४॥

[सू० श्रु० १, अ० ९, गा० ३१]

कोई पीटे तो क्रोध न करे, कोई कटुवचन कहे तो गर्म न होवे, सभी परीषह समभाव से सहन करे और किसी प्रकार का कोलाहल न करे।

सुवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मिअं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥५५॥

[दश० अ० ७, गा० ५५]

जो मुनि वाक्यशुद्धि का अच्छी तरह मे विचार कर गन्दी भाषा का प्रयोग करना सदा के लिये छोड देता है, जो मित और अदुष्ट भाषा बोलता है, वह सत्पुरुषों मे प्रशंसा का पात्र होता है।

निज्जूहिऊण आहारं, कालधम्मे उवट्ठिए ।
जहिऊण माणुसं बोंदिं, पहू दुक्खा विमुच्चई ॥५६॥
निम्ममो निरहंकारो, वीयरागो अणासवो ।
संपत्तो केवलं नाणं, सासयं परिणिव्वुए ॥५७॥

[उत्त० अ० ३५, गा० २० २१]

जो सामर्थ्यवान् मुनि कालधर्म (मृत्यु) के निकट आते ही आहार का त्याग करता है और अनशन-व्रत धारण कर इस शरीर का परित्याग कर देता है, वह सभी दुःखों से मुक्त होता है ।

जो साधु ममत्व-रहित, अहङ्कार-रहित, वीतराग और अनास्रवी बनता है, वह केवलज्ञान प्राप्त कर शाश्वत सुख का भोक्ता बनता है ।

धारा · १७ :

साधु का आचरण

पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिंदे न संलिहे।
तिविहेण करणजोगेणं, संजए सुसमाहिए ॥१॥

[दश० ८, गा० ४]

समाधियुत सयमी पुरुष—पृथ्वी, दीवाल, पाषाण, शिला तथा ईंटो को तीन करण और तीन योग से तोडे नही तथा उनके टुकडे भी करे नही।

विवेचन—करना, कराना और करनेवाले का अनुमोदन करना —ये तीन करण कहलाते हैं। जबकि मन, वचन और काया—ये तीन योग कहलाते है। अतः साधु को चाहिए कि वह मन, वचन और काया से ये क्रियाएँ न करे दूसरे के पास न करवाये और कोई करता हो तो उसका अनुमोदन भी न करे।

सुद्धपुढवीं न निसीए, ससरक्खंम्मि अ आसणे।
पमज्जितु निसीइज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥२॥

[दश० अ० ८, गा० ५]

इसी प्रकार आसन के अतिरिक्त जमीन पर अथवा सजीव पृथ्वी पर धूल के ही बने हुए आसन पर बैठे नही। यदि बैठने की

आवश्यकता पड जाय तो स्वामी की आज्ञा लेकर अचित्त पृथ्वी पर प्रमार्जना (योग्य साफ-सफाई) कर बैठे ।

सीओदगं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि य ।
उसिणोदगं तत्तफासुयं, पडिगाहिज्ज संजए ॥३॥

[दश० अ० ८, गा० ६]

सयमी पुरुष (नदी, कुआँ, तालाब आदि के) ठडे पानी का उपयोग न करे, वर्षा के पानी को काम मे न लावे और वर्फ के पानी का भी उपयोग न करे। वह सदा खूब उबले हुए निर्जीव पानी ग्रहण करे और उसी का उपयोग करे।

उदउल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे ।
समुप्पेह तहाभूयं, नो ण संघट्टए मुणी ॥४॥

[दश० अ० ८, गा० ७]

यदि अपना शरीर सचित्त जल से भीग गया हो तो मुनि उसे पोंछे नही और घिस कर सुखाने का प्रयत्न करे नही। शरीर को भीगा देखकर उसका स्पर्श भी न करे अर्थात् शरीर सूखे तब तक उसे वैसा-का-वैसा रहने दे।

विवेचन—शौचादि आवश्यक कार्यो से निपटने के लिये गाँव से बाहर जाते समय यदि वर्षा हो जाय और शरीर भीग जाय तो उस समय क्या करना चाहिये—वह इस गाथा मे बतलाया गया है।

जायतेयं न इच्छति, पावगं जलइत्तए ।
तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं ॥५॥

[दश० अ० ६, गा० ३२]

साधु कभी भी आग को प्रकट करने की अथवा उसे बढ़ाने की इच्छा नही करते, क्योंकि वह (अनेक जीवो का अहित करनेवाली होने से) पापकारी है और अन्य शस्त्रो की अपेक्षा अत्यन्त तीक्ष्ण भी है। वह सब ओर से सहन न हो सके ऐसी है। तात्पर्य यह कि अन्य शस्त्रों के तो एक ओर ही धार होती है, जबकि अग्नि के सब ओर धार होती है।

भूयाण मेसमाघाओ, हव्ववाहो न संसओ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि नारभे ॥६॥

[दश० अ० ६, गा० ३४]

अग्नि प्राणिमात्र के लिए घातक है, इसमे कोई सन्देह नही। अतः संयमी पुरुष प्रकाश अथवा ताप प्राप्त करने के लिए उसका आरम्भ नही करते, अर्थात् प्रज्वलितनही करते।

इंगालं अगणिं अच्चि, अलायं वा सजोइयं।
न उंजिज्जा न घट्टिज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥७॥

[दश० अ० ८, गा० ८]

मुनि को चाहिये कि वह गोला, अग्नि, ज्वाला या ज्योति सहित अधजली लकड़ी को कभी ज्यादा प्रज्वलित करे नही, उसका स्पर्श भी करे नही और उसे बुझाये भी नही।

अणिलस्स समारंभं, बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेयं, नेयं ताईहि सेवियं ॥८॥

[दश० अ० ६, गा० ३६]

ज्ञानीजन वायुकाय के समारम्भ को भी वैसा ही (अग्नि के समारम्भ के समान ही बहुत पापकारी) मानते है। अतः छहकाय का रक्षक साधु उसका कदापि सेवन न करे।

तालियंटेण पत्तेण, साहाविहुअणेण वा।
न ते वीइउमिच्छंति, वीयावेऊण वा परं ॥९॥

[दश० अ० ६, गा० ३७]

साधु ताडपत्र के पखे से अथवा वृक्ष की टहनी को हिलाकर हवा खाने की अथवा वायुसेवन की चेष्टा करते नही। इसी तरह दूसरे को अपने ऊपर हवा करने का आदेश देते नही और अन्य पदार्थ पर भी (गरम दूध को ठडा करने आदि के लिये) पखा का उपयोग करते नही।

तणरुक्खं न छिंदिज्जा, फलं मूलं च कस्सई।
आमगं विविहं बीयं, मणसा वि न पत्थए ॥१०॥

[दश० अ० ८, गा० १०]

सयमी भिक्षु तृण, वृक्ष, फल अथवा किसी वृक्ष की जडको कभी काटने का प्रयास न करे। वैसे ही भिन्न-भिन्न प्रकार के सचित्त बीजो का सेवन करने की मनसे भी इच्छा न करे।

गहणेसु न चिट्ठिज्जा, बीएसु हरिएसु वा।
उदगम्मि तहा निच्चं, उत्तिंगपणगेसु वा ॥११॥

[दश० अ० ८, गा० ११]

मुनि कुज-निकुंजो मे खड़ा न रहे (क्योकि वहाँ वनस्पति का स्पर्श होना सम्भव है)। इसी प्रकार जहाँ बीज पडे हुए हो अथवा हरी वनस्पति उगी हुई हो वहाँ भी खड़ा न रहे। साथ ही जहाँ अनन्तकाय वनस्पति, बिल्ली के टोप अथवा लील-फूग उगे हुए हो, वहाँ भी खडा न रहे।

अट्ठ सुहुमाइं पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए ।
दयाहिगारी भूएसु, आस चिट्ठ सएहि वा ॥१२॥

[दश० अ० ८, गा० १३]

सयमी मुनि (आगे कहे गये) आठ प्रकार के सूक्ष्मजीवों से परिचित होने के कारण सभी जीवो के प्रति दया का अधिकारी होता है। अतः वह इन सभी जीवो को अच्छी तरह से देख भालकर बैठे, खडा रहे अथवा सोए।

कयराइं अट्ठसुहुमाइं ? जाइं पुच्छिज्ज संजए ।
इमाइं ताइं मेहावी, आइक्खिज्ज विअक्खणो ॥१३॥
सिणेहं पुप्फसुहुमं च, पाणुत्तिगं तहेव य ।
पणगं वीयहरियं च, अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥१४॥

[दश० अ० ८, गा० १४-१५]

जब साधु पूछे कि वे आठ जीव कौन से है ? तब वुद्धिमान और विचक्षण आचार्य इनका निम्नानुसार वर्णन करते हुए उत्तर दे :— (१) स्नेहसूक्ष्म—अर्थात् अप्काय के सूक्ष्मजीव। (२) पुष्पसूक्ष्म—अर्थात् तद्वर्णपुष्प। (३) प्राणिसूक्ष्म—अर्थात् कुंथु आदि सूक्ष्म जन्तु।

(४) पनकसूक्ष्म—अर्थात् वर्षा मे लकडी आदि पर रहनेवाले पचवर्णी लील-फूग। (५) उत्तिगसूक्ष्म—अर्थात् चीटियो का स्थान, उदई का घर आदि। (६) बीजसूक्ष्म—अर्थात् सूक्ष्म प्रकार के धान्यादि के बीज। (७) हरित सूक्ष्म – अर्थात् नये उत्पन्न हुए पृथ्वी के समान रग वाले अङ्कुर और (८) अण्डसूक्ष्म—अर्थात् मक्खी, चीटी आदि के अति सूक्ष्म अण्डे।

एवमेयाणि जाणित्ता, सव्वभावेण संजए।
अप्पमत्तो जए निच्चं, सव्विंदियसमाहिए ॥१५॥
[दश० अ० ८, गा० १६]

सर्व इन्द्रियो को शान्त रखनेवाला साधु उपर्युक्त आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवो को बराबर पहचान कर सदा प्रमादरहित वर्तन करे और तीन करण और तीन योग से सयत बने।

तसे पाणे न हिंसिज्जा, वाया अदुव कम्मुणा।
उवरओ सव्वभूएसु, पासेज्ज विविहं जगं ॥१६॥
[दश० अ० ८, गा० १२]

सर्व प्राणियो की हिंसा से विरक्त बना साधु, इस ससार मे छोटे-बडे सभी जीवो के जीवन मे कैसी-कैसी विचित्रताएँ व्याप्त हैं—इसे विवेकपूर्वक जानकर किसी भी त्रस प्राणी की मन, वचन, और काया से हिंसा न करे।

इच्चेयं छज्जीवणियं, सम्मदिट्ठी सया जए।
दुलहं लहित्तु सामण्णं, कम्मुणा न विराहिज्जासि ॥१७॥
[दश० अ० ४, गा० २६]

इस प्रकार सतत सावधान और सम्यग्‌दृष्टिवाला मुनि दुर्लभ श्रमणत्व को प्राप्त करके इन षड्‌निकाय के जीवों की मन-वचन-काया से किसी प्रकार की विराधना न करे।

कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो।
भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ ॥१८॥

[दश० अ० ६, गा० ५०]

जो मुनि गृहस्थ की काँसी आदि धातु की कटोरी और थाली मे तथा मिट्टी के पात्र मे अशन-पान आदि का भोजन करता है, वह अपने आचार से सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है।

सीओदगसमारंभे, मत्तधोअणछड्डणे।
जाइं छंनंति भूयाइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥१९॥

[दश० अ० ६, गा० ५१]

गृहस्थ वर्त्तनों को धोते और मांजते हैं, जिसमे सचित्त जल का आरम्भ होता है। ठीक वैसे ही वर्त्तन धोने के वाद उस गन्दे जल को इधर-उधर फेंक देते हैं, उससे अनेक जीवों की हिंसा होती है। इसलिये गृहस्थो के वर्त्तनों मे भोजन करने मे ज्ञानियों ने असंयम देखा है।

पच्छाकम्मं पुरे क' सया तत्थ न कप्पइ।
एयमट्ठं न भुंजंति, निग्गंथा गिहिभायणे ॥२०॥

[दश० अ० ६, गा० ५२]

गृहस्थ के वर्त्तनो में भोजन करने से पश्चात् कर्म और पुरःकर्म

का दोष लगाने की सम्भावना होती है। अतः साधु के लिये वह कतइ उपयुक्त नहीं है। ऐसा सोचकर निर्ग्रन्थ मुनि गृहस्थ के वर्त्तनो मे कभी भोजन नही करते।

विवेचन—खा लेने के पश्चात् सचित्त जल से वर्त्तन धोना, इसे पश्चात्-कर्म और खाने से पूर्व सचित्त जल से वर्त्तन धोने को पुरः-कर्म कहते हैं।

आसंदीपलिअंकेसु, मंचमासालएसु वा।
अणायरियमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा ॥२१॥
नासंदीपलिअंकेसु, न निसिज्जा न पीढए।
निग्गंथाऽपडिलेहाए, वुद्धवुत्तमहिट्ठगा ॥२२॥

[दश० अ० ६, गा० ५३-५४]

आर्यसाधु अर्थात् निर्ग्रन्थ श्रमणो के लिये कुर्सी, पलग, खटिया अथवा आरामकुर्सी आदि पर बैठना अथवा सोना अनाचार माना गया है। सर्वज्ञ का कहा हुआ अनुष्ठानादि में तत्पर निर्ग्रन्थ साधु कुर्सी, पलङ्ग आदि तथा बेत से भरा हुआ पटिये पर बैठे अथवा सोये नही क्योंकि उसका पडिलेहण बराबर हो सकता नही।

विवेचन—पडिलेहण का अर्थ है प्रतिलेखना, सूक्ष्म निरीक्षण। साधुओ को वस्त्र-पात्र आदि की दिन मे दो वार प्रतिलेखना करनी पडती है। इस वख्त कोई जीव-जन्तु देखने मे आ जाय तो उसे तकलीफ न पहुँचे इस तरह हटाया जाता है।

गंभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिलेहगा ।
आसंदीपलिअङ्को य, एयमट्ठ विवज्जिया ॥२३॥
[दश० अ० ६, गा० ५५]

कुर्सी, पलङ्ग आदि मे गहरे छिद्र होने से प्राणियो की प्रतिलेखना होना कठिन है। इसलिये मुनियों को उसपर वैठना छोड देना चाहिये।

गोअरग्गपविट्ठस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ ।
इमेरिसमणायारं, आवज्जइ अवोहिअं ॥२४॥
विवत्ती वंभचेरस्स, पाणाणं च वहे वहो ।
वणीमगपडिग्घाओ, पडिकोहो अगारिणं ॥२५॥
अगुत्ती वभचेरस्स, इत्थीओ वावि संकणं ।
कुसीलवड्ढणं ठाण, दूरओ परिवज्जए ॥२६॥
[दश० अ० ६, गा० ५६-५७-५८]

गोचरी (मधुकरी) के निमित्त गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने के पश्चात् साधु को वहाँ वैठना अनाचार है, जिसका वर्णन आगे करेंगे। इससे मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है।

गृहस्थ के घर वैठने से साधु के ब्रह्मचर्य का भग होने की तथा प्राणियो का वध होने की पूरी सम्भावना होने से सयमनाश का भय वना रहता है। साथ ही कोई भिखारी भिक्षा के लिये आये तो उसे अन्तराय होने की भी सम्भावना रहती है। ठीक वैसे ही गृहस्थ को क्रोध आ जाय यह भी सम्भव है।

गृहस्थ के घर जाकर बैठने से ब्रह्मचर्य की गुप्तियो का यथार्थ पालन नही हो सकता (क्योकि वहाँ पर स्त्रियो के अङ्ग-प्रत्यङ्ग देखने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है) और गृहस्थ की स्त्री के साथ अतिपरिचय होने से दूसरो को मुनि के चरित्र के विषय मे शका करने का अवसर मिल जाता है। इसलिये ऐसी कुशीलता को बढानेवाले स्थान से मुनि दूर रहकर ही उसका त्याग करे। तात्पर्य यह कि वह गृहस्थ के यहाँ जाकर बैठने का सदैव के लिए बद ही कर दे।

वाहियो वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए ।
वुक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ संयमो ॥२७॥
संतिमे सुहुमा पाणा, घसासु भिलगासु य ।
जे य भिक्खू सिणायंतो, वियडेणुप्पिलावये ॥२८॥
तम्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिएण वा ।
जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा ॥२९॥

[दश० अ० ६, गा० ६०-६१-६२]

रोगी हो या निरोगी, जो साधु स्नान करने की इच्छा करता है वह निश्चय ही आचार से भ्रष्ट होता है, और सयमहीन बनता है।

क्षारभूमि अथवा ऐसी ही अन्य भूमियो मे प्रायः सूक्ष्म प्राणी व्याप्त होते हैं। इसलिये साधु प्राशुक—उष्णजल से स्नान करे तो भी उसकी विराधना हुए बिना नही रहती अर्थात्- अवश्य होती है। इसी कारण शुद्ध सयम का पालन करनेवाले साधु ठडे अथवा गरम

पानी से कदापि स्नान नही करते और जीवन पर्यन्त अस्नान नामक अति कठिन व्रत का पालन करते हैं।

सिणाण अदुवा कक्कं, लोद्धं पउमगाणि य।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइ वि ॥३०॥

[दश० अ० ६, गा० ६३]

सयमी पुरुष स्नान नही करते तथा चन्दन-कल्क-चूर्ण, लोध्र, केशर आदि सुगन्धित पदार्थों का उपयोग अपने शरीर पर उवटन करने के लिये कभी नही करते।

विभूसावत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥३१॥
विभूसावत्तियं चेयं, बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जवहुलं चेयं, नेयं ताईहिं सेवियं ॥३२॥

[दश० अ० ६, गा० ६५-६६]

विभूषा के कारण साधु को चिकने कर्मो का वन्धन होता है, उससे वह घोर दुस्तर संसारसागर मे गिरता है।

ज्ञानी पुरुष स्नान को शारीरिक विभूषा और चिकने कर्मबंधन का कारण और वहुत से पापों की उत्पत्ति का हेतु मानते है। अतः छहकाय के जीवो की रक्षा करनेवाले मुनि इसका सेवन कदापि नही करते।

सुरं वा मेरगं वा वि, अन्नं वा मज्जगं रसं।
ससक्खं न पिवे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ॥३३॥

[दश० अ० ५, उ० २, गा० ३६]

अपने संयमरूपी यश का संरक्षक भिक्षु सर्वज्ञ की साक्षी मे सदा परित्यक्त ऐसी सुरा, मदिरा तथा मद उत्पन्न करनेवाले अन्य किसी भी रस का पान न करे।

पियए एगओ तेणो, न मे कोइ वियाणइ।
तस्स पस्सह दोसाइं, नियडिं च सुणेह मे ॥३४॥

[दश० अ० ५, उ० २, गा० ३७]

"मुझे कोई नही देखता है" ऐसा मानकर भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला चोर साधु एकान्त मे गुप्तरूप से मदिरापान करता है। उसके दोषो को देखो। साथ ही उसके मायाचार का जो मै वर्णन करता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो—

वड्ढइ सुंडिया तस्स, माया मोसं च भिक्खुणो।
अयसो य अनिव्वाणं, सययं च असाहुया ॥३५॥

[दश० अ० ५, उ० २, गा० ३८]

मदिरापान करनेवाले साघु मे आसक्ति, माया, मृषावाद, अपयश, अतृप्ति आदि दोष बढते ही रहते हैं। साथ ही साथ उसकी असाधुता भी सतत बढती ही रहती है।

आयरिए नाराहेइ, समणे आवि तारिसो।
गिहत्थावि णं गरिहंति, जेण जाणंति तारिसं ॥३६॥

[दश० अ० ५, उ० २, गा० ४०]

मदिरापान करनेवाला विचारमूढ साधु न तो आचार्य की सेवा कर सकता है और न ही साधुओ की। यह साधु तो मदिरा पीता

है, ऐसी वात जब गृहस्थो के ध्यान मे आ जाती है, तब वे भी उसकी निन्दा करने लगते है।

तवं कुव्वइ मेहावी, पणीयं वज्जए रसं।
मज्जप्पमायविरओ, तवस्सी अइउक्कसो ॥३७॥
[दश० अ० ५, उ० २, गा० ४२]

मेधावी साधु तप करता है और स्निग्ध रसो का त्याग करना है। फिर वह मद्यपान और प्रमाद से विरत होकर निरभिमानी तपस्वी होता है।

मणोहरं चित्तघरं, मल्लधूवेण वासियं।
सकवाडं पंडुरुल्लोयं, मणसा वि न पत्थए ॥३८॥
इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्सए।
दुक्कराइं निवारेउं, कामरागविवड्ढणे ॥३९॥
[उत्त० अ० ३५, गा० ४-५]

जो घर मनोहर हो, विविध चित्रो से सुशोभित हो, पुष्पमाला और धूप से वासित हो, चंदोवे से सज्जित हो तथा किवाडवाला हो ऐसे सुन्दर घर की साधु पुरुष मन से भी इच्छा न करे।

क्योकि ऐसे विषय-वासनादिक प्रवृत्तियो मे वृद्धि करनेवाले स्थान मे रहने से विषय-भोग की ओर प्रवृत्त होती इन्द्रियो का निवारण करना साधु के लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है।

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ।
पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थाभिरोयए ॥४०॥
[उत्त० अ० ३५, गा० ६]

साधु पुरुष हमेशा श्मशान, शून्य गृह, वृक्ष के नीचे अथवा गृहस्थ द्वारा उसके लिये बनाये गये परकृत एकान्त स्थान मे अकेला रहना पसन्द करे।

फासुयम्मि अणाबाहे, इत्थीहिं अणभिद्दुहे।
तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परमसंजए ॥४१॥

[उत्त० अ० ३५, गा० ७]

परमसंयमी साधु ऐसे स्थान मे रहने का संकल्प करे कि जो जीवो की उत्पत्ति से रहित हो, स्व-पर बाधाओ से रहित हो और स्त्री-पण्डक आदि के उपद्रव से शून्य हो।

चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणिं कुओ तव।
इच्चेव णं निमंतेन्ति, नीवारेण व सूयरं ॥४२॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० २, गा० १६]

'हे मुनिवर ! बहुत समय से सयमपूर्वक विहार करनेवाले आप जैसी महान् आत्मा को भला दोष कैसे लग सकता है ?' इस प्रकार भोग भोगने का आमन्त्रण देकर लोग साधु को इस तरह फँसाते है जैसे चावल के दाने से सूअर को।

धम्माउ भट्ठं सिरिओ अवेयं,
जन्नग्गिविज्झाअमिवऽप्पतेयं।
हीलंति णं दुव्विहिअं कुसीला,
दाढुड्ढियं घोरविसं व नागं ॥४३॥

[दश० चू० १, गा० १२]

जैसे यज्ञान्त में मंद बनी अग्नि-शिखा अथवा डाढ निकले हुए उग्र विषधर को हर कोई अवहेलना करता है ठीक वैसे ही धर्म-भ्रष्ट और आध्यात्मिक सम्पत्ति से पतित ऐसे दुष्कृत्यकारी मुनि की दुराचारी तक अवहेलना करते हैं।

विवेचन—अपमान करना, तिरस्कार करना, निन्दा करना, यह अवहेलना कहलाती है।

इहेवधम्मो अयसो अकित्ती,
दुन्नामधिज्जं च पिहुज्जणंमि।
चुयस्स धम्माउ अहम्मसेविणो,
संभिन्नचित्तस्स य हिट्ठओ गई ॥४४॥

[दश० चू० १, गा० १३]

जो धर्म से च्युत होता है और अधर्म का सेवन करता है, उसकी सामान्य जनता मे भी बदनामी होती है और वह अधर्मी कहलाता है। साथ ही अपयश और अकीर्ति का पात्र बनता है। व्रतभङ्ग करनेवाले की परलोक मे भी अधमगति होती है।

भुंजित्तु भोगाइं पसज्झचेयसा,
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं।
गइं च गच्छे अणहिज्झियं दुहं,
बोही य से नो सुलहा पुणो पुणो ॥४५॥

[दश० चू० १, गा० १४]

संयमभ्रष्ट मनुष्य दत्तचित्त से भोगो का उपभोग करके तथा अनेक प्रकार के असंयमो का सेवन करके दुःखद अनिष्ट गति मे जाता है। और परिणामस्वरूप बार-बार जन्म-मरण के चक्कर मे घूमता रहता है। उसे बोधि सुलभ नही होती।

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥४६॥

[दश० अ० ३, गा० १२]

सुसमाधिस्थ चित्तवाले संयमी पुरुष ग्रीष्मकाल मे सूर्य की आतापना लेते हैं, शीतकाल मे निर्वस्त्र रहते हैं तथा वर्षाकाल मे एक स्थान पर अंगोपांग का गोपन कर स्थिर रहते है।

परीसहरिऊदंता, धूअमोहा जिइंदिया।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥४७॥

[दश० अ० ३, गा० १३]

महर्षिगण परीषहरूपी शत्रुओ को जीतनेवाले, मोहरहित तथा जितेन्द्रिय होते है। वे सब दुःखो का नाश करने के लिये अद्भुत पराक्रम करते हैं।

दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइ सहेत्तु य।
केइ त्थ देवलोएसु, केइ सिज्झंति नीरया ॥४८॥

[दश० अ० ३, गा० १४]

दुष्कर करनी करके तथा असह्य कष्ट सहन कर कितनेक मुनि देवलोक मे जाते है और कितनेक कर्मरहित होकर सिद्धिपद प्राप्त करते है।

खविचा पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुडे ॥४९॥

[दश० अ० ३, गा० १५]

छहकाय के रक्षक मुनिगण संयम और तप द्वारा पूर्वसञ्चित कर्मों का मूल से क्षय कर सिद्धि-मार्ग को प्राप्त करते हुए मुक्ति-पद को पाते हैं।

जे केइ उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो।
भोचा पेच्चा सुहं सुवइ, पावसमणित्ति वुच्चइ ॥५०॥

[उत्त० अ० १७, गा० ३]

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् जो खूब निद्रालु बनता है और खा-पीकर निश्चिन्त हो सोता है, वह पापश्रमण (पापमय प्रवृत्ति करनेवाला साधु) कहलाता है।

कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहं मासे ? कहं सए ?
कहं भुंजन्तो भासन्तो ? पावं कम्मं न बंधइ ॥५१॥

[दश० अ० ४, गा० ७]

(शिष्य गुरु से पूछता है कि हे पूज्य !) कैसे चलना ? कैसे खड़ा रहना ? कैसे बैठना ? कैसे सोना ? कैसे खाना और कैसे बोलना कि जिससे पापकर्म का बन्धन न होवे ?

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सये।
जयं भुंजन्तो भासन्तो, पावं कम्मं न बंधइ ॥५२॥

[दश० अ० ४, गा० ८]

(प्रत्युत्तर मे गुरु कहते है कि हे शिष्य !) उपयोगपूर्वक चलना, उपयोगपूर्वक रहना, उपयोगपूर्वक बैठना, उपयोगपूर्वक सोना, उपयोगपूर्वक खाना और उपयोगपूर्वक बोलना। इस प्रकार का आचरण करने पर पापकर्म नही बंधते।

विवेचन—यहाँ उपयोग शब्द का अर्थ जागृति, सावधानी समझना चाहिये। उपयोगवान् आत्मा को हर वखत यह ख्याल रहता है कि मेरी प्रवृत्ति से कोई जीव मर न जाय, मेरे से कोई भूल न हो जाय।

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधइ ॥५३॥

[दश० अ० ४, गा० ९]

जो प्राणिमात्र को अपनी आत्मा के समान मानता है, उनपर समभाव रखता है तथा पापास्रवो को रोकता है, ऐसे दमितेन्द्रिय सयमी पुरुष को पापकर्म का बन्धन नही होता।

अप्पपिण्डासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए।
खंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगिद्धी सया जए ॥५४॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० २५]

सुव्रती पुरुष थोडा खाये, थोडा पिये और थोड़ा बोले। वह क्षमावान् बने, लोभादि से निवृत्त रहे, जितेन्द्रिय होवे, अनासक्त होवे तथा सदाचार मे सदा प्रयत्नशील रहे।

तत्थ मन्दा विसीयन्ति, वाहच्छिन्ना व गद्दभा ।
पिट्ठओ परिसप्पन्ति, पिट्ठसप्पी व संभमे ॥५५॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० ४, गा० ५]

मन्द पराक्रमी पुरुष सचित्त जल-धान्यादि के परिभोग के लोभ मे भार उठाकर थके हुए गधे के समान सयम मे शिथिल बनते हैं और सम्भ्रम से भग्न मतिवाले होकर जीवन के हर क्षेत्र मे पिछड़ गये लोगो की तरह संयमियों की श्रेणी मे पीछे रह जाते हैं।

तं च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे संगा महासवा ।
जीवियं नावकंखिज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तरं ॥५६॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० २, गा० १३]

श्रेष्ठधर्म का श्रवण कर तथा संसार के सब रिश्ते और सम्बन्धो को कर्म-बन्धन का महा प्रवेशद्वार समझकर भिक्षु असयमी अथवा गृहस्थ-जीवन की इच्छा न करे।

विजहित्तु पुव्वसंजोयं,
न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा ।
असिणेहसिणेहकरेहिं,
दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू ॥५७॥

[उत्त० अ० ८, गा० २]

पूर्व सयोगो को छोड़ देने के पश्चात् भिक्षु पुनः किसी भी वस्तु के प्रति स्नेह न करे—मोह न रखे। स्नेह करनेवालों के बीच जो

निःस्नेही—निर्मोही बना रहता है, वह सभी प्रकार के दोष-प्रदोषो से मुक्त हो जाता है।

अत्थं गयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गये।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥५८॥

[दश० अ० ८, गा० २८]

संयमी पुरुष को सूर्यास्त होने के पश्चात् और सूर्योदय होने से पूर्व किसी प्रकार के आहार आदि की इच्छा मन मे नही लानी चाहिये।

सन्ति मे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे ॥५९॥

[दश० अ० ६, गा० २३]

इस धरती पर ऐसे त्रस और स्थावर सूक्ष्म जीव सदैव व्याप्त रहते है, जो रात्रि के अन्धकार मे दीख नही पडते। अतः ऐसे समय में भला आहार की शुद्ध गवेषणा किस प्रकार हो सकती है ?

उदउल्लं बीयसंसत्तं, पाणा निव्वडिया महिं।
दिया ताइं विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ? ॥६०॥

[दश० अ० ६, गा० २४]

पानी से जमीन भीगी हो, उसपर बीज गिर गये हो, अथवा चीटी-कुथवा—आदि अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव हो, उन सब का वर्जन करके दिन मे तो चला जा सकता है, पर रात्रि मे कुछ दिखाई नही पड़ता। अतः भला किस तरह चला जा सकता है ?

सव्वाहारं न भुंजति, निग्गंथा राइभोयणं ॥६१॥

[दश० अ० ६, गा० २५]

तभी तो निर्ग्रन्थो रात्रिभोजन करते नहीं, रात्रि मे किसी प्रकार का आहार उपयोग मे लेते नही।

चउव्विहे वि आहारे, राइभोयणवज्जणं।
संनिही-संचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुकरं ॥६२॥

[उत्त० अ० १६, गा० ३०]

अशन, पान, खादिम और स्वादिम इस चार प्रकार के आहार का रात्रि मे त्याग करना और समय बीत जाने के पश्चात् कुछ भी पास मे नही रखना, ठीक वैसे ही उसका सग्रह नही करना—यह बात वास्तव मे अत्यन्त कठिन है, (किन्तु सयमी पुरुष को तो ये कठिनाइयाँ सहन करनी ही चाहिये।)

अष्ट-प्रवचनमाता

अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य ।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ॥१॥

प्रवचनमाता के आठ प्रकार है। वह समिति और गुप्तिरूप है। उसमे पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ कही गई है।

विवेचन—साधु, मुनि, अथवा योगी के जीवन मे अष्ट-प्रवचन-माता अति आवश्यक अङ्ग की पूर्ति करती है। इन आठ प्रकार की प्रवचनमाताओ का एक भाग समिति और दूसरा भाग गुप्ति कहलाता है। समिति का सीधा अर्थ है सगति अथवा सम्यक् प्रवृत्ति और गुप्ति का अर्थ है प्रशस्त प्रवृत्ति-सहित अप्रशस्त प्रवृत्ति का निग्रह। परन्तु गहराई से देखे तो समिति मे साधु, मुनि, अथवा योगी के जीवन की समस्त जीवनचर्या का समावेश है, जबकि गुप्ति में उसके पालन योग्य साधनो का समावेश है।

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥२॥

पांच समितियां इस प्रकार है :—(१) ईर्यासमिति, (२) भाषा-समिति, (३) एषणासमिति, (४) आदान-निक्षेप समिति और

(५) उच्चारप्रस्रवण-समिति। तीन गुप्तियाँ ये हैं —(१) मनोगुप्ति, (२) वचनगुप्ति और (३) कायगुप्ति। कायगुप्ति आठवी है अतः इसके साथ अष्ट प्रवचनमाता की गणना पूरी होती है।

एयाओ अट्ठ समिईओ, समासेण वियाहिया।
दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं ॥२॥

ये आठ समितियाँ सक्षेप मे कही गई है। प्रवचन अर्थात् जिन भगवन्तों द्वारा कथित द्वादशाङ्गी। वह इन आठ समितियों मे अन्तर्भूत है, इसीलिये इन्हे अष्ट-प्रवचनमाता कहा जाता हैं।

विवेचन—जबकि ऊपर पाँच समिति और तीन गुप्ति कहा गया है तो भला यहाँ आठ समिति कैसे हो गई? ऐसा प्रश्न मन मे उठना सम्भव है। इसका समाधान यह है कि गुप्ति भी अपेक्षाविशेष से एक प्रकार की समिति है और यह निर्दिष्ट करने के लिये ही यहाँ 'आठ समिति' ऐसा कहा गया है। देवाधिदेव श्री जिनेश्वर भगवान् ने जो उपदेश दिया, उसे गणधर भगवन्तों ने आचारादि बारह अङ्गों मे ग्रथित किया। उसको ही निर्ग्रन्थ-प्रवचन अथवा प्रवचन कहा जाता है। इस प्रवचन मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनो का वर्णन है, तथापि उसमे मोक्षप्राप्ति के अनन्तर कारणरूप सम्यक् चारित्र की ही प्रधानता है, जिसे अन्य शब्दों मे निर्वाणप्रापक योग-साधना भी कहते हैं। इस योगसाधना को माता के समान रक्षण करनेवाली और इसका पालन-पोषण करनेवाली ये आठ समितियाँ हैं। इसलिये इनका 'अष्ट प्रवचनमाता' ऐसा रहस्यमय नाम दिया गया है।

आलंबणेण कालेण, मग्गेण जयणाइ य।
चउकारणपरिसुद्धं, संजए इरियं रिए ॥४॥

साधुपुरुष को आलम्बन, काल, मार्ग और यतनादि चार कारणो की शुद्धिपूर्वक ईर्यासमिति का पालन करना चाहिये।

विवेचन—ईर्यासमिति का वास्तविक अर्थ है चलते समय कोई भी जीव न मरे, इसकी पूरी सावधानी रखना।

तत्थ आलंबणं नाणं, दंसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे उप्पहवज्जिए ॥५॥

उसमें आलम्बन से ज्ञान, दर्शन और चारित्र को निर्दिष्ट किया गया है, जबकि काल से दिन और मार्ग से उत्पथ का परिवर्जन।

विवेचन—आलम्बन की शुद्धिपूर्वक चलना अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र की रक्षा अथवा वृत्ति का हेतु हो तभी साधुपुरुष को चलना चाहिये, अन्यथा नही। काल की शुद्धिपूर्वक चलना अर्थात् दिन मे ही चलना चाहिये, रात्रि में नही। मार्ग की शुद्धिपूर्वक चलना अर्थात् सभी के लिए निश्चित आवागमनवाले मार्ग मे ही चलना, किन्तु टेढ़े-मेढे मार्ग पर नही चलना। टेढे-मेढ़े उबड़-खाबड मार्गपर चलने से जीवाकुल भूमि पर पैर गिरने की सम्भावना रहती है, जिससे बहुत जीवों की विराधना होना सम्भव है।

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।
जयणा चउविहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥६॥

यतना द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से, इस तरह चार प्रकार की कही गई है, जिसका वर्णन करता हूँ, उसे सुनो।

दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमितं च खित्तओ।
कालओ जाव रीइज्जा, उवउत्ते य भावओ ॥७॥

द्रव्य से यतना करना अर्थात् आख से बराबर देखना ; क्षेत्र से यतना करना अर्थात् आगे की एक धुरा जितनी भूमि का निरीक्षण करते रहना। काल से यतना करना अर्थात् जहाँ तक चलने की क्रिया चालू रहे, वहाँ तक यतना करना और भाव से यतना करना अर्थात् उस समय पूर्णरूप से सावधानी रखना।

इंदियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पंचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते रियं रिए ॥८॥

मुनि इन्द्रिय के अर्थ तथा पाच प्रकार के स्वाध्याय का परित्याग करे और ईर्यासमिति को प्रधानता देकर उसमे तन्मय हो सावधानी से चले।

विवेचन—ईयासमिति के वारे में दूसरी सूचना यह है कि चलते समय इन्द्रियों के विषय मे अर्थात् शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श सम्बन्धी अनुकूल-प्रतिकूल कोई विचार नही करना। यदि मन में ऐसे विचारों का उफान आ गया तो सावधानी नहीं रहेगी और किसी जीव-जन्तु के पैरों के नीचे आ जाने से उसकी विराधना होगी।

स्वाध्याय अर्थात् पठन-पाठन से सम्बन्धित प्रवृत्ति। जिन-शासन में स्वाध्याय के वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा एवं धर्मकथा

ऐसे पांच प्रकार बतलाये गये है। चलते समय इन पाँच प्रकार के स्वाध्याययो मे भी मन को नही उलझाना चाहिए। मन मे पाठ चलता हो अथवा उसके अर्थ के बारे मे किसी के साथ वार्तालाप हो रहा हो या फिर उसकी पुनरावृत्ति होती हो तो चलते समय सावधानी नही बरती जाती। इसी प्रकार यदि मन उसके गहरे चिन्तन मे खो गया हो तो स्वयं कहाँ चल रहे है ? और किस तरह चल रहे हैं ? इसका भी उन्हे ध्यान नही रहता। साथ ही उस समय किसी को धर्मकथा सुनाने का काम जारी हो तो भी चलने मे अपेक्षित सावधानी नही रहती। इन्ही कारणो से इन दोनों वस्तुओ के निषेध की आज्ञा की गई है।

कोहे माणं य मायाए, लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए, विकहासु तहेव य ॥९॥

एयाइं अट्ठ ठाणाइं, परिवज्जितु संजए।
असावज्जं मियं काले, भासं भासिज्ज पन्नवं ॥१०॥

भाषासमिति का अर्थ यह है कि प्रज्ञावान् मुनि क्रोध, मान, माया, लोभ का उदय, हास्य, भय, वाचालता और विकथा आदि आठ स्थानो का त्याग कर योग्य समय पर परिमित और निरवद्य वचन ही बोले।

गवेसणाए गहणं य, परिभोगेसणा य जा।
आहारोवहिसेज्जाए, एए तिन्नि विसोहए ॥११॥

एषणासमिति के तीन भेद हैं—गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा। आहार, उपधि और शय्या के समय इन तीनों के बारे में पूरी शुद्धि रखनी चाहिए।

उग्गमुप्पायणं पढमे, बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयम्मि चउक्कं, विसोहेज्ज जयं जई ॥१२॥

यतनावान् साधु प्रथम एषणा में उद्गम-उत्पादन दोष की शुद्धि करे, दूसरी एषणा मे शङ्कितादि दोषो की शुद्धि करे और तीसरी परिभोगैषणा मे सयोजना, मोह, कारण और प्रमाण—इन चारो दोषों की शुद्धि करे।

विवेचन—गवेषणा करते समय सोलह उद्गम के और सोलह उत्पादन के—कुल मिलाकर ३२ दोष टालने पड़ते हैं। जबकि ग्रहण करते समय शङ्कितादि १० दोष। इस प्रकार कुल ४२ दोष टालकर आहारादि की ऐषणा करनी चाहिये। इन ४२ दोषों का विस्तार से वर्णन पिण्डनिर्युक्ति मे किया गया है। परिभोग करते समय सयोजना, मोह, कारण और प्रमाणादि चारों की निर्दोषता के बारे में पूरा निर्णय कर लेना चाहिये। सक्षेप में साधु को अपनी आजीविका के लिये आहार-पानी, वस्त्र, पात्र, औषधि, शय्या आदि जो कुछ भी प्राप्त करना—उपभोग करना आवश्यक रहता है, वह सब शास्त्रप्रदर्शित विधिपूर्वक प्राप्त करने—उपयोग करने से इस समिति का पालन हुआ ऐसा माना जाता है।

ओहोवहोवग्गहियं, भंडगं दुविहं मुणी।
गिण्हंतो निक्खिवंतो वा, पउंजेज्ज इयं विहिं ॥१३॥

पात्र आदि ओघोपधि कहलाते है और सस्तारक (शय्या) आदि औपग्रहिक उपधि कहलाते है। इन दोनो प्रकार की उपधियो को ग्रहण करते समय तथा स्थापित करते समय मुनि को इस विधि का पालन करना चाहिये ,—

चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई ।
आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओ वि समिए सया ॥१४॥

[उत्त० अ० २४, गा० १-१४]

यतनावान् साधु आँख से देखकर दोनो प्रकार की उपधि को प्रमार्जना करे तथा उपधि को उठाने से पूर्व और रखते समय इस समिति का सदा पूरी तरह से पालन करे।

संथारं फलगं पीढं, निसिज्जं पायकम्बलं ।
अप्पमज्जियमारुहई, पावसमणित्ति वुच्चई ॥१५॥

[उत्त० अ० १७, गा० ७]

जो साधु सस्तारक (शय्या), फलक, पीठ, पादपोछन और स्वाध्यायभूमि, इन पाचो का प्रमार्जन किये बिना ही बैठता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

पडिलेहेइ पमत्ते, अवउज्झइ पायकम्बलं ।
पडिलेहा अणाउत्ते, पावसमणित्ति वुच्चइ ॥

[उत्त० अ० १७, गा० ६]

जो (साधु) प्रतिलेखना मे प्रमाद करता है, पात्र-कम्बल आदि

अव्यवस्थित रखता है और प्रतिलेखना मे पूर्ण सावधानी नही रखता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

धुवं च पडिलेहिज्जा, जोगसा पायकंबलं।
सिज्जमुच्चारभूमिं च, संथारं अदुवासणं ॥१७॥

[दश० अ० ८, गा० १७]

साधु को चाहिये कि वह नियमित रूप से यथासमय पात्र, कम्बल, शय्या-स्थान, उच्चारभूमि (मलविसर्जन का स्थान), सस्तारक और आसन आदि की सावधानीपूर्वक प्रतिलेखना करे।

पुढवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं।
पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहओ होइ ॥१८॥

[उत्त० अ० २६, गा० ३०]

प्रतिलेखना मे प्रमाद करनेवाला साधु पृथ्वीकाय, अप्‌काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय इन छहों कायों का विराधक होता है।

पुढवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं।
पडिलेहणाआउत्तो, छण्हं संरक्खओ होइ ॥१९॥

[उत्त० अ० २६, गा० ३१]

प्रतिलेखना मे जो सावधान रहनेवाला साधु पृथ्वीकाय, अप्‌काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय इन छहों कायों का संरक्षक होता है।

उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाणजल्लियं।
आहारं उवहिं देहं, अन्नं चावि तहाविहं ॥२०॥
[उत्त० अ० २४, गा० १५]

मल, मूत्र, कफ, नाक का मल, शरीर का मैल, आहार, उपधि, देह, (शव तथा ऐसी अन्य वस्तुओं को विधिपूर्वक परिठवनी-ठिकाने लगानी) चाहिये।

विवेचन—उच्चार-प्रस्रवण-समिति को परिष्ठापनिका-समिति भी कहते हैं। बेकार वस्तुओं का सावधानीपूर्वक परिष्ठापन करने से—ठिकाने लगाने से इस समिति का पालन होता है। मल, मूत्र, कफ, नासिका का मल, शरीर का मैल परठवने (ठिकाने लगाने) का प्रसग प्रतिदिन आता है, जबकि आहार परठवने (ठिकाने लगाने) का प्रसग तो क्वचित ही आता है। उपधि को परठवने (ठिकाने लगाने) का प्रसग वर्षाकाल से पूर्व आता है और शव को परठवने (ठिकाने लगाने) के प्रसग कभी-कभी आते हैं। ये सभी वस्तुएँ कहाँ रखनी चाहिये ? इसकी सूचना अगली गाथाओ मे दी गई है।

अणावायमसंलोए, अणवाए चेव होइ संलोए।
आवायमसंलोए, आवाए चेव संलोए ॥२१॥
अणावायमसंलोए, परस्सऽणुवधाइये।
समे अज्झुसिरे वावि, अचिरकालकयंमि य ॥२२॥
विच्छिन्ने दूरमोगाढे, नासन्ने बिलवज्जिए।
तयपाण बीयरहिए, उच्चाराइणि वोसिरे ॥२३॥
[उत्त० अ० २४, गा० १६-१७-१८]

(१) जहाँ किसीके आने की सम्भावना न हो और कोई देखता भी न हो, (२) जहाँ किसीके आने की सम्भावना न हो किन्तु कोई देखता हो, (३) जहाँ कोई आता हो किन्तु देखने की सम्भावना न हो और (४) जहाँ कोई आता भी हो और देखता भी हो, ऐसे चार स्थानों मे से जहाँ कोई आता भी नही हो और कोई देखता भी नही हो, ठीक वैसे ही जहाँ जीवो का घात होने की सम्भावना न हो, जो स्थान सम हो, छिद्रवाला न हो, और थोड़े समय मे अचित्त बना हुआ हो, जो स्थान विस्तृत हो, नीचे दीर्घकाल तक अचित्त हो, जो ग्रामादि के समीप न हो और चूहे आदि के विल से रहित तथा कीटकादि प्राणी और बीज से रहित हो, ऐसे स्थान पर साधु को मलादि का त्याग करना चाहिये।

एयाओ पंच समिईओ, समासेण वियाहिया।
इत्तो य तओ गुत्तीओ, वोच्छामि अणुपुव्वसो ॥२४॥

[उत्त० अ० २४, गा० १६]

ऊपर पाँच समितियों को मैंने संक्षेप मे बताया है। अब तीन गुप्तियों को अनुक्रम से कहता हूँ।

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चमोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा य, मणगुत्ती चउव्विहा ॥२५॥

[उत्त० अ० २४, गा० २०]

मनोगुप्ति चार प्रकार की है :—(१) सत्या, (२) असत्या, (३) मिश्रा और (४) असत्यामृषा।

विवेचन—मन (१) सत्य, (२) असत्य, (३) अर्ध-सत्य और अर्ध असत्य तथा (४) सत्य भी नही और असत्य भी नही, ऐसे चार विषयो मे प्रवृत्त होता है। इस लिए मनोगुप्ति का चार प्रकार माना गया है।

सरंभसमारंभे, आरंभे य तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तिज्ज जगं जई ॥२६॥

[उत्त० अ० २४, गा० २१]

संयमी पुरुष सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत होते मन का नियन्त्रण करे।

विवेचन—आरम्भ अर्थात् जीवविराधना। उसके सम्बन्ध मे सकल्प किया जाय वह सरम्भ और जो आवश्यक प्रवृत्ति की जाय वह समारम्भ।

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ ॥२७॥

[उत्त० अ० २३, गा० ५८]

मन एक साहसिक, भयकर और दुष्ट घोड़े के समान है, जो चारो ओर दौड़ता है।

साहरे हत्थपाए य, मणं पंचेदियाणि य।
पावकं च परिणामं, भासादोसं च तारिसं ॥२८॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० १७]

ज्ञानी पुरुष हाथ- पैर का संकोच करते है, मन और पाँच इन्द्रियों को वश मे रखते है और दूष्ट भावो को हृदय मे उठने नही देता। उसी तरह वह सावद्य भाषा का सेवन भी नही करता।

समाइ पेहाइ परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरई वहिद्धा ।
'न सा महं नो वि अहं वि तीसे,'
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥२९॥

[दश० अ० २, गा० ४]

समदृष्टिपूर्वक संयमयात्रा मे विचरण करते हुए भी कदाचित् (परिभुक्त भोगो का स्मरण होने से अथवा अभुक्त भोगों के भोगने की वासना जागृत होने से) संयमी पुरुष का मन संयममार्ग से विचलित होने लगे तव उसे ऐसा विचार करना चाहिये कि 'विषय-भोगो की सामग्री मेरी नही है और मैं इनका नही हूँ ।' इस प्रकार सुविचार के अंकुश से उसके मन मे उत्पन्न क्षणिक आसक्ति को दूर करे ।

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चमोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा य, वयगुत्ती चउव्विहा ॥३०॥

[उत्त० अ० २४, गा० २२]

वचनगुप्ति चार प्रकार की है :—(१) सत्य भाषा सम्बन्धी, (२) असत्य भाषा सम्बन्धी, (३) सत्यासत्य भाषा सम्बन्धी और (४) असत्यामृषा भाषा सम्बन्धी ।

संरंभसमारंभे, आरम्भे य तहेव य ।
वयं पवत्तमाणं तु, नियत्तिज्ज जयं जई ॥३१॥

[उत्त० अ० २४, गा० २३]

संयमी पुरुष सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत्त होती वाणी पर सावधानी पूर्वक नियन्त्रण करे।

ठाणे निसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघणपल्लंघणे, इंदियाण य जुंजणे ॥२२॥

[उत्त० अ० २४, गा० २४]

सयमी पुरुष खडा रहने मे, बैठने मे, सोने मे उल्लघन—प्रलघन करने मे तथा इन्द्रियो के प्रयोग मे सदा काया का नियन्त्रण करे।

संरंभसमारंभे, आरंभे तहेव य।
कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तिज्ज जयं जई ॥२३॥

[उत्त० अ० २४, गा० २५]

संयमी पुरुष सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत्त होती काया को सावधानी से नियन्त्रण करे।

मणगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयई ?
मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयई,
एगग्गचित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ ॥२४॥

[उत्त० अ० २९, गा० ५३]

प्रश्न—हे भगवन् ! मनोगुप्ति से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! मनोगुप्ति से जीव एकाग्रचित्त प्राप्त करता है और एकाग्रचित्तवाला मनोगुप्त जीव संयम का आराधक होता है।

वयगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
वयगुत्तयाए णं निव्विकारत्तं जणयइ, निव्विकारे
णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते यावि भवइ॥३५॥

[उत्त० अ० २९, गा० ५४]

प्रश्न—हे भगवन् ! वचनगुप्ति से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! वचनगुप्ति से जीव निर्विकार भाव को उत्पन्न करता है। और इसी निर्विकार भाव से वचनगुप्त जीव अध्यात्मयोग-साधन से युक्त होता है।

कायगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
कायगुत्तयाए संवरं जणयइ, संवरेणं [णं जीवे]
कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ ॥३६॥

[उत्त० अ० २९, गा० ५५]

प्रश्न—हे भगवन् ! कायगुप्ति से जीव क्या उपार्जित करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! कायगुप्ति से जीव संवर उत्पन्न करता है और संवर से कायगुप्त बना हुआ जीव पापास्रव का निरोध करता है।

एयाओ पंचसमिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥३७॥

[उत्त० अ० २४, गा० २६]

इस तरह ये पांच समितियां चारित्र की प्रवृत्ति के लिये हैं और तीन गुप्तियां सर्व प्रकार की अशुभप्रवृत्तियों को रोकने के लिये हैं।

एसा पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥३८॥

[उत्त० अ० २४, गा० २७]

जो विद्वान् मुनि उपर्युक्त प्रवचन माताओ का सम्यग् आचरण करता है, वह ससार परिभ्रमण से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

विवेचन—गृहस्थ साधक भी इन समिति-गुप्तियो का यथाशक्ति पालन करने पर चारित्रशुद्धि का लाभ प्राप्त कर सकता है।
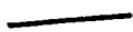
धारा : १६ :

भिक्षाचरी

एसणासमिओ लज्जू , गामे अणियओ चरे ।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिण्डवायं गवेसए ॥१॥

[उत्त० अ० ६, गा० १७]

संयमी साधु एषणासमिति का पालन करता हुआ गाँव मे अनियतवृत्ति से अप्रमादी होकर गृहस्थों के घर से भिक्षा की गवेषणा करे ।

समुयाणं उंछमेसिज्जा, जहासुत्तमणिंदियं ।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिण्डवायं चरे मुणी ॥२॥

[उत्त० अ० ३५, गा० १६]

मुनि को चाहिये कि वह सूत्रानुसार और अनिन्दित अनेक परिवारों से थोडा-थोड़ा आहार ग्रहण करे और मिले अथवा न मिले तो भी सन्तुष्ट रहकर भिक्षावृत्ति का पालन करे ।

भिक्खियव्वं न केयव्वं, भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा ।
कयविक्कओ महादोसो, भिक्खावित्ती सुहावहा ॥३॥

[उत्त० अ० ३५, गा० १५]

भिक्षावृत्तिवाले भिक्षुक को भिक्षा का ही अवलम्बन करना चाहिये, परन्तु मूल्य देकर कोई भी वस्तु नही खरीदनी चाहिये, क्योकि क्रय-विक्रय मे महादोष है और भिक्षावृत्ति सुख देनेवाली है ॥

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जिता, काले कालं समायरे ॥४॥

[उत्त० अ० १, गा० ३१]

साधु नियत समय पर भिक्षा के लिए जाए और वहाँ से यथा समय लौट आये। वह अकाल को छोडकर योग्य काल में उसके अनुरूप क्रिया करे।

सइकाले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारियं ।
अलाभुत्ति न सोएज्जा, तवोत्ति अहियासए ॥५॥

[दश० अ० ५, उ० २, गा० ६]

भिक्षुक समय होते ही भिक्षा के लिए जाए और यथोचित पुरुषार्थ करे। कभी भिक्षा नही मिले तो शोक न करे, परन्तु उस समय 'चलो सहज तप होगा' ऐसा विचार कर क्षुधादि परीषहों को सहन करे।

संपत्ते भिक्खकालम्मि, असंभंतो अमुच्छिओ ।
इमेण कम्मजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥६॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० १]

भिक्षा का समय होने पर साधु उत्सुक और आहारादि के

अन्यान्य विचारो मे होश न खो कर आगे कही गई विधि के अनुसार आहार-पानी की गवेषणा करे।

से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गओ मुणी।
चरे मन्दमणुव्विग्गो, अवक्खित्तेण चेयसा ॥७॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० २]

गाँव में अथवा नगर मे गोचरी के लिये गया हुआ मुनि उद्वेगरहित बनकर स्वस्थ चित्त हो धीरे-धीरे चले।

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे।
वज्जंतो बीयहरियाइं, पाणे य दगमट्टियं ॥८॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० ३]

मुनि अपने सामने की धुरा प्रमाण (चार हाथ जितनी) भूमि को देखता हुआ चले। वह चलते समय बीज, हरी वनस्पति, सूक्ष्म जीवजन्तु तथा कीचड आदि को छोड़कर चले अर्थात् इन पर पैर न पड़ जाय इसकी पूरी सावधानी रखे।

न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए वा पडंतिए।
महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥९॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० १०]

वर्षा हो रही हो, कुहासा छा रहा हो, आँधी चल रही हो अथवा पतगे आदि अनेक प्रकार के जीवजन्तु उड़ रहे हों, ऐसी परिस्थिति मे साधु अपने स्थान से बाहर न निकले।

अणायतणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं।
हुज्ज वयाणं पीला, सामण्णम्मि य संसओ ॥१०॥
[दश० अ० ५, उ० १, गा० १०]

गोचरी के लिये वेश्याओ के मुहल्ले मे जानेवाले साधु को उनका बार-बार संपर्क होता है, जिससे महाव्रतो को पीडा होती है और समाज उसकी साधुता पर सन्देह करने लगता है।

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वज्जए वेससामन्तं, मुणी एगंतमस्सिए ॥११॥
[दश० अ० ५, उ० १, गा० ११]

इसलिये दुर्गति को बढाने मे सहायता देनेवाले उपर्युक्त दोषो को समझकर एकान्त मोक्ष की कामना रखनेवाले मुनि वेश्याओ के मुहल्लों मे भिक्षा के लिए जाना छोड दे।

साणं सूइअं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं।
संडिम्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥१२॥
[दश० अ० ५, उ० १, गा० १२]

जहाँ कुत्ता हो, तत्काल व्याही हुई गाय हो, साड, हाथी अथवा घोडा हो या जिस स्थान पर बालक क्रीडा करते हों, कलह हो रहा हो, युद्ध मच रहा हो, वहाँ साधु पुरुषको नही जाना चाहिये। बल्कि उसका दूर से ही त्याग करना चाहिये।

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले।
इंदियाणि जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे ॥१३॥
[दश० अ० ५, उ० १, गा० १३]

गोचरी के लिये जाता हुआ साधु अपनी नजर को वहुत ऊपर अथवा वहुत नीचे न रखे, अभिमान अथवा दीनता धारण न करे, स्वादिष्ट भोजन मिलने से प्रसन्न न होवे अथवा न मिलने से व्याकुल न वने और अपनी इन्द्रियो तथा मन को निग्रह कर उसे सन्तुलित रख सदा विचरण करे।

दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया ॥१४॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० १४]

गोचरी के लिये जानेवाला साधु जल्दी-जल्दी न चले, हंसता-हँसता न चले अथवा वात-चीत करता न चले। वह सदा धनवान और निर्धन दोनो प्रकार के कुलो मे समान भाव से जाय।

पडिकुट्ठं कुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए।
अचियत्तं कुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं ॥१५॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० १७]

साधु को चाहिए कि वह शास्त्रनिषिद्ध कुल मे गोचरी के लिये न जाए, गृह के स्वामी ने इन्कार किया हो तो उस घर मे न जाए, तथा प्रीतिरहित गृह मे भी प्रवेश न करे। वह अनुराग-श्रद्धावाले गृहों मे ही प्रवेश करे।

समुयाणं चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया।
नीयं कुलमइक्कम्मं, ऊसढं नाभिधारए ॥१६॥

[दश० अ० ५, उ० २, गा० २५]

साधु सदा ही सामुदानिक (धनवान् और निर्धन इन दोनो) के गृह मे गोचरी करे। वह निर्धन कुल का घर समझकर उसे टालकर धनवान के घर न जाए।

असंसत्तं पलोइज्जा, नाइदूरावलोयए।
उप्फुल्लं न विनिज्झाए, निअट्टिज्ज अयंपिरो ॥१७॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० २३]

गोचरी के लिये गया हुआ साधु घर मे रही स्त्री की नजर से नजर मिला कर न देखे, दूर तक लम्बी नजर न डाले, आँखे फाड-फाड कर न देखे। यदि भिक्षा न मिले तो बडबडाए बिना ही वापस आ जाए।

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥१८॥
एमे ए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया ॥१९॥

[दश० अ० १, गा० २-३]

भँवरे जब वृक्षो के फूलो का रस पीते है, तब फूलो को तनिक भी पीड़ा नही पहुँचाते और अपनी आत्मा को तृप्त कर लेते हैं। उसी प्रकार इस जगत मे जो समत्व की साधना करनेवाले बाह्य-अभ्यतर परिग्रह से मुक्त साधु है, वे भ्रमर के समान इस ससार मे केवल अपने लिये उपयुक्त ऐसी गृहस्थ द्वारा दी गई सामग्री (वस्त्र-पात्रादि) तथा शुद्ध निर्दोष भिक्षा प्राप्त करके सन्तुष्ट रहता है।

महुकारसमा वुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया ।
नाणापिण्डरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥२०॥

[दश० अ० १, गा० ५]

भ्रमर के समान सुचतुर मुनि अनासक्त तथा हर किसी प्रकार के भोजन मे सन्तुष्ट रहने का अभ्यासी होने से अपनी इन्द्रियों पर कावू पाने का आदी होता है और इसीलिए वह साधु कहलाता है।

अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीइज्ज पंडिए ।
अमुच्छियो भोयणंमि, मायण्णे एसणारए ॥२१॥

[दश० अ० ५, उ० २, गा० २६]

निर्दोष भिक्षा ग्रहण की गवेषणा करने मे रत और आहार की मर्यादा को माननेवाला पण्डित साधु भोजन के प्रति अनासक्ति भाव रखे और दीन भावना को छोडकर भिक्षावृत्ति करे। ऐसा करते हुए यदि कभी भिक्षा न मिले तो किसी प्रकार का दुःख अनुभव न करे।

समरेसु अगारेसु, संधीसु य महापहे ।
एगो एगित्थिए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे ॥२२॥

[उत्त० अ० १, गा० २६]

लुहार-शाला, सूना घर, दो घरों के वीच की गली और राज-मार्ग मे अकेला साधु अकेली नारी के साथ खड़ा न रहे और वातचीत न करे।

नाइदूरमणासन्ने, नन्नेसिं चक्खुफासओ ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा, लंघित्ता तं नइक्कमे ॥२३॥

[उत्त० अ० १, गा० ३३]

गृहस्थ के घर से (भोजनालय से) अति दूर नही और अति निकट भी नही, तथा अन्य श्रमणो की नजर पडे ऐसे भी नहीं, इस तरह साधु को भिक्षा के लिए खडा रहना चाहिये। वह किसी का भी उल्लघन कर आगे बढे नही।

अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गओ मुणी।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परिक्कमे ॥२४॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० २४]

गोचरी के लिए गया हुआ साधु, जिस परिवार का जैसा आचार हो वही तक परिमित भूमि मे गमन करे। नियत सीमा के भीतर गमन नही करे।

दगमट्टियआयाणे, बीयाणि हरियाणि य।
परिवज्जंतो चिट्ठिज्जा, सव्विंदियसमाहिए ॥२५॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० २६]

सब इन्द्रियों को वश मे रखनेवाला समाधिशील मुनि जहाँ पानी और मिट्टी लाने का मार्ग हो, बीज पडे हो अथवा हरी वनस्पति हो, ऐसे स्थान को छोडकर खडा रहे।

पविसित्तु परागारं, पाणट्ठा भोयणस्स वा।
जयं चिट्ठे मियं भासे, न य रूवेसु मणं करे ॥२६॥

[दश० अ० ८, गा० १९]

साधु पानी अथवा भोजन के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करके यतनापूर्वक खडा रहे, थोड़ा बोले और स्त्रियों के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट हो उसका विचार न करे।

तत्थ से चिट्ठमाणस्स, आहरे पाणभोयणं।
अकप्पियं न गेण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ॥२७॥
[दश० अ० ५, उ० १, गा० २७]

वहाँ (गृहस्थ के घर) मर्यादित भूमि में खड़े हुए साधु को गृहस्थ आहार-पानी देवे। वह कल्पनीय हो तो साधु उसे ग्रहण करे और अकल्पनीय हो तो ग्रहण न करे।

विवेचन—साधु के आचार अनुसार जो वस्तु ग्रहण की जा सके उसे कल्पनीय और न ली जा सके उसे अकल्पनीय कहते हैं।

नाइउच्चे नाइनीए, नासन्ने नाइदूरओ।
फासुयं परकड़ं पिण्डं, पडिगाहेज्ज संजए ॥२८॥
[उत्त० अ० १, गा० ३४]

दाता से ज्यादा ऊपर नही, ज्यादा नीचे भी नही अथवा ज्यादा पास नही और ज्यादा दूर भी नहीं यों खड़ा रहकर भिक्षार्थी साधु प्रासुक अर्थात् अचित्त और परकृत अर्थात् दूसरे के निमित्त बना हुआ आहार ग्रहण करे।

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छंदं से पडिलेहए ॥ २९ ॥
[दश० अ० ५, उ० १, गा० ३८]

गृहस्थ के घर मे यदि दो व्यक्ति भोजन कर रहे हों और उनमे से एक व्यक्ति निमन्त्रण दे तो साधु उसे लेने की इच्छा न करे।

दूसरे का अभिप्राय भी जान ले। तात्पर्य यह है कि दोनों की इच्छा हो तभी उनके पास से आहार-पानी ग्रहण करे।

गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोयणं।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥३०॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० ३९]

गर्भवती स्त्री के लिये बनी विविध प्रकार की भोज्य-सामग्री यदि वह खा रही हो तो भिक्षार्थी साधु उसे ग्रहण न करे। उसके खा लेने के पश्चात् यदि अवशिष्ट रहे तो उसे ग्रहण करे।

सिया य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिआ वा निसीइज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥३१॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३२॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० ४०-४१]

जिसका नौवाँ महीना चल रहा है ऐसी गर्भवती स्त्री कदाचित् खडी हो और साधु को आहार-पानी देने के लिये नीचे बैठे अथवा पहले बैठी हुई हो और बाद मे उठना पडे तो वह आहार-पानी साधु के लिये अकल्पनीय वन जाता है। ऐसे प्रसग पर भिक्षा देनेवाली महिला से साधु यो निषेध करे कि—इस प्रकार की भिक्षा ग्रहण करना मेरे लिये उचित नही है।

थणगं पिज्जेमाणी, दारगं वा कुमारियं।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं, आहरे पाणभोयणं ॥३३॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३४॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० ४२-४३]

वालक अथवा वालिका को स्तनपान कराती हुई स्त्री यदि उसे रोता हुआ छोड कर आहार-पानी देवे तो वह साधु के लिये अकल्पनीय है। अतः देनेवाली महिला को साधु इस तरह निषेध व्यक्त करे कि—इस प्रकार का आहार मेरे लिये कल्पनीय नही है।

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥३५॥
तारिसं भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पियं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३६॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० ४७-४८]

जो साधु ऐसा जान ले अथवा कही से सुन ले कि यह अशन, पान, खादिम और स्वादिम वस्तुएँ साधु को दान देने के लिये ही तैयार करवाई गई हैं, तो उसके लिये वह आहार-पानी अकल्पनीय हो जाता है, अतः उस दाता से साधु को कहना चाहिये कि—इस तरह का आहार-पानी मेरे लिये कल्पनीय नही है।

विवेचन—आहार के चार प्रकार हैं :—(१) अशन, (२) पान, (३) खादिम और (४) स्वादिम। इन मे क्षुधा का शमन करे ऐसे पदार्थ जैसे कि भात, कठोल, रोटी, मोटी रोटी, पूडी, वडे, मांड, सत्तू आदि अशन कहलाते हैं; पीने योग्य पदार्थ जैसे कि चावल का

धोन, छाछ, जौ का पानी, केर का पानी आदि पान कहलाते हैं; सुभक्ष्य पदार्थ जैसे कि भुने हुए धान्य, पोहे, बादाम, (द्राक्ष) दाख, सूखा मेवा आदि खादिम कहलाते है, और स्वाद लेने योग्य जैसे कि चूर्ण की गोली, हर्रे आदि स्वादिम पदार्थ कहलाते है।

न य भोयणम्मि गिद्धो, चरे उंछं अयंपिरो।
अफासुयं न भुंजिज्जा, कीयमुद्देसियाहडं ॥३७॥

[दश० अ० ८, गा० २३]

साधु भोजन मे आसक्त हुए बिना गरीब तथा धनवान् सभी दाताओ के यहाँ भिक्षा के लिये जावे। वहाँ अप्रासुक अर्थात् सचित्त वस्तु, क्रीत अर्थात् साधु के लिये ही खरीद कर लाई गई वस्तु, औद्देशिक अर्थात् साधु का उद्देश्य रख कर बनवाई गई वस्तु तथा आहृत अर्थात् सामने लायी हुई वस्तु ग्रहण न करे। भूल से ग्रहण कर ली गई हो तो उसका भोग न करे।

बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइमसाइमं।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा ॥३८॥

[दश० अ० ५, उ० २, गा० २७]

गृहस्थ के घर में खाद्य और स्वाद्य अनेक प्रकार के पदार्थ होते हैं, परन्तु वह न देवे तो बुद्धिमान् साधु उस पर क्रोध न करे। वह ऐसा विचार करे कि देना या नही देना, यह उसकी इच्छा की बात है।'

निट्ठाणं रसनिज्जूढं, भद्दगं पावगं ति वा।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा, लाभालाभं न निद्दिसे ॥३९॥

[दश० अ० ८, गा० २२]

किसी के पूछने पर अथवा पूछे विना साधु ऐसा कभी न कहे कि अमुक आहार सरस था, और अमुक नीरस। वह आहार बहुत अच्छा था और वह बहुत खराब। साधु उसके लाभालाभ की चर्चा भी न करे।

विणएण पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी।
इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे ॥४०॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० ८८]

गोचरी से लौटकर आने के पश्चात् साधु विनयपूर्वक अपने स्थान में प्रवेश करे और गुरु के समक्ष आकर, ईर्यावही का पाठ करके कायोत्सर्ग करे।

आभोइत्ता ण नीसेसं, अइयारं जहक्कमं।
गमणागमणे चेव, भत्तपाणे व संजए ॥४१॥

उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा।
आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहियं भवे ॥४२॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० ८९-९०]

कायोत्सर्ग करते समय साधु आने-जाने में तथा आहार-पानी ग्रहण करने मे जो कोई अतिचार लगे हों उन सब को वह यथाक्रम याद करे और उसके लिए हृदय से खेद प्रकट करे।

बाद में सरलचित्तवाला और अनुद्विग्न ऐसा साधु अव्याक्षिप्त चित्त से गोचरी कैसे मिली, उसका वर्णन गुरु के समक्ष निवेदित करे।

न सम्ममालोइयं हुज्जा, पुव्विं पुच्छा व जं कडं ।
पुणो पडिक्कमे तस्स, वोसट्ठो चिन्तए इमं ॥४३॥
अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया ।
मोक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥४४॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० ९१-९२]

पहले अथवा बाद मे किये गये दोषो की उस समय यदि पूरी तरह आलोचना न हुई हो तो फिरसे इसका प्रतिक्रमण करे और तब कायोत्सर्ग करके ऐसा चिन्तन करे कि 'अहो ! जिनेश्वर देवो ने मोक्षप्राप्ति के साधनभूत साधु का शरीर धारण करने के लिये कैसी निर्दोष भिक्षावृत्ति बताई है ?'

णमुक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं ।
सज्झाणं पट्ठवित्ता णं, वीसमेज्ज खणं मुणी ॥४५॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० ९३]

पीछे 'नमो अरिहंताण' उच्चारणपूर्वक कायोत्सर्ग पालन कर जिनस्तुति करके स्वाध्याय करता हुआ मुनि कुछ समय के लिये विश्राम करे ।

वीसमंतो इमं चिंते, हियमट्ठं लाभमट्ठिओ ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ ॥४६॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० ९४]

विश्राम लेने के पश्चात् निर्जरारूपी लाभ का इच्छुक वह साधु अपने कल्याण के लिये ऐसा चिंतन करे कि 'अन्य मुनिवर मुझ पर

अनुग्रह करके मेरे इस आहार मे से थोड़ा भी ग्रहण करे तो मैं संसार-समुद्र पार पा जाऊं।'

साहवो तो चियत्तेणं, निमंतिज्ज जहक्कमं।
जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा, तेहि सद्धिं तु भुंजए ॥४७॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० ९५]

इस प्रकार विचार कर मुनि सर्व साधुओं को प्रीतिपूर्वक निमंत्रित करे और उनमे से जो भी साधु उसके साथ आहार करना चाहे तो उसके साथ आहार करे।

विवेचन—इसका क्रम ऐसा है कि प्रथम दीक्षावृद्ध को आमन्त्रित करे, बाद में उन से उतरते हुए क्रमवाले साधुओं को आमन्त्रित करे, बाद मे उनसे उतरते हुए क्रमवालों को आमन्त्रित करे। इस प्रकार सभी को आमन्त्रित करे।

अह कोइ न इच्छिज्जा, तओ भुंजिज्ज एक्कओ।
आलोए भायणे साहू, जयं अप्परिसाडियं ॥४८॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० ९६]

यदि आमंत्रण देने के बाद कोई साधु आहार का इच्छुक न हो तो उक्त साधु अकेला ही चौड़े मुखवाले प्रकाशयुक्त पात्र मे, वस्तु नीचे न गिरे ऐसी पद्धति से यतनापूर्वक आहार करे।

पडिग्गहं संलिहित्ता णं, लेवमायाए संजए।
दुगन्धं वा सुगन्धं वा, सव्वं भुंजे न छड्डए ॥४९॥

[दश० अ० ५, उ० २, गा० १]

गोचरी मे दुर्गन्धयुक्त अथवा सुगन्धवाला अर्थात् अस्वादु या स्वादु जो कुछ आहार मिला हो, वह सब साधु उपयोग मे ले लेवे। उसमे से कुछ भी नही छोडे। पात्र को जो कुछ भी आहार लिपटा हुआ हो उसके भी अतिम कण को अँगुली से चाट जाये।

सुकडं त्ति सुपक्कं त्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठि त्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥५०॥

[उत्त० अ० १, गा० ३६]

यह ठीक बना है, यह अच्छी तरह पकाया है, यह अच्छी तरह काटा है, इसकी कडुवाहट ठीक तरह से दूर हुई है, यह अच्छे मशालों से बना हुआ है, यह बहुत सुन्दर है आदि वचन सावद्य होने से मुनि इनका प्रयोग न करे।

तित्तगं व कडुअं व कसायं, अंबिलं व महुर लवणं व।
एयलद्धमन्नट्ठपउत्तं, महुघयं व भुंजिज्ज संजए ॥५१॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० ९७]

गृहस्थ द्वारा अपने लिये बनाया तथा शास्त्रीय विधि से प्राप्त आहार कडवा, तीता, कसैला, खट्टा, मीठा, अथवा खारा चाहे जैसा हो तो भी साधु उसे मधु अथवा घृत जैसा मीठा मान कर उपयोग मे लेवे।

विवेचन—सस्कृत-प्राकृत मे तिक्त का अर्थ कडवा और कटु का अर्थ तीता ऐसा होता है।

अरसं विरसं वा वि, सूइयं वा असूइयं।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथुकुम्मासभोयणं ॥५२॥

उप्पणं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहु फासुयं।
मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोसवज्जियं ॥५३॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० ९८-९९]

शास्त्रोक्त विधि से प्राप्त आहार रसरहित हो अथवा विरस हो अथवा व्यंजनादि-युक्त हो अथवा व्यजनादि-रहित हो, आर्द्र हो या शुष्क हो, सत्तू हो या उडद के बाकले हों, अथवा सरस आहार थोडा हो और नीरस आहार ज्यादा हो, इस प्रकार जैसा भी आहार प्राप्त हुआ हो उसकी साधु निन्दा न करे। वह निःस्पृह भाव से केवल सयमयात्रा के निर्वाह के लिये दाता द्वारा निःस्वार्थ भाव से दिये गये दोपवर्जित आहार का भोजन करे।

अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भादंते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ॥५४॥

[उत्त० अ० ३५, गा० १७]

साधु जिह्वा का लोलुप न बने, रस मे आसक्त न बने, जिह्वा को वश मे रखे और मूर्च्छारहित बने। वह स्वाद के लिये भोजन न करे, केवल सयम-निर्वाह के लिये भोजन करे।

———

धारा : २० :

भिक्षु की पहचान

निक्खम्ममाणाइ अ बुद्धवयणे,
निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा ।
इत्थीण वसं न आवि गच्छे,
वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥१॥

जिसने ज्ञानियों के वचन सुनकर गृहस्थाश्रम का त्याग किया हो, जो नित्य अपने चित्त को समाहित—शान्त रखता हो, जो स्त्रियों के मोहजाल मे नही फंसता हो तथा वमन किये हुए भोगों को भोगने की इच्छा नही रखता हो, उसको ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये ।

विवेचन—भिक्षु, साधु, यति, सयति, मुनि, अणगार, ऋषि आदि एकार्थ शब्द है ।

पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदगं न पिए न पिआवए ।
अगणिसत्थं जहा सुनिसिअं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥२॥

जो स्वयं पृथ्वी को न खोदे तथा दूसरे से न खुदवाये, सचित्त पानी न पिये और न पिलाये, तीक्ष्ण शस्त्ररूप अग्नि को स्वयं न जलाये और न दूसरे से जलवाये, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

विवेचन—सच्चा भिक्षु इनमे से किसी क्रिया का अनुमोदन भी न करे।

अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए।
वीआणि सया विवज्जयंतो,
सचित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥३॥

जो पखे आदि साधनों से स्वय हवा न करे तथा दूसरे के द्वारा न कराये, जो वनस्पति को स्वयं न तोडे और न दूसरे से तोडवाये, जो मार्ग मे पडे बीजों को छूए विना ही चले और सचित्त का भक्षण न करे, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

वहणं तसथावराण होइ, पुढवीतणकट्ठनिस्सिआणं।
तम्हा उद्देसिअं न भुंजे, नो वि पए न पयावए
जे स भिक्खू ॥४॥

पृथ्वी, तृण और काष्ठ के सहारे रहनेवाले स्थावर तथा त्रस जीवों की हिंसा होती है। अतः जो अपने लिये तैयार की हुई भिक्षा न ले, स्वयं रसोई न बनाये तथा दूसरे से न बनवाये, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

रोइअ नायपुत्तवयणे, अप्पसमे मन्नेज्ज छप्पि काए।
पंच य फासे महव्वयाइं, पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥५॥

जिसे ज्ञातपुत्रभगवान् महावीर के वचन प्रिय लगते हो और उनके अनुसार जो छकाय के जीवो को आत्मानुरूप मानता हो, जिसने पाँच महाव्रतो का स्पर्श किया हो और जिसने पाँच आश्रव-द्वारो (इन्द्रियो) का सवर किया हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

चत्तारि वमे सया कसाए,
धुवजोगी य हविज्ज वुद्धवयणे।
अहणे निज्जायरुवरयए,
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥६॥

जो क्रोधादि चार कषायो को छोडे, जो ज्ञानियो के वचन में अचल—अटल निष्ठावान् हो, जो पशुओ तथा सुवर्ण-रौप्य आदि सपत्ति से रहित हो, जो मूर्च्छावश गृहस्थ के सम्बन्ध को न करता हो, उसे सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

सम्मदिट्ठि सया अमूढे,
अत्थि हु नाणे तवे संजमे अ।
तवसा धुणइ पुराणपावगं,
मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥७॥

जो सम्यग्दर्शी हो, जो सदा विक्षेपरहित चित्तवाला हो, जो ज्ञान, तप और सयम मे निष्ठावान् हो, जो तप करके अपने पुराने पापों का नाश करनेवाला हो और मन, वचन तथा काया को सयम मे रखता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

तहेव असणं पाणगं वा,
विविहं खाइमसाइमं लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा,
तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥८॥

इसी तरह जो विविध प्रकार के अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम पदार्थों का कल या परसों-नरसों तथा आगामी दिनो के लिये सचय करके नही रखता हो और दूसरे से सञ्चित करके नही रखवाता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

तहेव असणं पाणगं वा,
विविहं खाइमसाइमं लभित्ता।
छंदिअ साहम्मिआण भुंजे,
भुच्चा सज्झायरए य जे स भिक्खू ॥९॥

इसी प्रकार जो विविध प्रकार के अशन, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थों को प्राप्त करके अपने साधर्मिकों—साथी साधुओं को निमन्त्रित कर उनके साथ बैठ कर भोजन करता हो और भोजन के पश्चात् स्वाध्याय मे मग्न रहता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा,
न य कुप्पे निहुइन्दिए पसन्ते ।
संजमधुवजोगजुत्ते,
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥१०॥

जो लडाई-झगडे खडे हो जाय ऐसी कथा-कहानी नही सुनाता हो, जो किसी पर क्रोध नही करता हो, जो पाँचों इद्रियो को सयम में रखता हो, जो रागादि से रहित हो, जो मन, वचन और शरीर को निश्चित सयम मे रखनेवाला हो, जो उपशान्त अर्थात् कायचापल्य रहित हो, और जो किसी का अनादर नही करता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये ।

जो महइ हु गामकंटए,
अक्कोसपहारतज्जणाओ य ।
भयभेरवसद्दसप्पहासे,
समसुहदुक्खसहे अ जे स भिक्खू ॥११॥
[दश० अ० १०, गा० १, से० ११]

जो इन्द्रिय-समूह को प्रिय न लगनेवाले प्रसग, किसी के द्वारा किया गया क्रोध, दण्डादि का प्रहार, अपमान, (वेताल आदि के द्वारा किये गये) भयङ्कर शब्द और अट्टहास को शान्त भाव से सहन करलेता हो, तथा सुख-दुःख में समवृत्ति रखता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये ।

असइं वोसट्ठचत्तदेहे,

अक्कुट्ठे व हए लूसिए वा।

पुढवीसमे मुणी हविज्जा,

अनियाणे अकोउहले जे स भिक्खू ॥१२॥

[दश० अ० १०, गा० १३]

जो सदा देहभावना से रहित हो, जो आक्रोश करने पर भी, मार-पीट होने पर भी अथवा घायल हो जाने पर भी पृथ्वी के समान क्षमाशील हो, जो नियाणा न करता हो, अथवा नृत्य-गीतादि में उत्सुकता नहीं दिखलाता हो. उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

विवेचन—संयम और तप के फल स्वरूप किसी भी प्रकार के सांसारिक सुख की अपेक्षा रखना इसको नियाणा (निदान) कहते हैं।

अभिभूय कायेण परीसहाइं,

समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं।

विइत्तु जाईमरणं महब्भयं,

तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥१३॥

[दश० अ० १०, गा० १४]

जो शरीर से (क्षुधा आदि) परीषहों को जीते, जो संसार से अपनी आत्मा का उद्धार करे, जो जन्म और मरण को महाभय का कारण मानकर तप में तथा श्रमणधर्म में मग्न रहे, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

इत्थसंजए पायसंजए, वायसंजए संजइन्दिए ।
अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा, सुत्तत्थं च विजाणइ
जे स भिक्खू ॥१४॥

[दश० अ० १०, गा० १५]

जो हाथ, पाँव, वाणी और इन्द्रियो को सयम मे रखनेवाला हो, जो अध्यात्मभाव मे तत्पर हो, जिसकी आत्मा सुसमाहित हो और जो सूत्र के अर्थ को बराबर जानता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये ।

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे,
अन्नायउंछं पुलनिप्पुलाए ।
कयविक्कयसन्निहिओ विरए,
सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू ॥१५॥

[दश० अ० १०, गा० १६]

जो उपधि अर्थात् संयम के उपकरणो में निर्मोही हो, खान-पान मे आसक्त न हो, जो अपरिचित कुटुम्बो में पहुचकर निर्दोष भिक्षा लेता हो, जो सयम को बिगाडनेवाले दोषों से दूर भागता हो, जो वस्तु का क्रय-विक्रय अथवा सचय न करता हो, जो विरक्त हो और जो रागद्वेषवाले समस्त सम्बन्धो से दूर रहता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये ।

अलोलभिक्खू न रसेसु गिद्धे,
उंछं चरे जीवियनाभिकंखे ।

इड्ढिं च सक्कारणपूयणं च,
चए ठिअप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥१६॥

[दश० अ० १०, गा०१७]

जो अलोलुप हो, किसी प्रकार के रसों मे आसक्त न हो, अपरिचित गृहों से आहारादि ग्रहण करता हो, जो जीवितव्य के प्रति मोह न दिखलाता हो, जो अपने यश, सत्कार और पूजा का त्याग करनेवाला हो, जिसकी आत्मा स्थिर हो और आकांक्षारहित हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

न परं वइज्जासि अयं कुसीले,
जेणं च कुप्पेज्ज न तं वइज्जा।
जाणिय पत्तेयं पुण्ण-पावं,
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥१७॥

[दश० अ० १० गा० १८]

'यह कुशील है' ऐसा शब्द दूसरे को न कहता हो, सामनेवाला व्यक्ति क्रुद्ध होवे ऐसे वचन न बोलता हो, जो प्रत्येक आत्मा स्वयंकृत पाप अथवा पुण्य के फल भोगती है, ऐसा जानता हो और जो अपने गुणो की बडाई न करता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते।

भयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता,
धम्मज्झाणरए य जे स भिक्खू ॥१८॥
[दश० अ० १०, गा० १९]

जो जातिमद, रूपमद, काममद, श्रुतमद, तथा अन्य मदों का वर्जन करके धर्मध्यान मे मग्न रहता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

पवेयए अज्जपयं महामुणी,
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं,
न यावि हासंकुहए जे स भिक्खू ॥१९॥
[दश० अ० १० गा० २०]

जो महामुनि आर्यमार्ग को कहता हो, जो सयममार्ग मे स्थिर रहता हो और दूसरो को भी सयममार्ग मे स्थिर रखता हो, जो संसार को त्यागने के पश्चात् कुशीलचेष्टित आरम्भादि कार्य नही करता हो तथा हास्य उत्पन्न करनेवाली चेष्टा न करता हो, उसे ही सच्चा भिक्षु समझना चाहिये।

बहुं सुणेई कन्नेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥२०॥
[दश० अ० ८ गा० २०]

भिक्षु कानो से बहुत-सी बाते सुनता है और आँखो से अनेक

वस्तुएं देखता है, परन्तु सुनी हुई अथवा देखी हुई सभी बातें वह किसी दूसरे को कहे, यह उचित नहीं है।

अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले ॥२१॥

[उत्त० अ० २, गा० २४]

कोई तिरस्कार करे तो भिक्षु उसपर क्रोध न करे।

चत्तपुत्तकलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जई ॥२२॥

[उत्त० अ० ९, गा० १५]

पुत्र-पत्नी को छोड़नेवाले तथा सासारिक व्यवहार से दूर ऐसे भिक्षु के लिये कोई वस्तु प्रिय नहीं होती और कोई अप्रिय भी नहीं होती।

सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी,
खंतिक्खमे संजयबंभयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो,
चरेज्ज भिक्खू सुसमाहिइन्दिए ॥२३॥

[उत्त० अ० २१, गा० १३]

भिक्षु को चाहिये कि वह सर्व प्राणियों के प्रति दयानुकम्पी रहे, कठोर वचनों को सहन करनेवाला बने, संयमी रहे, ब्रह्मचारी रहे, इन्द्रियों की सुसमाधिवाला बने और सर्व पापकारी प्रवृत्ति का वर्जन करता हुआ विचरण करे।

नारीसु नो पगिज्झेज्जा,
इत्थी विप्पजहे अणगारे ।
धम्मं च पेसलं णच्चा,
तत्थ ठविज्ज भिक्खु अप्पाणं ॥२४॥
[उत्त० अ० ८, गा० १६]

अणगार स्त्रियो के प्रति आसक्त न बने और उनका सम्पर्क—समागम छोड़े। भिक्षु धर्म को सुन्दर मानकर उसमे अपनी आत्मा को स्थिर रखे।

बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगन्तमणुपस्सओ ॥२५॥
[उत्त० अ० ६, गा० १६]

सर्व बन्धनों से मुक्त होकर एकत्वभाव मे रहनेवाले, गृहरहित, भिक्षाचरी करनेवाले मुनि निश्चय ही बहु सुखी होता है।

तं देहवासं असुइं असासयं, सया चए निच्चहिअट्ठिअप्पा ।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं, उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥२६॥
[दश० अ० १०, गा० २१]

आत्मा के हित साधन मे तत्पर साधु इस अशुचिमय और अशाश्वत शरीर का सदा के लिये परित्याग कर देता है तथा जन्म-मरण के बन्धनों को काट कर, 'जहाँ जाने के बाद फिर संसार मे जाना नही होता, ऐसे मुक्ति स्थान को प्राप्त कर लेता है।

धारा : ३१ :

संयम की आराधना

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ॥१॥

[उत्त० अ० ३१, गा० २]

साधक एक वस्तु की विरति करे और एक वस्तु का प्रवर्तन करे। वह असंयम की निवृत्ति करे और सयम का प्रवर्तन करे।

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्स वि संजमो सेयो, अदिन्तस्स वि किंचण ॥२॥

[उत्त० अ० ९, गा० ४०]

एक मनुष्य प्रति मास दस लाख गायों का दान करता हो और दूसरा मनुष्य कुछ भी नही करते हुए केवल सयम की आराधना करता हो, तो उस दान की अपेक्षा इसका यह सयम श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह है कि अपने पास सम्पत्ति हो, तो दान देना सरल बात है, किन्तु अपनी आत्मा पर अनुशासन करना यह सरल बात नही है।

तमाहु लोए पडिवुद्धजीवी,
सो जीयइ संजमजीविएणं ॥३॥

[दश० चू० २, गा० १५]

इस लोक मे उसको ही प्रतिबुद्धजीवी—सदा जागृत रहनेवाला कहा जाता है—जो सयमी जीवन व्यतीत करता है।

गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥४॥

[उत्त० अ० ५, गा० २०]

सर्व गृहस्थो की अपेक्षा साधु सयम में श्रेष्ठ होते है। तात्पर्य यह कि गृहस्थ चाहे जितने व्रत और नियमों का पालन करते हों, किन्तु सयम के विषय में वे साधु की समानता नही कर सकते।

तहेव हिंसं अलियं, चोज्जं अबम्भसेवणं।
इच्छाकामं च लोभं च, संजओ परिवज्जए ॥५॥

[उत्त० अ० ३५, गा० ३]

सयमी पुरुष सदा हिसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मसेवन, भोगलिप्सा तथा लोभ का परित्याग करे।

अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थ हियासए ॥६॥

[सू० श्रु० १, अ० ६, गा० ३०]

उदारभोगो के प्रति अनासक्त रहता हुआ मुमुक्षु यत्नपूर्वक सयम मे रमण करे, धर्मचर्या मे अप्रमादी बने और विपत्ति आ जाने पर अदीन भाव से उसे सहन करे।

अणुसोअपट्ठिए वहुजणम्मि,
पडिसोयलद्धलक्खेणं।

पडिसोअमेव अप्पा,
दायव्वो होउ कामेणं ॥७॥

[दश० चू० २, गा० २]

जगत मे वहुत से लोग अनुस्रोतगामी अर्थात् विषय के प्रवाह में वहनेवाले होते हैं। किन्तु जिसका लक्ष्य किनारे पहुँचने का है वह प्रतिस्रोतगामी अर्थात् विषय-प्रवाह के सामने जानेवाला होता है। जो ससारसागर को पार करना चाहता है उसे अपनी आत्मा को निःसन्देह प्रतिस्रोत मे-विषय-पराङ्मुखता मे ही स्थिर करनी चाहिए।

अणुसोअसुहो लोओ, पडिसोओ आसवो सुविहिआणं।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥८॥

[दश० चू० २, गा० ३]

सामान्य मनुष्य विषय के प्रवाह मे वहनेवाले तथा उसीमें सुख माननेवाले होते हैं, जवकि साधु पुरुषों का उद्देश्य तो प्रतिस्रोत ही होता है। इतना समझ लो कि अनुस्रोत यह ससार है और प्रतिस्रोत उससे वाहर निकलने का उपाय है।

सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं,
इह जीवियं अणवकंखमाणा।
वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा,
महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं ॥९॥

[उत्त० अ० १२, गा० ४२]

जो पांच महाव्रतो से हिंसादि आस्रव के रोधक है, जो ऐहिक जीवन की आकाक्षा नही करते, जो काया की ममता छोड चुके है, और जो देह की सार-सवार वृत्ति से पर है, वे ही महाविजय के लिए श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं।

काबोया जा इमा वित्ती, केसलोओ अ दारुणो।
दुक्खं वंभव्वयं घोरं, धारेउं य महप्पणा ॥१०॥

[उत्त० अ० १६, गा० ३४]

मुनि जीवन कापोतवृत्ति के समान है, केशलोच अत्यन्त दारुण है; और उग्र ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करना कठिन है; परन्तु महात्माओं को वे गुण धारण करने चाहिये।

विवेचन—कापोतवृत्ति का अर्थ है कबूतर के समान जो मिले उस पर जीवन चलाना।

वालुयाकवले चेव, निरस्साए उ संजमे।
असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो ॥११॥

[उत्त० अ० १६, गा० ३८]

सयम रेती के कौर की तरह नीरस है और तपश्चर्या तलवार की धार पर चलने की तरह दुष्कर है।

जहा अग्गिसिहा दित्ता, पाउं होइ सुदुक्करं।
तहा दुक्करं करेउं जे, तारुण्णे समणत्तणं ॥१२॥

[उत्त० अ० १६, गा० ३६]

जैसे प्रज्वलित अग्निशिखा का पान करना अति दुष्कर है, वैसे ही तरुणावस्था मे श्रमणत्व का पालन करना अति दुष्कर है।

जहा दुक्खं भरेउं जे, होइ वायस्स कोत्थलो।
तहा दुक्खं करेउं जे, कीवेणं समणत्तणं ॥१३॥

[उत्त० अ० १९, गा० ४०]

जिस तरह कपडे के थैले को वायु से भरना कठिन है, उसी तरह कायर (पुरुष) के लिये श्रमणत्व का—सयम का पालन करना कठिन है।

जहा भुयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणायरो।
तहा अणुवसन्तेणं, दुक्करं दमसागरो ॥१४॥

[उत्त० अ० १९, गा० ४२]

जैसे भुजाओं से समुद्र को तैर कर पार करना अति कठिन है वैसे ही अनुपशान्त आत्मा द्वारा सयमरूपी समुद्र को पार करना अति कठिन है।

इह लोए निप्पिवासस्स,
नत्थि किंचि वि दुक्करं ॥१५॥

[उत्त० अ० १९, गा० ४४]

इस लोक मे जो तृष्णारहित है, उसके लिये कुछ भी कठिन नही है।

विरया वीरा समुट्ठिया, कोहकोयरियाइपीसणा।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरयाऽभिनिव्वुडा ॥१६॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० १, गा० १२]

जो ससार से विरक्त है, जो आत्मशुद्धि के लिये तत्पर है, जो क्रोध, लोभ आदि दुष्ट मानसिक वृत्तियो को दूर करनेवाले है, वे प्राणियो की हिसा कभी नही करते। जो पापो से निवृत्त हो गये हैं और जो शान्ति को धारण करते है, वे ही सच्चे वीर है।

जया या चयइ धम्मं, अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए वाले, आयइं नाववुज्झई ॥१७॥

[दश० चू० १, गा० १]

जव कोई अनार्य पुरुष केवल भोग की इच्छा से अपने चिरसञ्चित संयमधर्म को छोड देता है, तव वह भोगासक्त अज्ञानी अपने भविष्य का जरा भी विचार नही करता।

जया य पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो ॥१८॥

[दश० चू० १, गा० ४]

मनुष्य जब सयमी होता है, तब पूज्य बनता है, परन्तु सयम से भ्रष्ट होता है, तो अपूज्य बन जाता है।

जं मयं सव्वसाहूणं, तं मयं सल्लगत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा, देवा वा अभविंसु ते ॥१९॥

[सू० श्रु० १, अ० १५, गा० २४]

सर्वसाधुओ द्वारा मान्य ऐसा जो संयमधर्म है, वह पाप का नाश करनेवाला है। इसी सयम धर्म की आराधना कर अनेक जीव संसारसागर से पार हुए है और अनेक जीवों ने देवयोनि प्राप्त की है।

तिविहेण वि पाण मा हणे,
आयहिते अणियाण संवुडे ।
एवं सिद्धा अणंतसो,
संपइ जे अ अणागयावरे ॥२०॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० ३, गा० २१]

आत्मकल्याण के लिये मन, वचन और काया से किसी भी जीव को हिंसा नहीं करना, संयमपालन के फलस्वरूप किसी सांसारिक सुख की इच्छा नही रखना और तीन गुप्तियों का पालन करना। इस प्रकार अनन्त आत्माएं सिद्धि-पद को प्राप्त हुई हैं, वर्तमान काल मे सिद्ध हो रही हैं और भविष्य में भी होंगी।

तपश्चर्या

बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो ।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥१॥

[दश० अ० ८, गा० ३५]

इन्द्रियो शक्ति का श्रद्धा और आरोग्य देखकर तथा क्षेत्र और काल को पहचानकर अपनी आत्मा को शारीरिक बल धर्म कार्य में नियुक्त करे ।

एगमप्पाणं सपेहाए धुणे सरीरगं ॥२॥

[आ० श्रु० १, अ० ४, उ० ३]

साधु आत्मा को अकेला समझकर (अमोहभाव से) शरीर को उग्र तप द्वारा क्षीण करे ।

सउणी जह पंसुगुण्डिया,
विहुणिय धंसयई सियं रयं ।
एवं दविओवहाणवं,
कम्मं खवइ तवस्सिमाहणे ॥३॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० १, गा० १५]

जैसे शकुनिका नामक एक पक्षी अपने शरीर मे लगी हुई धूल को पख फडफडा कर दूर कर देती है, वैसे ही जितेन्द्रिय ऐसा अहिंसक तपस्वी अनशनादि तप करके अपने आत्म-प्रदेशों पर कर्म रूपी जमी हुई मिट्टी को दूर कर देता है।

जं किंचुवक्कम जाणं, आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अन्तराखिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पण्डिए ॥४॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० १५]

यदि पण्डित पुरुष किसी भी तरह अपनी आयु का क्षयकाल जान ले, तो उस से पूर्व वह शीघ्र ही सलेखनारूप शिक्षा को ग्रहण करे।

खवेत्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥५॥

[उत्त० अ० २८, गा० ३६]

महर्षिगण संयम और तप द्वारा अपने सभी पूर्व कर्मो को क्षीण करके सर्व दुःखों से रहित ऐसा जो मोक्षपद है उसे पाने के लिए प्रयत्न करते हैं।

तवनारायजुत्तेणं, भित्तूण कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥६॥

[उत्त० अ० ९, गा० २२]

तपरूपी वाण से सयुक्त मुनि कर्मरूपी कवच को भेदकर कर्म के साथ होनेवाले युद्ध का अन्त करता है और भव-परम्परा से मुक्त होता है।

एवं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी ।
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ ॥७॥

[उत्त० अ० ३०, गा० ३७]

जो पण्डित मुनि बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दोनो प्रकार के तपों का सम्यग् आचरण करता है, वह समस्त संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ।

धारा : ३३ :

विनय (गुरु-सेवा)

मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुवेन्ति साहा।
साहप्पसाहा विरुहन्ति पत्ता,
तओ सि पुप्फं च फलं रसो अ ॥१॥

एवं धम्मस्स विणओ,
मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं,
निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥२॥

[दश० अ० ९, उ० २, गा० १-२]

वृक्ष के मूल से तना निकलता है। वाद मे तने से विभिन्न शाखाएं निकलती हैं। उन शाखाओं से अन्य कई छोटी-छोटी प्रशाखाएं (डालियाँ) फूटती हैं। उन प्रशाखाओ पर पत्ते लगते हैं, फिर पुष्प खिलते हैं, फल लगते हैं और उसके पश्चात् फलों मे रस होता है।

इसी प्रकार धर्मरूपी वृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम परिणाम मोक्ष है। विनय से ही मनुष्य कीर्ति, श्रुतज्ञान और महापुरुषो की प्रशसा आदि पूर्ण रूप से प्राप्त करता है।

जहा सूई ससुत्ता, पडिआ वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ ॥३॥

[उत्त० अ० २९, गा० ५९]

जैसे धागा (सूता) पिरोई हुई सुई के गिर जाने पर भी वह खो नही जाती, ठीक वैसे ही (विनय-पूर्वक) श्रुतज्ञान की प्राप्ति करनेवाला जीव चार गतिरूपी संसार मे परिभ्रमण नही करता।

सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुतवस्सियं ॥४॥

[सू० श्रु० १, अ० ९, गा० ३३]

मोक्षार्थी पुरुष को चाहिये कि वह प्रज्ञावान् और तपस्वी ऐसे गुरु की सेवा-सुश्रूषापूर्वक उपासना करे।

जहाहिअग्गी जलणं नमंसे,
नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं।
एवायरियं उवचिट्ठइज्जा,
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥५॥

[दश० अ० ९, उ० १, गा० ११]

जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण भिन्न-भिन्न प्रकार के (घृत, मधु आदि) पदार्थों की आहुति से तथा वेदमन्त्रो द्वारा अभिषिक्त ऐसी होमाग्नि

को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य अनन्त ज्ञानी हो जाने पर भी अपने आचार्य की (गुरु की) विनयपूर्वक सेवा करे।

जस्सन्तिए धम्मपयाइ सिक्खे,
तस्सन्तिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ,
कायग्गिरा भो ! मणसा य निच्चं ॥६॥

[दश० अ० ६, उ० १, गा० १२]

शिष्य का यह परम कर्त्तव्य है कि जिस गुरु के पास उसने धर्म-पदों की शिक्षा ग्रहण की हो अर्थात् धर्मज्ञान प्राप्त किया हो, उनका श्रद्धासिक्त मन से आदर करे, (वचन से सत्कार करे) और काया से दोनों हाथ जोड़कर शिर से प्रणाम करे। इस प्रकार सदा मन, वचन और काया से उनके प्रति विनय प्रदर्शित करे।

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥७॥

[दश० अ० ६, उ० १, गा० १]

जो शिष्य अभिमानवश, क्रोधवश, मद या प्रमादवश गुरु के पास रहकर भी विनय नहीं सीखता, अर्थात् उनके प्रति विनय से व्यवहार नहीं करता, उसका यह अविनयी वर्त्तन बाँस के फल की तरह विनाश का कारण बनता है।

विवेचन—बाँस के फल आते है तब बाँस फट जाता है। उसी प्रकार जो शिष्य गुरु के साथ अविनय से व्यवहार करता है, उसका सर्वप्रकार से अधःपतन होता है।

विणय पि जो उवाएण, चोइओ कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमिज्जंति, दण्डेण पडिसेहए ॥८॥

[दश० अ० ६, उ० २, गा० ४]

कोई उपकारी महापुरुष सुन्दर शिक्षा देकर विनय-मार्ग पर चलने की प्रेरणा करे, तब जो मनुष्य उस पर क्रोध करता है (और उसके द्वारा प्रदत्त शिक्षा का अनादर करता है) वह स्वय अपने घर आयी दिव्य लक्ष्मी को डण्डा उठाकर हाँक देता है—भगा देता है।

जे आयरियउवज्झायाणं,
सुस्सूसावयणंकरे।
तेसिं सिक्खा पवड्ढति,
जलसित्ता इव पायवा ॥९॥

[दश० अ० ६, उ० २, गा० १२]

जो शिष्य आचार्य और उपाध्याय की सेवा करता है तथा उनके कथनानुसार चलता है, अर्थात् उनकी आज्ञा का सदा पालन करता है, उसकी शिक्षा खूब अच्छी तरह जल से सिञ्चित वृक्ष के समान सदतर वढती जाती है।

विवेचन—शिक्षा दो प्रकार की है :—(१) ग्रहण और (२) आसेवना। शास्त्रज्ञान सम्पादन करने को ग्रहण-शिक्षा कहते

हैं और साधु के आचार के अनुरूप वर्ताव-व्यवहार करने की शिक्षा को आसेवना-शिक्षा कहते हैं। जहाँ शिक्षा का सामान्य निर्देश किया गया हो, वहाँ इन दोनो प्रकार की शिक्षाओं को समझना चाहिये।

आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥१०॥

[उत्त० अ० १, गा० २]

जो शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन करनेवाला हो, गुरु के निकट रहता हो (गुरुकुलवासी हो) और गुरु के इंगित तथा आकार से मनोभाव को समझकर कार्य करनेवाला हो, वह विनीत कहलाता है।

अह पण्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावत्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥११॥
अप्पं च अहिक्खिवई, पबन्धं च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो भयई, सुयं लद्धुं न मज्जई ॥१२॥
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥१३॥
कलहडमरवज्जिए, बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई ॥१४॥

[उत्त० अ० ११, गा० १० से० १३]

निम्नांकित पन्द्रह स्थानो में वर्तन करता हुआ साधु सुविनीत कहलाता है :—

(१) वह नम्रवृत्तिवाला हो, (२) चपलता-रहित हो, (३) शठता-रहित हो, (४) कुतूहल-रहित हो, (५) किसी का अपमान करनेवाला न हो, (६) जिसका क्रोध अधिक समय तक न टिकता हो, (७) जो मित्रता निभानेवाला हो, (८) जो विद्या प्राप्त कर अभिमान करनेवाला न हो, (९) अपने से त्रुटि हो जाने पर हितशिक्षा देनेवाले आचार्यादि का तिरस्कार करनेवाला न हो, (१०) मित्रों के प्रति क्रोध करनेवाला न हो, (११) अप्रिय मित्र की भी पीठ पीछे-प्रशसा करता हो, (१२) झगडा-टटा अथवा किसी प्रकार का कलह करनेवाला न हो, (१३) बुद्धिमान् हो, (१४) कुलीन हो और (१५) आँख की शर्म रखनेवाला तथा स्थिर-वृत्तिवाला हो।

आणानिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए।
पडणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति वुच्चई ॥१५॥

[उत्त० अ० १, गा० ३]

जो शिष्य गुरु की आज्ञा पालन करनेवाला न हो, गुरु के निकट रहनेवाला न हो (गुरुकुलवासी न हो), गुरु के मनोभाव के प्रतिकूल वर्तन करनेवाला हो तथा तत्त्वज्ञान से रहित हो वह अविनीत कहलाता है।

अह चोद्दसहिं ठाणेहिं, वट्टमाणे उ संजए।
अविणीए वुच्चई सो उ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥१६॥

अभिक्खणं कोही हवइ, पवन्धं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जई ॥१७॥
अवि पावपरिक्खेवो, अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥१८॥
पइण्णवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अवियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चई ॥१९॥

[उत्त० अ० ११, गा० ६ से ९]

यहाँ वर्णित चौदह स्थानों मे वर्तन करनेवाला साधु अविनीत कहलाता है और वह निर्वाण प्राप्त नही कर सकता—(१) जो शिष्य वार-वार क्रोध करता हो, (२) जिसका क्रोध शीघ्रता से शान्त न होता हो, (३) जो मैत्री भावना को छोडनेवाला हो, (४) विद्या प्राप्त करके अभिमान करनेवाला हो, (५) किसी प्रकार की त्रुटि हो जाने पर हितशिक्षक आचार्यादि का तिरस्कार करनेवाला हो, (६) मित्रो पर भी क्रोध करनेवाला हो, (७) अत्यन्त प्रिय मित्र की भी पीठ पीछे निन्दा करनेवाला हो, (८) असम्बद्ध प्रलापकारी हो, (९) द्रोही हो, (१०) अभिमानी हो, (११) रसादि मे आसक्त हो, (१२) इन्द्रियों को वश मे नही रखनेवाला हो, (१३) असंविभागी हो अर्थात् साधर्मिकों को आमन्त्रित किये विना ही खान-पान को अकेला ही भोगनेवाला हो और (१४) अप्रीतिकारक हो।

विवत्ती अविणीअस्स, संपत्ती विणिअस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥२०॥

[दश० अ० ९, उ० २, गा० २१]

अविनयी के ज्ञानादिगुण नष्ट हो जाते हैं और विनयी को ज्ञानादिगुणो की सम्प्राप्ति होती है। इन दो वातो को जिसने बराबर जान लिया है, वही सच्ची शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥२१॥

[उत्त० अ० ११, गा० ३]

(१) अभिमान, (२) क्रोध, (३) प्रमाद, (४) रोग और (५) आलस्य इन पाँच कारणो से शिक्षा की प्राप्ति नही होती।

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीलि त्ति वुच्चई।
अहस्सिरे सया दन्ते, न य मम्ममुदाहरे ॥२२॥
नासीले न विसीले वि, न सिया अइलोलुए।
अकोहणं सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥२३॥

[उत्त० अ० ११, गा० ४-५]

निम्नाकित आठ कारणो से साधु शिक्षाशील कहलाता है :—
(१) वह बार-बार हँसनेवाला न हो, (२) निरन्तर इन्द्रियों को वश मे रखनेवाला हो, (३) दूसरो के मर्म को कहनेवाला न हो, (४) शीलरहित न हो, (५) शीलको पुनः पुनः अतिचार लगानेवाला न हो, (६) खाने-पीने मे लोलुप न हो, (७) शान्तवृत्तिवाला हो और (८) सत्यपरायण हो।

मणोगयं वक्कगयं, जाणित्तायरियस्स उ।
त्तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ॥२४॥

[उत्त० अ० १, गा० ४३]

विनीत शिष्य आचार्य के मनोगत-भावों को जानकर अथवा उनके वचन सुनकर अपने वचनो द्वारा उनको स्वीकृत करे और कार्य द्वारा उसका आचरण करे।

वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइं कुव्वई सया ॥२५॥
[उत्त० अ० १, गा० ४४]

विनीत शिष्य गुरु द्वारा प्रेरणा दिये विना भी कार्य में सदा प्रवृत्त रहता है और गुरु द्वारा व्यवस्थित रूप से प्रेरित किया गया हो तो वह कार्य शीघ्र सम्पादित करता है। अधिक क्या ? गुरु के उपदेशानुसार वह सभी कार्य उत्तम प्रकार से करता है।

न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जेज्जा, जच्चा तवस्सि बुद्धिए ॥२६॥
[दश० अ० ८, गा० ३०]

विनीत शिष्य किसी भी व्यक्ति का तिरस्कार न करे और न आत्म-प्रशंसा ही करे। इस तरह वह शास्त्रज्ञान, जाति, तप अथवा बुद्धि का अभिमान भी न करे।

भासमाणो न भासेज्जा, णेव वंफेज्ज मम्मयं।
मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुचिन्तिय वियागरे ॥२७॥
[सू० श्रु० १, अ० ९, गा० २५]

वह (विनीत शिष्य) दूसरे जब बोलते हों तब बीच में न बोले,

मर्मभेदी (दिल को बुरी लगे ऐसी) बात न करे, मायावी वचनो का त्याग करे और जो बोले वह खूब सोच-समझ कर विचार पूर्वक बोले।

निस्सन्ते सिया अमुहरी, बुद्धाणमन्तिए सया।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ॥२८॥

[उत्त० अ० १, गा० ८]

वह सदा शान्त रहे, असम्बद्ध बाते न करे, ज्ञानियो के निकट रहकर सदा अर्थयुक्त परमार्थसाधक बातो को ग्रहण करे और निरर्थक बातो को छोड दे।

अणुसासियो न कुपिपज्जा, खंतिं सेवेज्ज पंडिए।
खुड्डेहि सह संसग्गि, हासं कीडं च वज्जए ॥२९॥

[उत्त० अ० १, गा० ९]

गुरु के अनुशासन करने पर क्रोध न करे अपितु क्षमावान् बना रहे और दुराचारियो की सगति, हास्य तथा क्रीडा का वर्जन करे।

मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जित्ता, तओ झाइज्ज एगगो ॥३०॥

[उत्त० अ० १, गा० १०]

वह क्रोधादि के वशीभूत हो असत्य न बोले, साथ ही अधिक भी न बोले, किन्तु कालानुसार शास्त्रो का अध्ययन करे और एकाग्र होकर उन पर चिन्तन-मनन किया करे।

मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो।
कसं व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए ॥३१॥

[उत्त० अ० १, गा० १२]

जैसे अडियल घोड़ा वार-वार चावुक की अपेक्षा रखता है, वैसे ही विनीत शिष्य वार-वार अनुशासन की अपेक्षा न रखे। जिस तरह सीधा घोड़ा चावुक को देखते ही कुमार्ग को छोड़ देता है, वैसे ही विनीत शिष्य भी गुरुजनों की दृष्टि आदि का संकेत पाकर दुष्ट मार्ग को छोड़ दे।

ना पुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं ॥३२॥

[उत्त० अ० १, गा० १४]

विनीत शिष्य विना पूछे कुछ भी न वोले और पूछे जाने पर असत्य न वोले। वह क्रोध को निष्फल वना दे और प्रिय-अप्रिय-को समभाव से ग्रहण करे।

न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे नो पडिस्सुणे ॥३३॥

[उत्त० अ० १, गा० १८]

विनीत शिष्य आचार्य की पंक्ति मे न वैठे, उनसे आगे भी न वैठे, उनके पीठ पीछे भी न वैठे और वह इतना निकट भी न वैठे कि उनकी जाँघ से जाँघ मिल जाय। यदि गुरु ने किसी कार्य का आदेश दिया हो तो वह शय्या पर सोते-सोते अथवा वैठे-वैठे न सुने। तात्पर्य यह कि खड़ा होकर तथा उनके पास जा कर विनय-पूर्वक सुने।

हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए ।
अल्लीणगुत्तो निसीए, सगासे गुरुणो मुणी ॥३४॥

[दश० अ० ८, गा० ४५]

जितेन्द्रिय मुनि गुरु के समक्ष हाथ, पैर और शरीर को यथा-वस्थित रखकर तथा अपनी चपल इन्द्रियो को वश मे रखकर (बहुत दूर भी नही और पास भी नही इस प्रकार) बैठे ।

नीयं सिज्जं गइं ठाणं, नीयं च आसणाणि य ।
नीयं च पाए वंदिज्जा, नीयं कुज्जाय अंजलिं ॥३५॥

[दश० अ० ६, उ० २, गा० १७]

विनीत शिष्य अपनी शय्या, अपनी गति, अपना स्थान और अपना आसन गुरु से नीचा रखे, वह नीचा झुककर गुरु के चरणों की वन्दना करे और कार्य उपस्थित होने पर नीचे झुककर ही अजलि करे ।

आसणे उवचिट्ठेज्जा, अणुच्चे अकुए थिरे ।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई, निसीएज्जप्पकुक्कुए ॥३६॥

[उत्त० अ० १, गा० ३०]

शिष्य ऐसे आसन पर बैठे कि जो गुरु से ऊँचा न हो, आवाज करनेवाला न हो और स्थिर हो । ऐसे आसन पर बैठने के पश्चात् वह बिना प्रयोजन उठे नही और यदि प्रयोजन हो तो भी बार-बार उठे नही । वह भोहे, हाथ अथवा पैरों से किसी प्रकार की चेष्टा किये बिना ही शान्ति से बैठे ।

नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिंडं च संजए।
पाए पसारिए वावि, न चिट्ठे गुरुणन्तिए ॥३७॥

[उत्त० अ० १, गा० १९]

शिष्य गुरु के समक्ष पाँव पर पाँव चढाकर, छाती से घुटने सटा कर, एवं पैर फैला कर न वैठे।

आयरिएहिं वाहित्तो, तुसिणीओ न कयाइ वि।
पसायपेहि नियागट्ठी, उवचिट्ठे गुरुं सया ॥३८॥

[उत्त० अ० १, गा० २०]

आचार्यों द्वारा वुलाये जाने पर शिष्य कभी मौन का अवलम्वन न करे, वल्कि गुरुकृपा और मोक्ष का अभिलाषी ऐसा शिष्य उनके समीप विनय से जाए।

आलवंते लवंते वा, न निसीएज्ज कयाइ वि।
चइऊणमासणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे ॥३९॥

[उत्त० अ० १, गा० २१]

गुरु एक वार आवाज दें अथवा वार-वार आवाज दें, किन्तु वुद्धिमान् साधु कभी भी अपने आसन पर वैठा न रहे। वह अपना आसन छोडकर यतनापूर्वक गुरु के निकट जाए और उन्हे क्या कहना है, वह विनयपूर्वक सुने।

आसणगओ न पुच्छेज्जा,
नेव सेज्जागओ कया।

आगम्मुक्कुडुओ संतो,

पुच्छेज्जा पंजलीउडो ॥४०॥

[उत्त० अ० १, गा० २२]

गुरु महाराज से यदि कुछ पूछना हो तो शिष्य अपने आसन अथवा शय्या पर बैठा-बैठा कभी नही पूछे, अपितु गुरु के समीप जाकर और उनके पास उकडू बैठ कर और दोनो हाथ जोडकर पूछे।

जं मे बुद्धाणुसासन्ति, सीएण फरुसेण वा ।

मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥४१॥

[उत्त० अ० १, गा० २७]

गुरु महाराज कोमल अथवा कठोर शब्दो मे मुझे जो कुछ शिक्षा देते है, उसमे मेरी ही भलाई छिपी हुई है—मुझे ही लाभ है, ऐसा विचार कर शिष्य उसे अत्यधिक सावधानी से ग्रहण करे।

अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं ।

हियं तं मण्णई पण्णो, वेस्सं होइ असाहुणो ॥४२॥

[उत्त० अ० १, गा० २८]

प्रज्ञावान् साधु सदा ऐसा मानता है कि गुरु महाराज (मधुर अथवा कटु शब्दो से) मुझे जो कुछ अनुशासित करते है, वह सब आत्मोन्नति के उपाय-स्वरूप ही है और मेरे दुष्कृतो का नाश करनेवाला है। परन्तु जो असाधु है उसके लिये यही अनुशासन द्वेष का कारण बनता है। आशय यह है कि गुरुमहाराज द्वारा हितबुद्धि से दिया गया उपालम्भ या कहे गये दो-चार कटु शब्दो को सुनकर

जो साधु रोष करता है अथवा गुरु के प्रति अनादर व्यक्त करता है, वह वास्तव में साधु नहीं है।

हियं विगयभया बुद्धा, फरुसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं, खंतिसोहिकरं पयं ॥४३॥

[उत्त० अ० १, गा० २९]

निर्भय और तत्त्वज्ञ शिष्य गुरुजनों के कठोर अनुशासन को भी अपने लिए परम हितकारी मानते हैं, जब कि मूढ अज्ञानी शिष्यों के लिये क्षमा और आत्म-शुद्धिकर वह शिक्षापद द्वेष का कारण बन जाता है।

न कोवए आयरियं, अप्पाणं पि न कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए ॥४४॥

[दश० अ० १, गा० ४०]

विनीत शिष्य आचार्य पर कदापि क्रोध न करे। वैसे ही अपनी आत्मा पर भी क्रोध न करे। न ही वह तत्त्ववेत्ताओं का उपघात करे और उनके छिद्र खोजे।

आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंजलीउडो, वएज्ज न पुणुत्ति य ॥४५॥

[उत्त० अ० १, गा० ४१]

विनीत शिष्य आचार्य को कुपित जानकर प्रीतिकारक वचनों से प्रसन्न करे और हाथ जोड़कर यों कहे—'फिर से ऐसा अपराध कभी न करूँगा।'

जे य चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीअप्पा, कट्ठं सोअगयं जहा ॥४६॥

[दश० अ० ६, उ० २, गा० ३]

जो आत्मा क्रोधी, अज्ञानी, अहकारी, सदा कटु बोलनेवाला, मायावी और धूर्त होता है, उसे अविनीत समझना चाहिये। वह पानी के वहाव मे गिरी हुई लकडी की तरह संसार के बहाव मे बह जाता है।

स देवगान्धव्वमणुस्सपूइए, चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥४७॥

[उत्त० अ० १, गा० ४८]

देव, गन्धर्व और मनुष्यो से पूजित ऐसा वह विनीत शिष्य मल-मूत्रादि से युक्त ऐसे इस शरीर को त्याग कर सिद्ध और शाश्वत बनता है, अथवा अल्पकर्म बाकी रहने पर महान् ऋद्धिशाली देव बनता है।

धारा . ३४ :

कुशिष्य

वहणे वहमाणस्स, कन्तारं अइवत्तई।
जोए वहमाणस्स, संसारो अइवत्तई ॥१॥

जैसे गाडी मे सधे हुए बैलो को जोतने से वे सरलता से वन-प्रातर को पार कर जाते हैं, वैसे ही सुशिष्यो को योग-सयम रूपी वाहन मे जोजने से वे भी ससाररूपी अरण्य को सुखपूर्वक पार कर जाते हैं।

खलुंके जो उ जोएइ, विहम्माणो किलिस्सई।
असमाहिं च वेएइ, तोत्तओ से य भज्जई ॥२॥

जो पुरुष वाहन मे अडियल बैलो को जोतता है, वह उन्हें पीटते-पीटते हैरान हो जाता है, विषाद का अनुभव करता है और उसका कोड़ा भी टूट जाता है।

एगं डसइ पुच्छम्मि, एगं विन्धइऽभिक्खणं।
एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पहपट्ठिओ ॥३॥

जब वे दुष्ट बैल वाहक की इच्छा के अनुसार गमन नही करते तब वह क्रोध मे आकर एक की पूंछ मरोडता है तो दूसरे को बार-बार आर लगाता है। तब एक बैल जुए को तोड डालता है और दूसरा इधर-उधर जाता है।

एगो पडइ पासेणं, निवेसइ निवज्जई ।
उक्कुद्दई उप्फिडई, सढे बालगवी वए ॥४॥

कोई अडियल बैल एक तरफ भूमि पर गिर पडता है, कोई बैठ जाता है, कोई सो जाता है, कोई उछलता है, कोई कूदता है, तो कोई तरुण गाय के पीछे भागने लग जाता है ।

माई मुद्धेण पडई, कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं ।
मयलक्खेण चिट्ठई, वेगेण य पहावई ॥५॥

कोई कपट कर सिर झुकाकर गिर पडता है, कोई गुस्से हो पीछे भागने लगता है, कोई मृत लक्षण से खडा रहता है, तो कोई पूंछ उठाकर बेग से भागता है ।

छिन्नाले छिन्दई सेल्लिं, दुद्दन्ते भज्जइ जुगं ।
सेवि य सुस्सुयाइत्ता, उज्जहित्ता पलायई ॥६॥

कोई अडियल बैल नासिका-रज्जु (नथ) को तोड देता है, कोई निरकुश बनकर जुए को तोड डालता है, तो कोई सूं-सूं की आवाज निकालता गाडी को ले भाग जाता है ।

खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा ।
जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जन्ती धिइदुब्बला ॥७॥

ऐसे अडियल बैलो को गाडी मे जोडने पर जो स्थिति होती है, वही स्थिति धर्मरूपी वाहन मे कुशिष्यो को जोतने से होती है ।

धर्मरूपी वाहन मे नियोजित किये गये कुशिष्य दुर्बल धृतिवाले होने से भली भाँति प्रवृत्ति नही करते।

इड्ढीगारविए एगे, एगेऽथ रसगारवे।
सायागारविए एगे, एगे सुचिरकोहणे ॥८॥

कुशिष्यों मे से कोई ऋद्धिगारव मे, कोई रसगारव मे, तो कोई सातागारव मे निमग्न होते हैं इसी तरह कोई तो दीर्घकाल तक क्रोध को धारण करनेवाले भी होते हैं।

विवेचन—गृहस्थ अपनी ऋद्धि—सम्पत्ति का अभिमान करे तो ऋद्धिगारव कहलाता है। साधु अपने भक्तमण्डल अथवा शिष्यमण्डल का अभिमान करे तो ऋद्धिगारव कहलाता है। गृहस्थ प्राप्त सुन्दर भोजन का अभिमान करे तो वह रसगारव कहलाता है और साधु प्राप्त इच्छानुसारी भिक्षा का अभिमान करेतो वह रसगारव कहलाता है। गृहस्थ अपनी सुख-सुविधा का अभिमान करे तो वह सातागारव कहलाता है और साधु 'मुझे जैसा आनन्द किसी को नही है' ऐसा अभिमान करे तो वह सातागारव कहलाता है।

भिक्खालसिए एगे, एगे ओमाणभीरुए।
थद्धे एगेऽणुसासम्मि, हेऊहिं कारणेहि य ॥९॥

कोई भिक्षाचरी मे आलस्य करता है, तो कोई अपमान से डरता है। कोई जाने योग्य घरों मे जाता नही। कुछ मिथ्याभिमान से ऐसे अक्कड हो जाते हैं कि किसी को वंदन करने के लिए ही तैयार नही। ऐसे हेतु और विविध कारणों के वशीभूत कुशिष्यों को मैं कैसे

अनुशासन मे रखूँ ? ऐसा विचार आचार्य को खेदपूर्वक करना पड़ता है।

सो वि अंतरभासिल्लो, दोसमेव पकुव्वई।
आयरियाणं तु वयणं, पडिकूलेइऽभिक्खणं ॥१०॥

कुशिष्य बीच मे बोल उठता है, अपने गुरु अथवा अन्य साधुओ पर मिथ्या दोषारोपण करता है और आचार्य के वचनो के विपरीत बार-बार व्यवहार करता है।

न सा ममं वियाणाइ, न सा मज्झ दाहिई।
निग्गया होहिई मन्ने, साहू अन्नोऽत्थ वज्जउ ॥११॥

(भिक्षा के लिये जाने का आदेश देने पर प्रत्युत्तर मे कुशिष्य कहता है कि) वह श्राविका मुझे नही पहचानती, वह मुझे आहार नही देगी, मैं मानता हूँ कि वह घर भी नही होगी। अच्छा हो कि आप अन्य साधु को ही भेज दे।

पेसिया पलिउंचन्ति, ते परियन्ति समंतओ।
रायवेट्ठिं व मन्नंता, करेन्ति भिउडिं मुहे ॥१२॥

कुशिष्य जिस कार्य के लिये भेजे गये हो वह कार्य करते नही और आकर मनगढन्त उत्तर दे देते हैं। वे इधर-उधर भटकते रहते है किन्तु गुरु के पास बैठते नही। कभी-कभी कार्य करते भी है तो राजा की बेगारी के समान करते हैं और मुंह बिगाड़ते है।

वाइया संगहिया चेव, भत्तपाणेण पोसिया ।
जायपक्खा जहा हंसा, पक्कमंति दिसो दिसिं ॥१३॥

अह सारही विचिंतेइ, खलुंकेहि समागओ ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं, अप्पा मे अवसीयई ॥१४॥

ऐसे प्रसंग पर धर्मरथ के सारथि स्वरूप आचार्य विचार करते हैं कि मैंने इनको शास्त्र पढाये, अपने पास रखा, आहार-पानी से इनका पोषण किया। किन्तु जिस तरह हंसों के पंख फूटने पर वे अलग-अलग दिशाओं मे उड़ जाते हैं, उसी तरह सब भी स्वेच्छानुसारी आचरण करनेवाले बन गये हैं। मुझे भला इन दुष्ट शिष्यों से क्या प्रयोजन है ? मेरी आत्मा व्यर्थ ही खिन्न होती है।

जारिसा मम सीसा उ, तारिसा गलिगद्दहा ।
गलिगद्दहे जहित्ताणं, दढं पगिण्हई तवं ॥१५॥

[उत्त० अ० २७, गा० २ से १६]

जैसे गधे आलसी और अड़ियल होते हैं, वैसे मेरे शिष्य हैं। इन आलसी और अड़ियल गधों जैसे शिष्यों को छोड़कर मैं उग्र तप का आचरण क्यों न करूँ ? तात्पर्य यह है कि मोक्षाभिलाषी आचार्य को ऐसे कुशिष्यों का त्याग करके अपना कल्याण साध लेना चाहिये।

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए ।
बालं सम्मइ सासन्तो, गलियस्सं व वाहए ॥१६॥

[उत्त० अ० १, गा० ३७]

सीधे-साधे घोडे पर सवारी करनेवाला सवार जिस तरह आनन्द पाता है, वैसे ही पण्डितों पर अनुशासन रखनेवाला आचार्य आनन्दित होता हैं। जैसे अडियल घोड़े पर सवारी करनेवाला सवार कष्ट भोगता है, वैसे ही मूर्ख शिष्यो पर अनुशासन रखनेवाला आचार्य कष्ट का भागी बनता है।

दुःशील

चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडिमुंडिणं ।
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ॥१॥

[उत्त० अ० ५, गा० २१]

चीवर, मृगचर्म, नग्नत्व, जटा, सघाटिका (बौद्ध साधुओ के ओढ़ने का उत्तरीय वस्त्र) और सिर का मुण्डन आदि किसी भी दुःशील को दुर्गति से बचा नही सकते । तात्पर्य यह है कि बाह्य दृश्य (लिङ्ग) कितना भी अच्छा क्यों न हो ? किन्तु शील उत्तम हो तभी वह पुरुष सद्गति प्राप्त कर सकता है ।

जहा सुणी पुइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो ।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥२॥

[उत्त० अ० १, गा० ४]

जैसे सडे हुए कानवाली कुतिया सब स्थानो से निकाल दी जाती है, वैसे ही दुःशील और गुरुजनों के प्रति वैर रखनेवाला, असम्वद्ध प्रलापी मनुष्य सब स्थानों से निकाल दिया जाता है ।

कणकुण्डगं चइत्ता णं, विट्ठं भुंजइ सूयरे ।
एवं सीलं चइत्ता णं, दुस्सीलं रमई मिए ॥३॥

[उत्त० अ० १, गा० ५]

जैसे सूअर अनाज को तजकर विष्ठा खाता है, वैसे ही मूर्ख मनुष्य सदाचार का त्याग कर दुराचार मे प्रवृत्त होता है ।

सुणिया भावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य ।
विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो ॥४॥

[उत्त० अ० १, गा० ६]

कुतिया और सूअर के साथ अविनयी मनुष्य की तुलना होती देखकर निजहित चाहनेवाला व्यक्ति अपनी आत्मा को विनय और सदाचार मे प्रस्थापित करे ।

जविणो मिगा जहा संता, परिताणेण वज्जिया ।
असंकियाइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥५॥
परियाणियाणि संकंता, पासियाणि असंकिणो ।
अन्नाणभयसंविग्गा, संपलिंति तहिं तहिं ॥६॥
अह तं पवेज्ज वज्झं, अहे वज्झस्स वा वए ।
मुच्चेज्ज पयपासाओ, तं तु मंदेण देहए ॥७॥
अहिअप्पाऽहियप्पन्नाणे, विसमंतेणुवागए ।
स बद्धे पयपासेणं, तत्थ घायं नियच्छइ ॥८॥

[सू० श्रु० १, अ० १, उ० २, गा० ६ से० ९]

रक्षण-रहित वन्य पशु निःशङ्क (सुरक्षित) स्थान मे शङ्कित रहते हैं और शङ्कित (भयग्रस्त) स्थान मे निःशङ्क रहते हैं। इस तरह सुरक्षित स्थान मे शङ्का करते हुए तथा पाशवाले स्थान मे शङ्कारहित बनकर वे अज्ञानी और भयग्रस्त जीव पाशयुक्त स्थान मे फँस जाते हैं। यदि ये पशु सभी प्रकार के बन्धनो को लाँघ कर अथवा उसके नीचे से निकल जाय तो बन्धनों से मुक्त हो सकते है। किन्तु मूर्ख पशुओ को यह बात दिखाई नही देती—समझ मे नही आती। फलतः अपना हित न जाननेवाले ये पशु भयङ्कर पाश-वाले प्रदेश मे पहुँच कर पैरों से पाश मे फँस जाते हैं और वहीं वध कर दिये जाते हैं।

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
असकियाइं संकंति, सकियाइं असंकिणो ॥९॥
धम्मपन्नवणा जा सा, तं तु संकंति मूढगा।
आरंभाइं न संकंति, अवियत्ता अकोविया ॥१०॥
सव्वप्पगं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिया।
अप्पत्तियं अकम्मंसे, एयमट्ठं मिगे चुए ॥११॥
जे एयं नाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
मिगा वा पासबद्धा ते, घायमेसंति णंतसो ॥१२॥

[सू० श्रु० १, अ० १, उ० २, गा० १० से० १२]

इस प्रकार कुछ श्रमण जो कि मिथ्यादृष्टि और अनार्य हैं, वे शङ्कारहित स्थानों मे शङ्का करते हैं और शङ्कित स्थान मे अश-

ङ्कित बने रहते है। और ऐसे ही ये मूढ जो सच्ची धर्म-प्ररूपणा है, उसमें शङ्का करते हैं और आरम्भ-समारम्भ के कार्यों मे निःशङ्क बने रहते है।

लोभ, मान, माया और क्रोध का परित्याग कर मनुष्य कर्मरहित बन सकता है, किन्तु अज्ञानी-मूर्ख मनुष्य इस बात को छोड देता है।

जो बन्धन-मुक्ति के उपायो को कतइ नही जानते, ऐसे मिथ्या-दृष्टि अनार्य लोग इसी तरह पाशबद्ध पशुओ के समान अनन्त बार घात को प्राप्त होते हैं।

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहिं आयरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छइ ॥१३॥

[उत्त० अ० १, गा० ४२]

जो व्यवहार धर्म-सम्मत है और जिसका ज्ञानी पुरुषो ने भी सदा आचरण किया है, उस व्यवहार का आचरण करनेवाला मनुष्य कभी भी निन्दा का पात्र नही होता।

अमणुन्नसमुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया।
समुप्पायमजाणंता, कहं नायंति संवरं ॥१४॥

[सू० श्रु० १, अ० १, उ० ३, गा० १०]

अशुभ अनुष्ठान करने से दुःख की उत्पत्ति होती है। जो मनुष्य दुःख की उत्पत्ति का कारण नही जानते, वे भला दुःख के विनाश का उपाय किस प्रकार जान सकते हैं?

काम-भोग

अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा ।
ते पच्छा परितप्पन्ति, खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥१॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० ४, गा० १४]

असत्कर्म से भविष्य मे होनेवाले दुःखो की ओर न देखते हुए जो केवल वर्तमान सुखो को ढूंढते हैं, अर्थात् कामभोग मे मग्न रहते हैं, वे यौवन और आयु के क्षीण होने पर पश्चात्ताप करते हैं।

जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा काय-वक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥ २ ॥

[उत्त० अ० ६, गा०१२]

जो कोई मनुष्य शरीर के प्रति ही आसक्त है और मन, काया तथा वचन से केवल रूप और रग मे पूरी तरह सराबोर रहते हैं, वे सब दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं ।

जे इह सायाणुगा नरा,
अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया ।

किवणेण समं पगब्भिया,
न वि जाणंति समाहिमाहितं ॥ ३ ॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० ३, गा० ४]

जो मनुष्य इस जगत् मे पूर्वजन्म के सुकृत्यो के फलस्वरूप सुख-वैभव को प्राप्त किये हुए हैं, और काय-भोग मे आसक्त होकर विलासी जीवन विताते है, वे कृपण की तरह धर्माचरण मे शिथिलता प्रदर्शित करते है और ज्ञानी पुरुपो द्वारा कथित समाधि-मार्ग को नही जानते।

भोगामिसदोसविसन्ने,
हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मंदिए मूढे,
बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ॥४॥

[उत्त० अ० ७, गा० ५]

भोगरूपी मास-दोष मे लुब्ध, हित और मोक्ष मे विपरीत बुद्धि रखनेवाला अज्ञानी, मन्द और मूर्ख जीव कर्मपाश मे इस प्रकार फँस जाता है, जिस प्रकार मक्खी बलगम मे।

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥ ५ ॥

[उत्त० अ० २५, गा० ३६]

भोग मे फंसा हुआ मनुष्य कर्म से लिप्त होता है, अभोगी कर्म से

लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में परिभ्रमण करता है और अभोगी संसार से मुक्त हो जाता है।

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई॥६॥

एवं लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्कगोलए॥७॥

[उ० अ० २५, गा० ४२-४३]

गीला और सूखा ऐसे मिट्टी के दो गोलो को यदि हम किसी दीवार पर फेंके तो उनमे से जो गीला होता है वह दीवार पर चिपक जाता है और सूखा चिपकता नही। ठीक उसी तरह जो मनुष्य काम-भोग मे आसक्त है और दुष्ट बुद्धिवाला है, वह सासारिक बन्धनो में फंस जाता है और जो कामभोग से विरक्त है, वह सासारिक बन्धनों मे फँसता नही।

गिद्धोवमा उ नच्चाणं, कामे संसारवड्ढणे।
उरगो सुवण्णपासे व्व, संकमाणो तणुं चरे॥ ८ ॥

[उ० अ० १४, गा० ४७]

गीध पक्षी की उपमावाले और संसार को बढानेवाले इन काम-भोगों को जानकर जैसे साँप गरुड़ के समीप शकाशील होकर चलता है, उसी प्रकार तू भी संयममार्ग मे यत्न से चल।

जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खु दिट्ठा इमा रई ॥ ९॥

[उ० अ० ५, गा० ५]

जो कोई जीव काम-भोग मे आसक्त होता है, वह नरक मे जाता है। वह ऐसा विचार करता है कि मैने परलोक तो देखा नही, और यहाँ का सुख तो मुझे प्रत्यक्ष दीखता है।

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥१०॥
जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भई।
कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई ॥ ११ ॥

[उ० अ० ५, गा०६-७]

ये काम-भोग तो हाथ मे आये हुए है, जबकि भविष्य मे मिलने-वाला सुख तो परोक्ष है। और भला कौन जानता है कि परलोक का अस्तित्व है या नही ?

'जो स्थिति दूसरों की होगी, वही मेरी भी होगी।' ऐसा अज्ञानी जीव बोलता है। परन्तु वह काम-भोग के अनुराग से क्लेश पाता है।

तओ से दंडं समारभई, तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयगामं विहिंसई ॥ १२ ॥

[उ० अ० ५, गा० ८]

बाद मे वह त्रस और स्थावर जीवो मे दड का आरम्भ करता है। किसी प्रकार का प्रयोजन सिद्ध होता हो या नही, फिर भी वह भोगी प्राणिसमूह की विविध प्रकार से हिंसा किया ही करता है।

हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई ॥१३॥

[उ० अ० ५, गा० ९]

अज्ञानी जीव हिंसा, असत्य, कपट, चुगली, धूर्तता आदि के सेवन करने लगता है। वह मदिरा और मास खानेवाला बनता है और उनको ही श्रेयस्कर मानता है।

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणई, सिसुनागो व्व मट्टियं ॥१४॥

[उ० अ० ५, गा० १०]

धन और स्त्रियो मे आसक्त बना हुआ भोगी पुरुष काया से मदमत्त बन जाता है और उसके वचनों मे भी मिथ्याभिमान की झलक आ जाती है। वह केंचुआ की भाँति बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार से मल का सचय करता है।

विवेचन —केंचुआ का आहार ही मिट्टी है, अतः वह पेट मे मिट्टी भरता है और बाहर भी मिट्टी से सना रहता है। इसी तरह भोगी पुरुष भी आन्तरिक रूप मे मलिन कर्मो का सञ्चय करता है, और बाह्य रूप से भी अपवित्र बनता है।

तओ पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पई ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥१५॥

[उत्त० अ० ५, गा० ११]

फिर भयानक रोगो से पीड़ित होकर अनेकविध दुःखो को भोगता है। तथा परलोक से बहुत ही डरकर—भयभीत बन अपने दुष्कर्मो के लिये निरतर पश्चात्ताप करता है।

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोपमा।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं ॥१६॥

[उत्त० अ० ९, गा० ५३]

कामभोग शल्यरूप है, कामभोग विष के समान है और कामभोग भयङ्कर सर्प जैसे है। जो कामभोगो की इच्छा करता है, वह उसे प्राप्त किये बिना ही दुर्गति मे जाता है।

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥१७॥

[उत्त० अ० १४, गा० १३]

कामभोग क्षणमात्र सुख देनेवाले है और दीर्घकाल तक दुःख देनेवाले है। कामभोगो के लिये उपयुक्त सामग्री उपलब्ध करने के लिये बहुत ही कष्ट उठाना पडता है, जबकि सुख तो नाममात्र का ही

मिलता है। फिर ससार से छूटने के लिये जो उपाय हैं, उनके ये प्रतिपक्षी हैं—पक्के विरोधी हैं और अनर्थ की खान हैं।

जहा किंपागफलाण, परिणामो न सुंदरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुंदरो ॥१८॥

[उत्त० अ० १९, गा० १७]

जैसे किंपाक फल खाने का परिणाम अच्छा नही होता, वैसे ही परिभुक्त भोगो का परिणाम भी अच्छा नही होता।

विवेचन—किंपाक फल दीखने में सुन्दर और स्वाद मे मीठा होता है, किन्तु उसके खाते ही जहर चढने लगता है और शीघ्र ही प्राण निकल जाते हैं।

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे ॥१९॥

[उत्त० अ० ३२, गा० २०]

जिस तरह किंपाक फल स्वादु और वर्ण से मनोहर होते हैं, किन्तु उसके खाते ही प्राण का विनाश हो जाता है, ठीक ऐसा ही काम-भोग का विपाक समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि कामभोग प्रथम क्षण मे मनोहर लगते हैं, किन्तु भोगने के पश्चात् अत्यन्त दुःखप्रद सिद्ध होते हैं।

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥२०॥

[उत्त० अ० १३ गा० १६]

(कामवासना का पोषण करनेवाले तथा बढानेवाले) सभी गीत विलाप तुल्य हैं, सभी नृत्य बिडम्बना के समान है और सर्व आभूषण भाररूप है। इसी तरह सर्वप्रकार के काम-भोग अन्त मे दुःख को ही लानेवाले हैं।

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥२१॥

[उत्त० अ० १३, गा० ३१]

समय बहता जाता है, रात्रियाँ व्यतीत होती जाती है और पुरुषों के कामभोग भी नित्य नही हैं। जैसे पक्षी फलहीन वृक्षों को छोड़ देते है, वैसे ही कामभोग भी क्षीण शक्तिवाले पुरुषों के पास आकर उनको छोड़ देते हैं।

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियन्तं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असवुडा ॥२२॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० १, गा० १०]

हे मनुष्य ! तू जीवन को शीघ्रगामी मानकर पापकर्मों से विरत

हो जा। जो मनुष्य असयमी वनकर काम-मूर्च्छित हो जाते हैं, वे मोह को प्राप्त होते हैं अर्थात् हिताहित का विवेक करने मे शक्तिमान् नही वनते।

अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणिअट्टेज्ज भोगेसु, आउं परिमिअमप्पणो ॥२३॥

[दश० अ० ८, गा० ३४]

मनुष्य की आयु परिमित (अल्प) है; और प्राप्त जीवन क्षण-भंगुर है। मात्र सिद्धिमार्ग ही नित्य है, ऐसा मानकर भोगों से निवृत्त होना चाहिये।

संबुज्झह ! किं न वुज्झह ?
संबोहि खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमन्ति राइओ,
नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥२४॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० १ गा० १]

हे लोगो ! तुम समझो। इतना क्यो नही समझते कि परलोक मे सम्वोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। जो रात्रियाँ वीत जाती हैं, वे पुनः लौट नही आती और मनुष्य का जीवन भी पुनः प्राप्त होना सुलभ नही है। साराश यह है कि काम-भोग का परित्याग करके इस जीवन मे जितना वन सके उतना आत्म-कल्याण कर लो।

इह जीवियमेव पासहा,
तरुणे वाससयस्स तुट्टई।

इत्तरवासे य बुज्झह,

गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ॥२५॥

[सू० श्रु० १, अ०, उ० ३२, गा० ८]

इस ससार में तू जीवन को ही देख। उसे ही भली-भाँति परख। वह तरुणावस्था मे अथवा सौ वर्ष की आयु मे ही टूट जाता है। यहाँ तेरा कितना क्षणिक निवास है, इसे तू अच्छी तरह समझ। आश्चर्य है कि आयु का विश्वास न होने पर भी मनुष्य कामभोग मे आसक्त रहते है।

इह कामाणियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झई।

सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई ॥२६॥

[उत्त० अ० ७, गा० २५]

इस ससार मे कामभोग से निवृत्त न होनेवाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है। मोक्षमार्ग को सुनकर भी वह पुनः पुनः भ्रष्ट हो जाता है।

वाहेण जहा व विच्छए, अबले होइ गवं पचोइए।

से अन्तसो अप्पथामए, नाइवहे अवले विसीयइ ॥२७॥

एवं कामेसणं विऊ, अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं।

कामी कामे ण कामए, लद्धे वा वि अलद्ध कण्हुई ॥२८॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० ३, गा० ५-६]

जैसे वाहक द्वारा पीडा पहुँचाकर चलाया गया वैल थक जाता है और मार खाने पर भी निर्वल होने के कारण चल नही सकता और

वह अन्त मे कष्ट का अनुभव करता है, वैसे ही क्षीण मनोबलवाला अविवेकी पुरुष सद्बोध प्राप्त होने पर भी कामभोगरूपी कीचड से बाहर नही निकल पाता। वह प्रायः ऐसे ही विचार करता रहता है कि 'मैं आज अथवा कल कामभोगों को छोड़ दूंगा'। सुख की इच्छा रखनेवाला पुरुष कामभोग की कामना कदापि न करे और प्राप्त भोगों को भी अप्राप्त कर दे अर्थात् छोड दे।

दुप्परिच्चया इमे कामा,
नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह सन्ति सुव्वया साहू,
जे तरंति अतरं वणिया वा ॥२९॥

[उत्त० अ० ८, गा० ६]

कामभोगो का त्याग करना अत्यन्त कठिन है। निर्बल पुरुष इन्हे सरलता से नही छोड सकते। परन्तु जो सुव्रतो को धारण करनेवाले साधु पुरुष हैं, वे जहाज द्वारा व्यापार करनेवाले पुरुषों के समान कामवासना के दुस्तर समुद्र को पार कर जाते हैं।

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो ॥३०॥

[उत्त० अ० ३२, गा० १९]

देवलोक सहित अखिल विश्व में जो कोई शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, वे सब काम-भोग की आसक्ति मे से ही पैदा हुए है। एक-मात्र वीतराग ही उनका अन्त प्राप्त कर सकते है।

कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ, जूरइ, तिप्पइ, परितप्पइ ॥३१॥

[आ० श्रु० १, अ० २, उ० ५]

विषयो का लोलुपी यह पुरुष (विषयों के चले जाने पर) शोक करता है, विलाप करता है, लज्जा-मर्यादा छोड़ देता है और अत्यन्त पीडा का अनुभव करता है।

धारा : २७ :

प्रमाद

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं ।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥१॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० ३]

तीर्थङ्करादि महापुरुषों ने प्रमाद को कर्मोपादान का कारण वतलाया है और अप्रमाद को कर्मक्षय का । इसी कर्मोपादान और कर्म-क्षय के कारणवश ही मनुष्य को वाल और पडित कहा जाता है। साराश यह है कि जो प्रमाद के वशीभूत होकर कर्मोपादान करता है, वह वाल है—अज्ञानी है और जो अप्रमत्त वनकर कर्म का क्षय करता है, वह पण्डित है—ज्ञानी है ।

विवेचन—धर्माराधन में आलस्य और विषय-कषाय मे प्रवृत्ति इसे सामान्यतया प्रमाद कहा जाता है। इस प्रकार के प्रमाद का सेवन करते हुए कर्म का उपादान होता है, अर्थात् आत्मा को कर्म का वन्धन होता है और उससे आत्मा भारी वन जाती है। जवकि अप्रमत्त वनने से अर्थात् सदनुष्ठान का सेवन करने से कर्म का क्षय होता है और आत्मा हल्की वनती है। इसलिये मुज्ञ मनुष्य के लिए प्रमाद का त्याग करना ही उचित है ।

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,
इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं ।
त एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति त्ति कहं पमाए ॥२॥

[उत्त० अ० १४, गा० १५]

'यह मेरा है,' 'यह मेरा नही है,' 'यह मैने किया है', 'यह मैने नही किया ,' इस प्रकार सलाप करते हुए पुरुष का आयुष्य रात्रि और दिवसरूपी लुटेरे लूटा करते है, वहाँ प्रमाद कैसे किया जाय ?

असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते,
किण्णु विहिंसा अजया गहिन्ति ? ॥३॥

[उत्त० अ० ४, गा० १]

जीवन टूट जाने के बाद जुडता नही और जरावस्था के आ पहुँचने पर उससे बचकर नही रहा जा सकता । जो प्रमत्त है, अनेक प्रकार की हिसा करनेवाले हैं और सयम-विहीन है, वे भला अन्त समय मे किसकी शरण मे जाएंगे ?

जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा,
समाययन्ती असइं गहाय ।

पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ॥४॥
[उत्त० अ० ४, गा० २]

जो मनुष्य कुमति से पाप-कर्म करता हुआ धन सपादन करते हैं, वह विषय रूप पाश मे बंध जाता है। ऐसे मनुष्य सग्रह किये हुए धन को यहाँ पर छोड नरक में जाते हैं, क्योंकि उन्होने इस तरह धन सपादन करते हुए कई प्राणियों के साथ वैरानुबन्ध किया है।

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बन्धवा बन्धवयं उवेन्ति ॥५॥
[उत्त० अ० ४, गा० ४]

ससारी जीव अपने कुटुम्ब-परिवार के लिये कृषि, वाणिज्य आदि प्रवृत्तियाँ कर कर्म बाँधता है। पर जब वह कर्म का फल भोगने का समय आता है, तब बन्धुजन बन्धुता नही दिखलाते, अर्थात् उन कर्मो के फल का बँटवारा नही करवाते। अतः कर्मों का फल उस अकेले को ही भोगना पडता है।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥६॥
[उत्त० अ० ४, गा० ५]

प्रमादी पुरुष इस लोक मे अथवा परलोक मे कहीं भी धन के द्वारा अपना रक्षण नही कर सकता। अनन्त मोहवाले इस प्राणी का विवेकरूपी दीपक बुझ जाता है, अतः वह न्याय-मार्ग को देखते हुए भी नही देख कर कार्य करता रहता है। तात्पर्य यह कि वह न्याय-मार्ग मे प्रवृत्त नही होता।

सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पंडिए आसुपन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खीव चरेऽप्पमत्तो ॥७॥

[उत्त० अ० ४, गा० ६]

मोहनिद्रा मे गाढ सोये हुए मनुष्यो के बीच रहते हुए भी सदा जागृत बुद्धिमान् पण्डित प्रमाद का विश्वास न करे। अर्थात् वह प्रमादी न बने। काल भयकर है और शरीर निर्बल, ऐसा मानकर वह भारड पक्षी के समान अप्रमत्त बनकर विचरण करे।

छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं,
आसे जहा सिक्खियवम्मधारी।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्तो,
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥८॥

[उत्त० अ० ४, गा० ८]

जैसे सधा हुआ कवचधारी घोडा अपनी स्वच्छन्द वृत्ति को रोकने के पश्चात् ही विजयी होता है, वैसे ही मनुष्य भी अपनी स्वच्छन्द

प्रवृत्ति पर नियंत्रण पाने पर ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अप्रमत्त साधक को दीर्घकाल तक सयम का आचरण करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं,
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी,
आयाणुरक्खी चरेऽप्पमत्तो ॥९॥

[उत्त० अ० ४, गा० १०]

विवेक शीघ्र ही प्राप्त नही हो सकता। अतः आत्मानुरक्षी साधक काम-भोग का परित्याग कर और समभाव पूर्वक लोक का स्वरूप जान कर अप्रमत्त रूप से विचरण करे।

दुमपत्तए पंडुयए, जहा निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१०॥

[उत्त० अ० १०, गा० १]

रात्रि बीतने पर वृक्ष के पीले पत्ते झड जाते हैं, उसी तरह मनुष्य के जीवन का भी एक न एक दिन अन्त आता ही है; ऐसा समझ कर हे गौतम ! तू समय मात्र का प्रमाद मत कर।

विवेचन—काल के सूक्ष्मतम विभाग को समय कहते हैं। उसकी तुलना मे क्षण बहुत बडा काल है।

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए,
थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।

एवं   मणुयाण   जीवियं,

समयं गोयम ! मा पमायए ॥११॥

[उत्त० अ० १०, गा० २]

जैसे कुश के अग्रभाग पर स्थित ओस की बूंद गिरने की तैयारी मे रहती है और थोडे समय तक ही टिकती है, वैसे ही मनुष्य का जीवन भी नष्ट होने की स्थिति मे ही रहता है और अल्प समय तक ही स्थिर रहता है ; ऐसा मानकर हे गौतम ! तू समयमात्र का भी प्रमाद मत कर।

इइ   इत्तरियम्मि   आउए,

जीवियए   बहुपच्चवायए।

विहुणाहि   रयं   पुरे   कडं,

समयं गोयम ! मा पमायए ॥१२॥

[उत्त० अ० १०, गा० ३]

आयु थोड़ा है और जीवितव्य अनेकविध विघ्नों से भरा हुआ है, अतः पूर्व भव के कर्मों की रज दूर करने के लिये हे गौतम ! तू सयय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

दुल्लहे   खलु   माणुसे   भवे,

चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।

गाढा   य   विवाग   कम्मुणो,

समयं गोयम ! मा पमायए ॥१३॥

[उत्त० अ० १०, गा० ४]

सर्व प्राणियों को दीर्घकाल के बाद भी मनुष्य-जन्म मिलना दुर्लभ है, क्योंकि दुष्कर्म का विपाक अत्यन्त गाढ होता है। अतः हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

विवेचन—कहने का आशय यह है कि प्राणी पहले किये हुए गाढ़ कर्मों को भोग ले और पुण्य का कुछ संचय करे तब ही मनुष्य जन्म की प्राप्ति होती है।

एवं भवसंसारे संसरइ,
सुहासुहेहिं कम्मेहिं।
जीवो पमायबहुलो,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१४॥

[उत्त० अ० १०, गा० १५]

इस प्रकार प्रमाद की अधिकतावाला जीव अपने शुभाशुभ कर्मों से संसार में परिभ्रमण करता है। अतः हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

लद्धूण वि माणुसत्तणं,
आरियत्तं पुणरावि दुल्लहं।
बहवे दसुया मिलक्खुया,
समयं गोयम ! मा पमायए॥ १५॥

[उत्त० अ० १०, गा० १६]

मनुष्य-जन्म मिलने पर भी आर्यत्व मिलना अत्यन्त कठिन है,

क्योंकि मनुष्यो मे भी अनेक दस्यु और म्लेच्छ होते है, अर्थात् अनार्य होते हैं। इसलिये हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

लद्धूण वि आरियत्तणं,
अहीणपंचदियया हु दुल्लहा।
विगलिन्दियया हु दीसई,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१६॥

[उत्त० अ० १०, गा० १७]

आर्यत्व प्राप्त करने के उपरान्त भी पाँचो इन्द्रियों से पूर्ण होना दुर्लभ है, क्योकि अनेक मनुष्य इन्द्रियो की विकलता, न्यूनता अथवा हीनता वाले होते है। अतः हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

अहीणपंचेंदियत्तं पि से लहे,
उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१७॥

[उत्त० अ० १०, गा० १८]

पाँच इन्द्रियो से पूर्ण होने पर भी उत्तम धर्म का श्रवण वस्तुतः दुर्लभ है; क्योकि वहुत से मनुष्य कुतीर्थियो की सेवा करनेवाले होते हैं। इसलिये हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

लद्धूण वि उत्तमं सुइं,
सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।
मिच्छत्तनिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥
[उत्त० अ० १०, गा० १९]

उत्तम धर्मश्रवण का अवसर प्राप्त होने पर भी उस पर श्रद्धा होना अत्यन्त दुष्कर है, क्योकि बहुत-से लोग उत्तम धर्मश्रवण के पश्चात् भी मिथ्यात्व का सेवन करते दिखाई देते हैं । इसलिये हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

धम्मं पि हु सद्दहन्तया,
दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेसु मुच्छिया,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥
[उत्त० अ० १०, गा० २०]

धर्म पर अटूट श्रद्धा बैठ जाने पर भी उसका काया से आचरण करना अति कठिन है, क्योंकि धर्म पर श्रद्धा रखनेवाले लोक भी कामभोगों मे मूर्च्छित दिखाई देते हैं । इसलिये हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पण्डुरया हवंति ते ।

से सोयबले य हायई,

समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

[उत्त० अ० १०, गा० २१]

तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, तेरे केश सफेद होते जा रहे है और तेरा सारा बल भी घट रहा है; इसलिये हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

अरई गण्डं विसूइया,

आयंका विविहा फुसन्ति ते ।

विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,

समयं गोयम मा पमायए ॥२१॥

[उत्त० अ० १०, गा० २७]

अरुचि, फोडे-फुन्सी, अजीर्ण, दस्त आदि विविध रोग तुझे घेरने लगे हैं। तेरा शरीर दिन ब दिन दुर्बल हो रहा है और विनाश की अन्तिम सीढी पर आ पहुँचा है। अतः हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो,

कुमुय सारइयं व पाणियं ।

से सव्वसिणेहवज्जिए,

समयं गोयम ! मा पमायए ॥२२॥

[उत्त० अ० १०, गा० २८]

जैसे शरद् ऋतु का कमल पानी से अलिप्त रहता है, वैसे ही तू भी अपने स्नेहभाव को छिन्न-भिन्न कर दे और अपने समस्त स्नेह-भाव को दूर करने मे हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

चिच्चा ण धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं ।
मा वन्तं पुणो वि आविए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥

[उत्त० अ० १०, गा० २६]

तू धन और भार्या को छोड कर अणगार धर्म मे दीक्षित हो गया है। अव इस वमन किये हुए विषयभोगो को पुनः भोगने की इच्छा मत कर। अतः इस कार्य मे हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

अवउज्झिय मित्तबन्धवं,
विउलं चेव धणोहसंचयं ।
मा तं बिइयं गवेसए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥

[उत्त० अ० १०, गा० ३०]

मित्र, वन्धुवर्ग तथा वहुत-सा धन छोडकर तू यहाँ आया है, अतः फिर से उसकी इच्छा मत कर। हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

अवसोहिय कटगापहं,

ओइण्णोऽसि पहं महालयं ।

गच्छसि मग्गं विसोहिया,

समयं गोयम ! मा पमायए ॥२५॥

[उत्त० अ० १०, गा० ३२]

कुतीर्थरूपी कण्टकमय मार्ग को छोडकर तू मोक्ष के विराट मार्ग पर आया है । अतः विशुद्धमार्ग पर जाने के लिये हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

अबले जह भारवाहए,

मा मग्गे विसमेऽवगाहिया ।

पच्छा पच्छाणुतावए,

समयं गोयम ! मा पमायए ॥२६॥

[उत्त० अ० १०, गा० ३३]

जैसे निर्बल भारवाहक विषम मार्ग पर नही चलता, और कदाचित् चलता भी है तो बाद मे पछताता है, वैसे ही सयम का भार वहन करनेवाले को चाहिये कि वह विषयमार्ग पर न चले। कदाचित् चला भी जाय तो बाद मे पश्चात्ताप करे, इसलिये हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

तिण्णो हु सि अण्णवं महं,

किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।

अभितुर पारं गमित्तए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२७॥
[उत्त० अ० १०, गा० ३४]

निःसदेह तू संसारसमुद्र को तैर गया है, फिर भला किनारे पहुँच कर क्यों बैठ रहा है ! उस पार पहुँचने के लिये तुझे शीघ्रता करनी चाहिये। इसमे हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

अणाइकालप्पभवस्स एसो,
सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता,
कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति ॥२८॥
[उत्त० अ० ३२, गा० १११]

अनादि काल से उत्पन्न समस्त दुःखो से छूटने का यह मार्ग वतलाया गया है, जिसका पूर्णतया आचरण कर जीव क्रमशः अत्यन्त सुखी होते हैं।

—:०:—

धारा : ३८ :

विषय

रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति,
चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥१॥
[उत्त० अ० ३२, गा० २३]

रूप को ग्रहण करनेवाली चक्षुरिन्द्रिय कहलाती है और चक्षु-रिन्द्रिय का ग्राह्य विषय रूप (सौन्दर्य) है। मनोज्ञ (प्रिय) रूप राग का कारण बनता है एवं अमनोज्ञ (अप्रिय) रूप द्वेष का।

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥२॥
[उत्त० अ० ३२, गा० २४]

जैसे स्निग्ध दीपशिखा के दर्शन से आकृष्ट बना हुआ रागातुर

पतग अकाल मौत का शिकार वनता है, वैसे ही रूप मे अत्यन्त आसक्ति रखनेवाला असमय में ही विनाश का भोग वनता है।

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि रूवं अवरज्झई से ॥३॥

[दश० अ० ३२, गा० २५]

जो जीव अरुचिकर रूप देख कर तीव्र द्वेष करता है, वह उसी समय दुःख का अनुभव करता है। वह अपने दुर्दान्त दोष से ही दुःखी होता है। रूप उसे कुछ भी दुःख नही देता।

एगंतरत्ते रुइरंसि रूवे,
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ वाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥४॥

[उत्त० अ० ३२, गा० २६]

जो जीव मनोहर रूप के प्रति एकान्त राग रखता है और अरुचिकर रूप के प्रति ऐकान्तिक द्वेष रखता है, वह अज्ञानी अनन्त दुःखों का शिकार वनता है। जवकि विरक्त मुनि उसमे लिप्त नहीं होता। (इसलिए वह उस दुःख-समूह का शिकार नही वनता)।

रूवाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।

चित्तेहि ते परितावेइ बाले,

पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥५॥

[उत्त० अ० ३२, गा० २७]

रूप की आशा के वश में पड़ा हुआ अज्ञानी जीव अपने स्वार्थ के लिये रागान्ध बनकर चराचर (त्रस और स्थावर) जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, उन्हे अनेकविध कष्ट देता है और अनेक से पीड़ा पहुँचाता है।

रूवाणुवाएण परिग्गहेण,

उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।

वए विओगे य कहं सुहं से,

संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥६॥

[उत्त० अ० ३२, गा० २८]

रूप के मोह मे फँसा जीव मनोहर रूपवाले पदार्थों की प्राप्ति में उसके रक्षण और व्यय मे तथा वियोग की चिन्ता मे संलग्न रहता है। वह सम्भोगकाल मे भी अतृप्त ही रहता है। फिर भला उसे सुख कहाँ से मिले ?

रूवे अतित्ते य परिग्गहम्मि,

सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।

अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,

लोभाविले आययई अदत्तं ॥७॥

[उत्त० अ० ३२, गा० २९]

प्रिय रूप को पाने का लालची और आसक्त जीव कदापि सन्तुष्ट नहीं होता और असन्तुष्ट होने के कारण वह दुःखो का भोगी बनता है। तथा दूसरे की वस्तुओ के प्रति आकृष्ट होकर उनके स्वामी के दिये बिना ही ले लेता है, अर्थात् उसकी चोरी करने के पाप तक पहुँच जाता है।

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥८॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ३०]

तृष्णा के वशीभूत हुआ चोरी करनेवाला और रूप के परिग्रह मे अतृप्त जीव लोभ दोष से माया एव मृषावाद की वृद्धि करता है, परन्तु फिर भी वह दु खों से मुक्त नही हो सकता।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुहो दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥९॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ३१]

वह दुरन्त आत्मा झूठ बोलने के पहले और पश्चात् और बोलने समय भी दुःखी होता है। साथ ही अदत्त वस्तु ग्रहण करने के

पश्चात् भी वह रूप से सन्तुष्ट न होने के कारण सदैव दुःखी रहता है। उसका कोई सहायक नही होता।

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कए ण दुक्खं ॥१०॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ३२]

इस प्रकार रूप मे आसक्ति रखनेवाले मनुष्य को थोडा-सा भी सुख कहाँ से मिल सकता है ? जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए उसने अपार कष्ट उठाया, उसका उपभोग करने मे भी अत्यन्त कष्ट है।

एमेव रूवम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥११॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ३३]

इसी तरह अमनोज्ञरूप के प्रति द्वेष करनेवाला जीव भी दुःख की परम्परा को प्राप्त होता है और दुष्ट चित्त से कर्म का उपार्जन करता है। फिर वही कर्म उसके लिए विपाक-काल मे दुःखरूप हो जाता है।

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।

न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो,

जलेण वा पुक्खरिणीपलासं ॥१२॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ३४]

रूप से विरक्त मनुष्य शोकरहित हो जाता है। जैसे जल में रहते हुए भी कमलपत्र जल से लिप्त नही होता, वैसे ही संसार मे रहते हुए भी वह विरक्त पुरुष दु ख-समूह से लिप्त नही होता।

सद्दस्स सोयं गहणं वयंति,

सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति।

रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,

दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥१३॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ३६]

शब्द को ग्रहण करनेवाली श्रोत्रेन्द्रिय कहलाती है और श्रोत्रेन्द्रिय का ग्राह्यविषय शब्द है। मनोज्ञ (प्रिय) शब्द राग का कारण बनता है, जबकि अमनोज्ञ (अप्रिय) शब्द द्वेष का कारण बनता है।

सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,

अकालिअं पावइ से विणासं।

रागाउरे हरिणमिए व्व मुद्धे,

सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥१४॥

[उत्त० ३२, गा० ३७]

जैसे मधुर शब्द का श्रवण करने मे सरल, रागातुर हरिण असमय मे ही मृत्यु को प्राप्त होता है, वैसे ही शब्द मे अत्यन्त आसक्ति रखनेवाला भी अकाल मे विनाश को प्राप्त होता है।

विवेचन—इसके पश्चात् चक्षुरिन्द्रिय के लिये जो कुछ कहा गया है, वही श्रोत्रेन्द्रियादि सभी इन्द्रियों के बारे मे समान रूप से समझना चाहिये।

गंधस्स घाणं गहणं वयंति,
घाणस्स गंधं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥१५॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ४९]

गन्ध को ग्रहण करनेवाली घ्राणेन्द्रिय कहलाती है और घ्राणेन्द्रिय का ग्राह्यविषय गन्ध है। मनोज्ञ गन्ध राग का कारण बनती है, जबकि अमनोज्ञ गन्ध द्वेष का कारण बनती है।

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे,
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥१६॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ५०]

जैसे औषधि की सुगन्ध लेने के लिए आसक्त बना रागातुर

सर्प विल से वाहर निकलते ही मारा जाता है, वैसे ही गन्ध के प्रति आसक्ति रखनेवाला भी अकाल मे विनष्ट हो जाता है।

रसस्स जिब्भं गहणं वयंति,
जिब्भाए रसं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥१७॥
[उत्त० अ० ३२, गा० ६२]

रस को ग्रहण करनेवाली जिह्वेन्द्रिय (अथवा रसनेन्द्रिय) कहलाती है और जिह्वेन्द्रिय का विषय रस है। मनोज्ञ (प्रिय) रस राग का कारण वनता है, जवकि अमनोज्ञ (अप्रिय) रस द्वेष का कारण बनता है।

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे वडिसविभिन्नकाए,
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥१८॥
[उत्त० अ० ३२, गा० ६३]

जैसे मांस खाने के लिये लालची वना मत्स्य वंसी के कांटे मे फंस कर अकाल-मृत्यु को प्राप्त होता है, वैसे ही रस मे अति आसक्ति रखनेवाला भी असामयिक मृत्यु को प्राप्त होता है।

फासस्स कायं गहणं वयंति,
कायस्स फासं गहणं वयंति।

रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥१९॥
[उत्त० अ० ३२, गा० ७५]

स्पर्श को ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय काया (अथवा स्पर्शेन्द्रिय) कहलाती है और काया का ग्राह्य विषय स्पर्श है। मनोज्ञ (प्रिय) स्पर्श राग का कारण बनता है, जबकि अमनोज्ञ (अप्रिय) स्पर्श द्वेष का कारण बनता है।

फासस्स जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्ने,
गाहग्गहीए महिसे व रण्णे ॥२०॥
[उत्त० अ० ३२, गा० ७६]

जैसे शीतल स्पर्श का लोभी भैंसा रागातुर बनकर जगल के तालाब मे गिरता है और मगर का भक्ष्य बन अकाल मे मरण को प्राप्त होता है, वैसे ही स्पर्श मे अति आसक्ति रखनेवाला भी अकाल मे ही विनष्ट होता है।

भावस्स मणं गहणं वयंति,
मणस्स भावं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥२१॥
[उत्त० अ० ३२, गा० ८८]

मन भाव को ग्रहण करता है और भाव मन का ग्राह्य विषय है। मनोज्ञ भाव राग का कारण बनता है, जबकि अमनोज्ञ (अप्रिय) भाव द्वेष का कारण बनता है।

भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे,
करेणुमग्गावहिए गजे वा ॥२२॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ८९]

जैसे रागातुर और कामवासना मे आसक्त हाथी हथिनी के प्रति आकर्षित होकर मृत्यु पाता है, वैसे ही जो मनुष्य भाव मे तीव्र आसक्ति रखता है, वह (उन्मार्ग मे प्रेरित होकर) असमय मे ही विनाश को प्राप्त होता है।

एविन्दियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेऊं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेन्ति किंचि ॥२३॥

[उत्त० अ० ३२, गा० १००]

इन्द्रिय और मन के विषय रागी पुरुष के लिये ही दुःख के कारण बनते हैं। ये विषय वीतराग को जरा सा भी दुःख या कष्ट नहीं पहुँचाते।

न कामभोगा समयं उवेन्ति,

न यावि भोगा विगइं उवेन्ति ।

जे तप्पओसी य परिग्गही य,

सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥२४॥

[उत्त० अ० ३२, गा० १०१]

कामभोगादि विषय न तो राग-द्वेष को दूर कर सकते हैं और न उनकी उत्पत्ति के कारण है, किन्तु जो पुरुष उनमे राग अथवा द्वेष करता है, वही राग और द्वेष के कारण विकृति को प्राप्त हो जाता है।

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयंतं,

अणेगरूवा समणं चरंतं ।

फासा फुसन्ती असमंजसं च,

न तेसि भिक्खू मणसा पउस्से ॥२५॥

[उत्त० अ० ४, गा० ११]

बार-बार मोह गुणो पर विजय प्राप्त करनेवाले और संयम-मार्ग पर चलनेवाले साधु को कष्ट देनेवाले अनेक प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल स्पर्श, स्पर्शित होते है, अर्थात् असाता उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकार के उपसर्गो का साधु को सामना करना पड़ता है, परन्तु संयमशील भिक्षु उनके साथ मन से भी द्वेष न करे।

मन्दा य फासा बहुलोहणिज्जा,

तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा ।

रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं,
मायं न सेवेज्ज पहेज्ज लोहं ॥२६॥
[उत्त० अ० ४, गा० १२]

कई बार मन्द दिखाई देनेवाले अनुकूल स्पर्श भी बहुत लुभावने प्रतीत होते हैं, किन्तु उस तरह के स्पर्शों की इच्छा कदापि नहीं करनी चाहिये। साधु को क्रोध से अपनी आत्मा को बचाना चाहिये, अभिमान का त्याग कर देना चाहिये, माया का सेवन नहीं करना चाहिये और लोभ को हमेशा के लिए छोड देना चाहिये।

जेऽसंखया तुच्छपरप्पवाई,
ते पिज्जदोसाणुगया परज्झा।
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो,
कंखे गुणे जाव शरीरभेउ ॥२७॥
[उत्त० अ० ४, गा० १३]

जो परतीर्थिक ऊपर से सस्कारी दिखलाई देने पर भी वास्तव में तुच्छ, तात्त्विक-शुद्धिरहित, यथेच्छभाषी, रागद्वेष से युक्त और पर-पदार्थों का सदा चिन्तन करनेवाले है वे अधर्म के मार्ग पर हैं, ऐसा मानकर साधक को अपना शरीर विनष्ट होने तक चारित्र के गुणों को प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिये।

विरज्जमाणस्स य इंदियत्था,
सद्दाइया तावइयप्पगारा।

न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा,
निव्वतयंती अमणुन्नयं वा ॥२८॥

[उत्त० अ० ३२, गा० १०६]

जो इन्द्रियो के शब्दादि नाना प्रकार के विषयो से विरक्त हो गया है, उसमें ये सब विषय मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता के भाव पैदा नही कर सकते ।

सवीयरागो कयसव्वकिच्चो,
खवेइ नाणावरणं खणेणं ।
तहेव जं दंसणमावरेइ,
जं चंतरायं पकरेइ कम्मं ॥२९॥

[दश० अ० ३२, गा० १०८]

जो वीतराग है, वह सर्वप्रकार से कृतकृत्य है । वह क्षणमात्र मे ही ज्ञानावरणीय कर्मो का क्षय करलेता है । इसी प्रकार दर्शन का आवरण करनेवाले और विविध प्रकार के अन्तराय लानेवाले कर्मो का भी क्षय करता है ।

सव्वं तओ जाणइ पासए य,
अमोहणे होइ निरंतराए ।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते,
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥३०॥

[उत्त० अ० ३२, गा० १०९]

वह मोह, अन्तराय और आस्रवों से रहित वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। वह शुक्लध्यान तथा सुसमाधिशील होता है और आयुष्य का क्षय होने पर परमशुद्ध होकर मोक्षपद को प्राप्त करता है।

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को,
जं बाहई सययं जंतुमेयं।
दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो,
तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो ॥३१॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ११०]

बाद मे वह मुक्तात्मा उन समस्त दुःखो से मुक्त हो जाती है, कि जो सदा ससारी जीवों को पीड़ित करते रहते हैं। फिर दीर्घ-रोग से मुक्त बनी हुई वह कृतार्थ आत्मा अत्यन्त सुखी होती है।

धारा : ३९ :

कषाय

प्रज्ञापना –सूत्र के तेरहवे पद मे कषाय की व्याख्या इस प्रकार की गई है :—

सुह-दुक्ख-सहिय, कम्मखेत्त कसति जे जम्हा।
कलुसति ज च जीव, तेण कसायत्ति वुच्चति ॥

कई प्रकार के सुख-दुःख के फल योग्य ऐसे कर्मक्षेत्र का जो कर्षण करता है, अथवा जीव के शुद्ध स्वरूप को कलुषित करता है, वह कषाय कहलाता है।

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चतुत्थं अज्झत्थदोसा ॥१॥

[सु० श्रु० १, अ० ६, गा० २६]

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारो अध्यात्मदोष हैं।

कोहं माणं च मायं च, लोहं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥२॥

[दश० अ० ८, गा० ३७]

जो अपना हित चाहता है, उसे पाप की वृद्धि करनेवाले क्रोध,

मान, माया, और लोभ इन चार महादोषों का परित्याग कर देना चाहिये।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो॥३॥

[उत्त० अ० ८, गा० ३८]

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रों का नाश करती है, और लोभ सर्व का नाश करता है।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं च अज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिण॥४॥

[दश० अ० ८, गा० ३९]

शान्ति से क्रोध को, नम्रता से मान को, सरलता से माया को, एव सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिये।

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स॥५॥

[दश० अ० ८, गा० ४०]

अनिगृहीत क्रोध और मान तथा प्रवर्द्धमान माया और लोभ ये चारों कुटिल कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जड़ों को जल-सिंचन करते हैं।

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई।
माया गईपडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥६॥

[उत्त० अ० ६, गा० ५४]

क्रोध से जीव नरक मे जाता है, मान से जीव नीचगति पाता है, माया से जीव की शुभ गति का नाश होता है, तथा लोभ से जीव के लिये इस लोक और परलोक मे भय उत्पन्न होता है।

जे कोहेण होइ जगट्ठभासी,
विओसियं जे उ उदीरएज्जा।
अंधे व से दंडपहं गहाय,
अविओसिए धासति पावकम्मी ॥७॥

[सू० श्रु० १, अ० १३, गा० ५]

जो क्रोध मे आकर जैसा हो वैसा आतुरता से कह देता है तथा शांत पडे हुए कलह-क्लेश को पुनः उत्तेजित करता है, वह अनुपशान्त राग-द्वेषवाला पापकर्मी, संक्षिप्त मार्ग ग्रहण कर चलते हुए अन्धे के समान पीडित होता है।

विवेचन—कोई अन्धा (पुरुष) शीघ्र पहुचने की धुन मे पास का किन्तु विषम मार्ग ग्रहण करता है तो मार्ग मे रहे काँटे तथा शिकारी पशुओ के कारण दुःख पाता है, वैसे ही क्रोधादि करनेवाले पुरुष पापकारी क्रिया के फलस्वरूप विविध प्रकार की पीडा पाते है।

जे परिभवई परं जणं,
संसारे परिवत्तइ महं।

अदु इंखिणिया उ पाविया,

इति संखाय मुणी ण मज्जई ॥८॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० २, गा० २]

जो मिथ्याभिमान के आवेश मे आकर दूसरे की अवज्ञा करता है, वह दीर्घकाल तक ससार मे परिभ्रमण करता है। परनिन्दा तो स्पष्ट रूप मे पापकारी है। यह समझ कर मुनि अपने कुल, श्रुत एव तपादि का अभिमान न करे (और किसी की निन्दा भी न करे)।

विवेचन—गृहस्थों के लिये भी यही हितशिक्षा है।

न तस्स जाई व कुलं व ताणं,

णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं ॥९॥

[सू० श्रु० १, अ० १३, गा० ११]

मनुष्य को जाति अथवा कुल ससार-सागर से तार नही सकते। मात्र ज्ञान और सदाचार ही तार सकते हैं।

पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए।

वहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वई ॥१०॥

[दश० अ० ५, उ० २, गा० ३५]

जो पूजा, कीर्ति अथवा मान-सम्मान प्राप्त करने की इच्छा रखता है, वह अति पाप करता है और मायारूपी शल्य को इकट्ठा करता है।

पुढवी साली जवा चेव,

हिरण्णं पसुभिस्सह।

पडिपुण्णं नालमेगस्स,
इइ विज्जा तवं चरे ॥११॥
[उत्त० अ० ६, गा० ४६]

किसी एक लोभी मनुष्य को चावल, जौ आदि धान्य से युक्त तथा हिरण्य और पशुओ से परिपूर्ण सारी पृथ्वी दी गई हो तो भी उसे सन्तोष नहीं होता। ऐसा जानकर विद्वान् पुरुष को तृष्णा-त्यागरूपी तप का आचरण करना चाहिये।

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥ १२ ॥
[उत्त० अ० ८, गा० १७]

जैसे-जैसे लाभ होता जाता है, वैसे-वैसे लोभ बढता जाता है। लाभ से लोभ की वृद्धि होती है। दो मासा सोने से होनेवाला कार्य करोडो (सोने की मुहरो) से भी पूर्ण नही हुआ।

कसायपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?
कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभाव जणयइ ।
वीयरागभावपडिवन्नेवि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ॥१३॥

[उत्त० अ० २६, गा० ३६]

प्रश्न—हे भगवन् ! कषाय का परित्याग करने से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! कषाय का परित्याग करने से जीव मे वीतरागभाव पैदा होता है और वीतरागभाव को प्राप्त किया हुआ वह जीव सुख-दुःख मे सदा समान भाववाला होता है ।

कोहविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
कोहविजएणं खन्ति जणयइ, कोहवेयणिज्जं
कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ १४ ॥

[उत्त० अ० २६, गा० ६७]

प्रश्न—हे भगवन् ! क्रोध को जीतने से जीव क्या उपार्जन करता है !

उत्तर—हे शिष्य ! क्रोध को जीतने से जीव क्षमागुण का उपार्जन करता है । ऐसा क्षमायुक्त जीव क्रोधवेदनीय—क्रोध जन्यकर्मों का बन्ध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है ।

माणविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ,
पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥१५॥

[उत्त० अ० २६, गा० ६८]

प्रश्न—हे भगवन् ! मान का मर्दन करने से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! मान का मर्दन करने से जीव मार्दव (मृदुता) को प्राप्त करता है। ऐसा मार्दवयुक्त जीव मानवेदनीय-मानजन्य कर्मो का बन्ध नही करता और पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा कर देता है।

मायाविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
मायाविजएणं अज्जवं जणयइ,
मायावेयणिज्जं कम्मं न वंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥१६॥

[उत्त० २९, गा०६९]

प्रश्न—हे भगवन् ! माया को जीतने से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! माया को जीतने से जीव आर्जव (सरलता) गुण उपार्जन करता है। ऐसा आर्जवयुक्त जीव मायावेदनीय-माया-जन्य कर्मों का बन्ध नही करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है।

लोभविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
लोभविजएणं संतोसं जणयइ, लोभवेयणिज्जं कम्मं
न वंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥१७॥

[उ० अ०२९, गा० ७०]

प्रश्न—हे भगवन् ! लोभ पर विजय पाने से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! लोभ पर विजय पाने से जीव संतोष गुण का उपार्जन करता है। ऐसा संतोषयुक्त जीव लोभवेदनीय-लोभजन्य-कर्मों का बन्ध नही करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है।

धारा : ३० :

बाल और पंडित

एएसु बाले य पकुव्वमाणे, आवट्टई कम्मसु पावएसु ॥१॥

[सू० श्रु० १, अ १०, गा० ५]

पृथ्वीकाय आदि जीवो के साथ दुर्व्यवहार करता हुआ बाल जीव पापकर्मों से लिप्त होता है ।

विवेचन—जो आत्मा सत् और असत् के विवेक से रहित हैं, अज्ञानी हैं, उनके लिये यहाँ बाल शब्द का प्रयोग हुआ है ।

रागदोसस्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहुं ॥२॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० ८]

बाल जीव राग-द्वेष के अधीन होकर बहुत पाप करते है ।

जावन्तऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥३॥

[उत्त० अ० ६, गा० १]

जो अविद्यापुरुष है, वे सर्व प्रकार के दुखो को भोगनेवाले है । वे मूर्ख इस अनन्त संसार मे अनेक बार पीडित होते हैं ।

विवेचन—अविद्या अर्थात् मिथ्यात्व अथवा ज्ञानहीन-अवस्था ।

इस से जो पुरुष युक्त हैं वे अविद्यापुरुष हैं। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष मोह-मिथ्यात्व के कारण सच्चा ज्ञान प्राप्त नही कर सके, उन्हे अविद्या-पुरुष समझना चाहिये। वे पाप-प्रवृत्ति मे सदा लिप्त रहने से कर्मबन्धन करते हैं और उसी के फलस्वरूप भयङ्कर दुःख भोगते हैं। ऐसे बहुकर्मी आत्माओं का ससार बढ जाने से वे विविध योनियों मे उत्पन्न होकर मरते ही रहते हैं। उनकी इस जन्म-मरण की शृंखला का अन्त दीर्घ काल तक नही आता।

समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥४॥

[उत्त० अ० ६, गा० २]

अतः पण्डित पुरुष एकेन्द्रियादिक पाशरूप बहुत प्रकार के जाति-पथ का विचार करके अपनी आत्मा के द्वारा सत्य का अन्वेषण करे और सब प्राणियों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करे।

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई।
तारिसो मरणंते वि, न आराहेइ संवरं ॥५॥

[दश० अ० ५, उ० २, गा० ३६]

जैसे चोर सदा भयभीत रहता है और अपने कुकर्मों की वजह से ही दुःख पाता है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य भी नित्य प्रति भयभीत रहता है और अपने कुकर्मों के कारण ही दुःख पाता है। (उसकी इस स्थिति मे अन्त तक कोई परिवर्तन नही होता।) मृत्यु का भय सामने दीखने पर भी वह संयम की आराधना नही करता।

वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नइ ।
एते मम तेसुवि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई ॥६॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० ३, गा० १६]

बाल जीव ऐसा मानता है कि धन, पशु तथा ज्ञातिजन मेरा रक्षण करेंगे। वे मेरे है, मैं उनका हूँ। परन्तु इस प्रकार उसकी रक्षा नही होती अथवा उनको शरण नही मिलता।

भणंता अकरेन्ता य, बंधमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमेत्तेणं, समासासेंति अप्पयं ॥७॥
न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ।
विसन्ना पापकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥८॥

[उत्त० अ० ६, गा० १०-११]

बन्ध और मोक्ष को माननेवाला वादीगण संयम की बातें करते है, किन्तु सयम का आचरण नही करते है। वे केवल वचनों के बल से ही आत्मा को आश्वासन देते हैं।

अनेक प्रकार की भाषाओं का ज्ञान मनुष्य को शरणभूत नही होता। विद्या-मन्त्र की साधना भी कहाँ से शरणभूत हो? वे अपने को भले ही दिग्गज पण्डित मानें, परन्तु पापकर्म से लिप्त होने के कारण वास्तव मे अज्ञानी हैं।

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए ।
न सो सुअक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥९॥

[उत्त० अ० ९, गा० ४४]

जो बालजीव एक-एक महीने तक भोजन का त्याग कर केवल दर्भ के अग्र भाग पर रहे उतने भोजन से पारणा करता है, वह तीर्थङ्कर-प्ररूपित धर्म की सोलहवी कला को भी प्राप्त नहीं कर सकता।

विवेचन—इस जगत् में बाल जीव भी अनेकविध तपस्याएँ करते हैं। उनमे से कुछ तो अत्यन्त क्लिष्ट होती हैं। एक-एक महीने का उपवास करना और पारणा के समय नाम मात्र का अन्न लेना, यह कोई ऐसी-वैसी तपस्या नही है। इतना होने पर भी वह अज्ञानमूलक होने से उसका आध्यात्मिक दृष्टि से कोई विशेष मूल्य नही है। तीर्थङ्कर भगवन्तो ने जो धर्म बतलाया है, वह ज्ञानमूलक है और उसमे अहिंसा, संयम तथा तप को योग्य स्थान दिया गया है। ऐसे ज्ञानमूलक धर्म के साथ अज्ञानमूलक तपश्चर्या की तुलना ही कैसे हो सकती है? इसलिये यहाँ पर कहा गया है कि—वह इसकी सोलहवी कला को भी प्राप्त नहीं होते।

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१०॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० १६]

जैसे (संकट आजाने पर) कछुआ अपने सभी अङ्गों को सिकोड़ लेता है, वैसे ही विवेकी मनुष्य भी अपनी पापपरायण सभी इन्द्रियों को आध्यात्मिक जीवन द्वारा अपने भीतर सिकोड़ लेवे।

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते आत्तओ पासइ सव्वलोए।

उव्वेहई लोगमिणं महन्तं,
बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥११॥
[सू० श्रु० १, अ० १२, गा० १८]

ज्ञानी पुरुष इस सर्व लोक मे रह कर छोटे तथा बडे प्राणियो को आत्मतुल्य देखते है, अर्थात् अपने समान ही सुख-दुःख की वृत्तिवाले मानते है। वे षड्द्रव्यात्मक इस महान् लोक का बराबर निरीक्षण करते हैं और ज्ञानी बनकर अप्रमत्तो के साथ विचरण करते हैं। सार यह है कि वे इन छोटे-बडे जीवो की हिंसा न हो जाय इसलिए प्रव्रजित होकर अप्रमत्त दशा धारण करते है।

न कम्मुणा कम्म खवेन्ति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेन्ति धीरा।
मेहाविणो लोभभयावतीता,
संतोसिणो नो पकरेन्ति पावं ॥१२॥
[सू० श्रु० १, अ० १२, गा० १५]

अज्ञानी जीव भी प्रवृत्तियाँ तो काफी करते है, पर वे सभी कर्मोत्पादक होने से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय नही कर पाती। जबकि धीर पुरुषो की प्रवृत्तियाँ अकर्मोत्पादक अर्थात् संयमवाली होने के कारण अपने पूर्वबद्ध कर्मों को क्षीण कर सकती है। जो पुरुष वस्तुतः बुद्धिमान् हैं, वे लोभ और भय—इन दोनों वृत्तियो से सदा दूर रहते है। और इस प्रकार सन्तोषगुण से विभूषित होने के कारण किसी भी प्रकार की पापमय प्रवृत्ति नही करते।

तिउट्टई उ मेहावी, जाणं लोगंसि पावगं।
तुट्टंति पावकम्माणि, नयं कम्ममकुव्वओ ॥१३॥

[सू० श्रु० १, अ०, १५, गा० ६]

पापकर्मों को जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष ससार मे रहते हुए भी पापों को नष्ट करता है। जो पुरुष नये कर्म नही बाँधता, उसके सभी पाप-कर्म क्षीण हो जाते है।

जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थति, एवं अत्तसमाहिए अणिहे ॥१४॥

[आ० श्रु० १, अ० ४, उ० ३]

जैसे अग्नि पुरानी सूखी लकडियों को शीघ्र जला देती है, वैसे ही आत्मनिष्ठ और मोहरहित पुरुष कर्मरूपी काष्ठ को जला डालता है।

तुलियाणं बालभावं, अबालं चेव पंडिए।
चइऊण बालभावं, अबालं सेवई मुणी ॥१५॥

[उत्त० अ० ७, गा० ३०]

पण्डित मुनि बालभाव और अबालभाव की सदा तुलना करे और बालभाव को छोड कर अबालभाव का सेवन करे।

—:०:—

ब्राह्मण किसे कहा जाय ?

जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयन्तो न सोयई ।
रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥१॥

जो मनुष्य-जन्म लेकर स्वजनादि मे आसक्त नही रहता और उनसे दूर रहने पर शोक नही करता तथा सदा आर्य-वचनो मे ही रमण करता है, उसको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं ।

जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमलपावगं ।
राग-दोस-भयाईयं, तं वयं बूम माहणं ॥२॥

जो अग्नि के द्वारा शुद्ध किया हुआ स्वर्ण के समान तेजस्वी और शुद्ध है, तथा राग, द्वेष एवं भय से रहित है, उसको हम ब्राह्मण कहते है ।

तवस्सियं किसं दन्तं, अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥३॥

जो तपस्वी, कृश और इन्द्रियो का दमन करनेवाला है, जिसके शरीर मे मास और रुधिर कम हो गया है, जो व्रतशील है और

जिसने निर्वाण—परमशान्ति प्राप्त किया है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेण, तं वयं बूम माहणं ॥४॥

जो त्रस और स्थावर प्राणियों को संक्षेप और विस्तार से भली-भाँति जान कर उसकी मन, वचन और काया से हिंसा नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥५॥

जो क्रोध हास्य, लोभ अथवा भय से कभी झूठ नहीं बोलता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

चित्तमन्तमचित्त वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गिण्हाइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं ॥६॥

जो सचित्त अथवा अचित्त, अल्प अथवा अधिक (पदार्थ) स्वामी के द्वारा दिये बिना ग्रहण नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

दिव्व-माणुस-तेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं।
मणसाकाय-वक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥७॥

जो मन-वचन-काया से देव, मनुष्य और तिर्यंच (पशु-पक्षी) के साथ मैथुन-सेवन नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥८॥

जैसे कमल पानी में उत्पन्न होने पर भी पानी से लिप्त नही होता, वैसे ही जो ससार के वासनामय वातावरण मे रहते हुए भी काम-भोगों से लिप्त नही होता, उसको हम ब्राह्मण कहते है ।

अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥९॥

जो लोलुपता-विहीन, भिक्षाजीवी, स्वेच्छा से त्याग करनेवाला और अकिंचन हो तथा गृहस्थो मे आसक्ति रखनेवाला नही हो, उसको हम ब्राह्मण कहते है ।

जहित्ता पुव्वसंजोगं, नाइसंगे य बन्धवे ।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहण ॥१०॥

जो ज्ञातिजन और बन्धुजनो का पूर्व सम्बन्ध छोड देने के पश्चात् भोग मे आसक्त न होवे, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं ।

पसुबंधा सव्ववेया, जट्ठं च पावकम्मुणा ।
न तं तायंति दुस्सील, कम्माणि बलवंति हि ॥११॥

सभी वेद पशुओ के वध-बन्धन के लिए है और यज्ञ पापकर्म का हेतु है । अतः वे वेद अथवा वे यज्ञ (और वे यज्ञ करनेवाले आचार्य आदि) दुराचारी का उद्धार नही कर सकते ; क्योकि कर्म अपना फल देने मे अत्यन्त ही बलिष्ठ है !

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥१२॥

केवल सिर मुडवाने से कोई श्रमण नही होता, ओङ्कार वोलने से ही कोई ब्राह्मण नही होता, निरे अरण्य मे रहने से कोई मुनि नही कहलाता और न ही वल्कल धारण करने से कोई तापस होता।

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण उ मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥१३॥

समता का गुण प्राप्त करने से श्रमण वना जाता है, ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण वना जाता है, चिन्तन-मनन द्वारा ज्ञानप्राप्ति करने से मुनि वना जाता है और तप करने से तापस वना जाता है।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥१४॥

मनुष्य ब्राह्मण के कर्मद्वारा ब्राह्मण वनता है, क्षत्रिय के कर्मद्वारा क्षत्रिय वनता है, वैश्य के कर्मद्वारा वैश्य वनता है और शूद्र के कर्म-द्वारा शूद्र वनता है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणत्व आदि जन्मसिद्ध वस्तु नही है, अपितु कर्मसिद्ध वस्तु है।

एए पाउकरे बुद्धे, जेहिं होइ सिणायओ ।
सव्वकम्मविणिमुक्कं, तं वयं बूम माहणं ॥१५॥

इस धर्म को सर्वज्ञ भगवान् ने प्रकट किया है, जिससे कि यह जीव स्नातक हो जाता है और सर्व कर्मो से मुक्त हो जाता है। उसीको हम ब्राह्मण कहते है।

एवं गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा ।
ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ॥१६॥

[उत्त० अ० २५, गा० २० से ३५]

जो ऐसे गुणो से युक्त है, वे द्विजोत्तम है और वे ही स्व-पर का उद्धार करने मे समर्थ होते है ।

—:०:—

धारा : ३२ :

वीर्य और वीरता

दुहा चेयं सुयक्खायं, वीरियं ति पवुच्चई ।
किं नु वीरस्स वीरत्तं, कहं चेयं पवुच्चई ॥१॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० १]

वीर्य दो प्रकार का कहा गया है। (यह विधान सुनकर मुमुक्षु प्रश्न करता है कि हे पूज्य !) वीर पुरुष की वीरता क्या है ? और किस कारण से वह वीर कहलाता है ? (यह कृपा करके बतलाइए।)

कम्ममेगे पवेदेन्ति, अकम्मं वा वि सुव्वया ।
एएहिं दोहि ठाणेहिं, जहिं दीसन्ति मच्चिया ॥२॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० २]

(प्रत्युत्तर मे भगवान् कहते हैं) हे सुव्रती ! कोई कर्म को वीर्य कहते हैं और कोई अकर्म को। मृत्युलोक के सभी प्राणी इन दो भेदो मे विभक्त हैं।

विवेचन—वीर्य आत्मा का मूल गुण है, किन्तु इसका स्फुरण जिस अवस्था मे होता है, उसके आधार पर उसके दो भेद कहे गये हैं—सकर्मवीर्य और अकर्मवीर्य। आत्मा कर्मजन्य औदयिक भाव मे रहता हो तब जो वीर्य का स्फुरण होता है वह सकर्म अथवा

वालवीर्य कहलाता है और जब क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक भाव में रहता हो तब जो स्फुरण होता है वह अकर्म अथवा पण्डितवीर्य कहलाता है। मनुष्य मे इन दोनों मे से एक वीर्य का स्फुरण अवश्य होता है।

सत्थमेगे तु सिक्खंता, अतिवायाय पाणिणं।
एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो ॥३॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० ४]

कुछ व्यक्ति शस्त्रविद्या सीख कर प्राणियो की हिंसा करते हैं, तो कुछ व्यक्ति मन्त्रादि बोलकर यज्ञादि अनुष्ठानो मे प्राणियों की विडम्बना करते हैं (इसे वालवीर्य समझना चाहिये)।

माइणो कट्टु माया य, कामभोगे समारमे।
हंता छित्ता पगब्भिता, आयसायाणुगामिणो ॥४॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० ५]

केवल अपने ही सुख का विचार करनेवाले मायावी पुरुष माया-कपट का आधार लेकर काम-भोग के निमित्त असख्य प्राणियों की हिंसा करते हैं और इस तरह वे उनका हनन करनेवाले, छेदन करने-वाले तथा पाछ लगानेवाले वनते हैं।

मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अन्तसो।
आरओ परओ वा वि, दुहा वि य असंजया ॥५॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० ६]

असयमी पुरुष काया से अशक्त होने पर भी मन, वचन और काया से अपने लिये तथा दूसरों के लिये हिंसा करता है और करवाता है।

एयं सकम्मवीरियं, बालाणं तु पवेइयं।
इत्तो अकम्मविरियं, पंडियाणं सुणेह मे ॥६॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० ९]

इस प्रकार बाल जीवो के सकर्मवीर्य का वर्णन किया। अब पण्डितों के अकर्मवीर्य का वर्णन करता हूं, वह मुझसे सुनो।

दविए बंधणुमुक्के, सव्वओ छिन्नबंधणे।
पणोल्ल पावकं कम्मं, सल्लं कंतइ अन्तसो ॥७॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० १०]

भव्य पुरुष राग-द्वेष के बन्धन से मुक्त होते हैं, कषायरूपी बन्धनों का सर्वथा उच्छेदन कर देते है तथा सभी प्रकार के पाप-कर्मों से निवृत्त होकर अपनी आत्मा से लगे हुए शल्यों को जड मूल से उखाड डालते हैं।

नेयाउयं सुयक्खायं, उवादाय समीहए।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुहत्तं तहा तहा ॥८॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० ११]

तीर्थङ्करों द्वारा कथित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी मोक्षमार्ग को ग्रहण कर उसमे पूर्णरूप से पुरुषार्थ को स्फुरित करना चाहिये। (यही पण्डितवीर्य है और इसका परिणाम सुखदायी है, जब कि) बालवीर्य पुनः पुनः दुःखदायी है। वह जैसे-जैसे स्फुरित होता जाता है, वैसे-वैसे दुःख बढता जाता है।

ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति ण संसओ ।
अणियए अयं वासे, णायएहि सुहीहि य ॥९॥
एवमादाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।
आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्ममकोवियं ॥१०॥
[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० १२-१३]

यह निर्विवाद सत्य है कि विविध स्थानो मे रहे हुए मनुष्य किसी न किसी समय अपना स्थान अवश्य छोडेंगे। जाति और मित्रजनो के साथ का यह निवास अनित्य है। इस तरह का विचार कर पण्डित पुरुष आत्मा के ममत्वभाव का छेदन कर देवे तथा सर्व धर्मों से अनिन्द्य ऐसे आर्यधर्म को ग्रहण करे।

सह संमइए णच्चा, धम्मसारं सुणेत्तु वा ।
समुवट्ठिए उ अणगारे, पच्चक्खायपावए ॥११॥
[सू० श्रु० १, अ० ८, उ० ३, गा० १४]

अपनी बुद्धि से अथवा गुरु आदि के मुख से धर्म का सार जानने के बाद पंडित पुरुष श्रमण बनता है और सर्व पापो का प्रत्याख्यान करता है।

अणु माणं च मायं च, तं पडिन्नाय पंडिए ।
आयतट्ठं सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं ॥१२॥
[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० १८]

माया और मान का फल हमेशा बुरा होता है—ऐसा मानकर पण्डित पुरुष उसका अणुमात्र भी सेवन न करे। वह आत्मार्थ को अच्छी तरह ग्रहण करे। यही वीर पुरुष की वीरता है।

अतिक्कम्मं ति वायाए, मणसा वि न पत्थए ।
सव्वओ संवुडे दन्ते, आयाणं सुसमाहरे ॥१३॥

[सू० श्रु १, अ० ८, गा० २०]

सच्चा वीर वाणी से और मन से भी किसी प्राणी की हिंसा न करे। वह सर्वथा सयमी बने, अपनी इन्द्रियो को जीते तथा सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग के साधनो को ग्रहण करे।

कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं ।
सव्वं तं णाणुजाणंति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥१४॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० २१]

जो पुरुष आत्मगुप्त और जितेन्द्रिय हैं, वे किसी के द्वारा किये गये, करते हुए अथवा भविष्य मे किये जानेवाले किसी प्रकार के पाप की अनुमोदना न करे।

पण्डिए वीरियं लद्धुं, निग्घायाय पवत्तगं
धुणे पुव्वकडं कम्मं, णवं वाऽवि ण कुव्वती ॥१५॥

[सू० श्रु० १, अ० १५, गा० २२]

पण्डित पुरुष कर्मो का उच्छेदन करने मे समर्थ ऐसे वीर्य को प्राप्त करके नवीन कर्म न करे तथा पूर्वकृत कर्मो का क्षय कर दे।

जे अबुद्धा महाभागा, वीरा असम्मत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥१६॥

[सू० श्रु० १, आ० ८, गा० २२]

सम्यग्दर्शन से रहित और परमार्थ को नही समझनेवाले ऐसे विश्रुत-यशस्वी वीर पुरुषो का पराक्रम अशुद्ध है। वे सभी तरह से ससार की वृद्धि करने मे सफल होते हैं। साराश यह कि उनसे ससार अधिक बढ जाता है।

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो ।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो ॥१७॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० २३]

सम्यग्दर्शनवाले और परमार्थ के ज्ञाता ऐसे विश्रुत यशवाले वीर पुरुषों का पराक्रम शुद्ध है। वे ससार की वृद्धि मे सर्वथा निष्फल होते हैं। साराश यह कि किसी भी तरह उनके ससार की वृद्धि नही होती।

कुजए अपराजिए जहा,
अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं ।
कडमेव गहाय नो कलिं,
नो तीयं नो चेव दावरं ॥१८॥
एवं लोगम्मि ताइणा,
बुइए जे धम्मे अणुत्तरे ।
तं गिण्ह हियंति उत्तमं,
कडमिव सेसऽवहाय पण्डिए ॥१९॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० २, गा० २३-२४

जुए मे कुशल जुआरी खेलते समय जैसे 'कृत' नामवाले पासे को ही ग्रहण करता है, किन्तु 'कलि' 'त्रेता' अथवा 'द्वापर' को ग्रहण नही करता और अपराजित रहता है, वैसे ही पण्डित पुरुष भी इस लोक में जगत्त्राता सर्वज्ञों ने जो उत्तम और अनुत्तर धर्म कहा है, उसको ही अपने हित के लिए ग्रहण करे। शेष सभी धर्मों को वह इस प्रकार छोड दे, जिस तरह कुशल जुआरी 'कृत' के अतिरिक्त अन्य सभी पासो को छोड़ देता है।

झाणजोगं समाहट्टु,
कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं नच्चा,
आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२०॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० २६]

पण्डित पुरुष ध्यानयोग को ग्रहण करे, देह-भावना का सर्वथा विसर्जन करे, तितिक्षा को उत्तम समझे और शरीर के अन्त तक संयम का पालन करता रहे।

—:०:—

धारा : ३३ :

सम्यक्त्व

निस्सग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्तबीअरुइमव ।
अभिगम-वित्थाररुई, किरिया-संखेव-धम्मरुई ॥१॥

[उत्त० अ० २८, गा० १६]

(१) किसी को स्वाभाविक रूप से ही तत्त्व के प्रति रुचि होने से, (२) किसी को उपदेश श्रवण करने से, (३) किसी को भगवान् की ऐसी आज्ञा है ऐसा ज्ञात होने से, (४) किसी को सूत्र सुनने से, (५) किसी को एक शब्द सुनकर उसका विस्तार करनेवाली बुद्धि से, (६) किसी को विशिष्ट ज्ञान होने से, (७) किसी को विस्तार पूर्वक अर्थ श्रवण करने से, (८) किसी को सत्क्रियाओं के प्रति रुचि होने से, (९) किसी को सक्षेप मे रहस्य ज्ञात हो जाने से तो (१०) किसी को धर्म के प्रति अभिरुचि होने से, यो दस प्रकार से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ।

विवेचन—सम्यक्त्व का सामान्य परिचय आठवी धारा में दिया है । यहाँ उसका विशेष परिचय दिया गया है ।

निस्संकिय-निक्कंखिय-निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ॥२॥
[उत्त० अ० २८, गा० ३१]

सम्यक्त्व के आठ अङ्ग इस प्रकार समझने चाहिये :—(१) निःशङ्कित, (२) निःकाक्षित, (३) निर्विचिकित्स्य, (४) अमूढदृष्टि, (५) उपवृंहणा, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य, और (८) प्रभावना।

विवेचन—(१) जिनवचन मे शङ्का नही रखना, यह निःशङ्कित, (२) जिनमत के विना अन्य मत की आकांक्षा नही करना, यह निःकाक्षित, (३) धर्म-कर्म के फल मे सन्देह नही रखना, यह निर्विचिकित्स्य, (४) अन्य मतवालों के दिखावे मे न आना, यह अमूढदृष्टि, (५) सम्यक्त्वधारी को उत्तेजन देना, यह उपवृंहणा, (६) कोई सम्यक्त्व से विचलित होता हो तो उसे स्थिर करना, यह स्थिरीकरण, (७) साधर्मिक के प्रति वात्सल्य दिखाना अर्थात् उसकी प्रत्येक प्रकार से भक्ति करना, यह सार्धमिक-वात्सल्य और (८) जिनशासन की प्रभावना हो अर्थात् लोगों मे उसका प्रभाव वढे, ऐसे कर्म करना यह प्रभावना।

मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा वोही ॥३॥
[उत्त० अ० ३६, गा० २५८]

जो जीव मिथ्यादर्शन मे अनुरक्त हैं, सासारिक फल की अपेक्षा रखते हुए धर्मकर्म मे प्रवृत्त होते है तथा हिंसक हैं, वे इन्ही भावनाओं

मे मरने पर दुर्लभबोधि होते है, अर्थात् उन्हे सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति शीघ्र नही होती ।

इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा ।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे ॥४॥

[सू० श्रु० १, अ० १५, गा० १८]

जो जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर मरता है, उसे पुनः धर्मबोधि प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। साथ ही सम्यक्त्वप्राप्ति के योग्य अन्तःकरण के परिणाम होना अथवा धर्माचरण की वृत्ति होना भी कठिन है ।

कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिआ ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥५॥

[उत्त० अ० २३, गा० ६३]

कुप्रवचन को माननेवाले सभी लोग उन्मार्ग मे स्थित हैं । सन्मार्ग तो जिन-भाषित है और यही उत्तम मार्ग है ।

सम्मदंसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ॥६॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २५६]

जो जीव सम्यग्दर्शन मे अनुरक्त हैं, सासारिक फल की अपेक्षा किये बिना धर्म कर्म करनेवाले हैं तथा शुक्ल लेश्या से युक्त हैं, वे जीव उसी भावना में मरकर परलोक मे सुलभबोधि होते हैं अर्थात् उन्हे सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति शीघ्र होती है ।

लाइं च वुड्ढिं च इहऽज्ज पास,
भूएहिं जाणे पडिलेह सायं।
तम्हाऽतिविज्जे परमं ति णच्चा,
सम्मत्तदंसी ण करेइ पावं ॥७॥

[आ० अ० ३, उ० २]

हे मानव! इस संसार में जन्म और जरा की जो दो महान् दुःख है, उन्हे तू देख और सभी जीवों को सुख प्रिय लगता है और दुःख अप्रिय लगता है, इस बात को गहराई से समझ। उपर्युक्त बात का ज्ञान होने से ही ज्ञानी पुरुष सम्यक्त्वधारी बनकर हिंसादि पाप नही करते हैं।

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेणं।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥८॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २६०]

जो जिनवचन में श्रद्धान्वित है, जो जिनवचन मे कही गई क्रियाएं भाव-पूर्वक करते है, जो मिथ्यात्व आदि मल से दूर है तथा जो रागद्वेषयुक्त तीव्र भाव धारण नही करते, वे मर्यादित संसारवाले बनते है, अर्थात् उनका भवभ्रमण का प्रमाण अल्प हो जाता है।

धम्मसद्धाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
धम्मसद्धाएणं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ ॥९॥

[उत्त० अ० २९, गा० ३]

प्रश्न—हे भगवन् ! धर्मश्रद्धा से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! धर्मश्रद्धा से शाता-सुख मे अनुराग करता हुआ यह जीव वैराग्य को प्राप्त कर लेता है ।

—,o:—

धारा : ३४:

षडावश्यक

अनुयोगद्वार—सूत्र मे कहा है :—

आवस्सय अवस्सकरणिज्ज, धुव-निग्गहो विसोही अ।
अज्झयणछक्कवग्गो, नाओ आराह णा मग्गो ॥

आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुव, निग्रह, विशोधि, अध्ययन-षड्वर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग ये पर्यायशब्द है।

आवश्यक के अर्थ के सम्बन्ध मे उसमे कहा है कि :—

समणेण सावएण य, अवस्स-कायव्व हवइ जम्हा।
अन्तो अहो-निसस्स य, तम्हा आवस्सय नाम ॥

जो दिन और रात्रि के अन्तिम भाग मे श्रमण तथा श्रावकों द्वारा अवश्य करने योग्य है, इसलिये वह आवश्यक कहलाता है।

वर्तमान मे इस क्रिया को प्रतिक्रमण शब्द से पहचानने का प्रचलन है। दिन के अन्तिम भाग में जो प्रतिक्रमण किया जाय वह दैवसिक (देवसिय) प्रतिक्रमण और रात्रि के अन्तभाग मे किया जाय वह रात्रिक (राइय) प्रतिक्रमण कहलाता है। इसके अति-

रिक्त पक्ष के अन्त मे, चातुर्मास के अन्त मे और सवत्सर के अन्त में भी प्रतिक्रमण की क्रिया की जाती है, उसे क्रमशः पाक्षिक-प्रतिक्रमण, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण और सावत्सरिक प्रतिक्रमण कहा जाता है।

आवश्यक क्रिया के सम्बन्ध मे अधिक स्पष्टीकरण करते हुए उसमे बताया गया है कि :—

'आवस्सयस्स एसो पिडत्थो वण्णिओ समासेण।
एतो एक्केक्क पुण, अज्भयण कित्तइस्सामि ॥

तं जहा—(१) सामाइयं, (२) चउवीसत्थओ, (३) वदणय, (४) पडिक्कमण, (५) काउस्सग्गो, (६) पच्चक्खाण।

आवश्यक का यह समुदायार्थ सक्षेप मे कहा है। अब उसमे से एक-एक अध्ययन का मैं वर्णन करूंगा, जो इस प्रकार है :— (१) सामायिक, (२) चतुर्विंशति-स्तव, (३) वन्दनक, (४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान। तात्पर्य यह है कि आवश्यक क्रियाएं छः प्रकार की है, जिनमे से प्रत्येक का नाम इस प्रकार समझना चाहिये।

सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥१॥

[उत्त० अ० २६, गा० ८]

प्रश्न—हे भगवन् ! सामायिक से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! सामायिक से जीव सावद्ययोग की निवृत्ति का उपार्जन करता है।

विवेचन—सावद्ययोग अर्थात् पापकारी प्रवृत्ति। उसकी निवृत्ति अर्थात् उससे विराम पा लेना। तात्पर्य यह है कि कोई भी जीव सामायिक को क्रिया अंगीकार करता है, तब 'मैं मन-वचन-काया से कोई पाप नहीं करूंगा अथवा दूसरे से नहीं कराऊंगा' ऐसी प्रतिज्ञा लेता है और तदनुसार सामायिक के बीच कोई भी पापकारी प्रवृत्ति नही करता है। उस समय वह धर्मध्यानादि शुभ प्रवृत्ति ही करता है। एक सामायिक की अवधि दो घडी अर्थात् अड़तालिस मिनट की होती है।

चउव्वीसत्थएणं भंते! जीवे किं जणयइ?
चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥२॥

[उत्त० अ० २९, गा० ९]

प्रश्न—हे भगवन्! चतुर्विंशति-स्तव से जीव क्या उपार्जन करता है?

उत्तर—हे शिष्य! चतुर्विंशति-स्तव से जीव दर्शन-विशुद्धि का उपार्जन करता है।

विवेचन—दर्शनविशुद्धि अर्थात् सम्यक्त्व की निर्मलता। तात्पर्य यह है कि चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का सद्भूत कीर्तन-भजन करने से सम्यक्त्व मे रही हुई अशुद्धि दूर हो जाती है और देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा दृढ होती है।

अन्य स्तवन, स्तुति तथा स्तोत्र आदि मे श्रीजिनेश्वर देव की जो भक्ति की जाती है उसका फल भी यह समझना चाहिये।

वंदणएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्मं निबंधइ। सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ । दाहिणभावं च णं जणयइ ॥३॥

[उत्त० अ० २९, गा० १०]

प्रश्न—हे भगवन् ! वन्दनक से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! वन्दनक से जीव नीचगोत्रकर्म का क्षय कर उच्चगोत्र के लिए कर्म बाँधता है। साथ ही वह अप्रतिहत सौभाग्य और उच्च अधिकार प्राप्त कर विश्ववल्लभ बनता है।

विवेचन—गुरु को विधिपूर्वक वन्दन करना यह वन्दनक नाम का तीसरा आवश्यक है। गुरु के प्रति विनय किये बिना अथवा उनके प्रति अत्यन्त आदर-सम्मान की भावना रखे बिना आध्यात्मिक प्रसाद प्राप्त नही होता। उन्हे प्रतिदिन प्रात और साय विधिपूर्वक वन्दन करने से, ऊपर दिखलाये है वैसे लाभ प्राप्त होते है।

पडिक्कमणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ । पिहिय-वयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिये विहरइ ॥४॥

[उत्त० अ० २९, गा० ११]

प्रश्न—हे भगवन् ! प्रतिक्रमण से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! प्रतिक्रमण से जीव व्रतों के छिद्रो को ढंकता

है और इस तरह व्रतो के छिद्रो को ढंकने से वह जीव आस्रव रोकने-वाला होता है। साथ ही शुद्ध चारित्रवान् और अष्टप्रवचन-माता के प्रति उपयोगवाला बनता है तथा समाधिपूर्वक संयममार्ग मे विचरण करता है।

विवेचन—अज्ञान, मोह अथवा प्रमादवश अपने मूल-स्वभाव से दूर गए किसी जीव का अपने मूलस्वभाव की ओर पुनः लौटने की प्रवृत्ति प्रतिक्रमण कहलाती है। यह एक प्रकार की आत्मनिरीक्षण अथवा आत्मशोधन की क्रिया है। क्योकि इस क्रिया मे आत्मा द्वारा की गई प्रत्येक प्रवृत्ति का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसकी त्रुटियाँ ढूंढ निकालने का लक्ष्य होता है और उसके लिये पाप-जुगुप्सापूर्वक पश्चात्ताप किया जाता है। जो त्रुटियाँ निरे पश्चात्ताप से सुधरे ऐसी न हों उनके लिये प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है। जैसे घर को प्रतिदिन शुद्ध-स्वच्छ रखने से वह रहने योग्य बनता है, वैसे ही आत्मा को प्रतिदिन शुद्ध-स्वच्छ करने से व्रतो की आराधना बराबर होती है और उससे चारित्र उत्तम प्रकार का बनता है।

काउस्सग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? काउस्सग्गेणं तीयपडुपन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थझाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ॥५॥

[उत्त० अ० २६, गा० १२]

प्रश्न—हे भगवन् ! कायोत्सर्ग से जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! कायोत्सर्ग से जीव अतीत और वर्तमान

काल के अतिचारो की शुद्धि करता है। प्रायश्चित्त से शुद्ध बना हुआ जीव ऐसे निवृत्त हृदयवाला हो जाता है जैसा कि सिर से बोझा उतर जाने पर कोई भारवाहक। इस प्रकार निवृत्त हृदयवाला बनकर वह प्रशस्त ध्यान को प्राप्त करता हुआ सुखपूर्वक विचरण करता है।

विवेचन—काया का उत्सर्ग करना अर्थात् देहभावना का त्याग करके आत्मनिरीक्षण अथवा आत्मचिन्तन मे लीन हो जाना। इसमे एक ही आसन पर मौनपूर्वक स्थिरता से रहा जाता है।

पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ। (पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ। इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ) ॥६॥

[उत्त० अ० २९, गा० १३]

प्रश्न—हे भगवन् ! प्रत्याख्यान से जीव क्या उपार्जन करता है?

उत्तर—हे शिष्य ! प्रत्याख्यान से जीव आस्रव द्वारो को रोक लेता है। (तथा प्रत्याख्यान से जीव इच्छाओ का निरोध करता है। फिर इच्छानिरोध को प्राप्त हुआ जीव सर्व द्रव्यो मे तृष्णारहित होकर परम शान्ति मे विचरता है।)

—:o:—

धारा : ३५ :

भावना

तहिं तहिं सुयक्खाय, से य सच्चे सुआहिए ।
सया सच्चेण संपन्ने, मेत्तिं भूएहिं कप्पए ॥१॥
भूएहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ ।
वुसिमं जगं परिन्नाय, अस्सिं जीवितभावणा ॥२॥
भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥३॥

[सू० श्रु० १, अ० १५, गा० ३ से ५]

वीतराग महापुरुषों ने जो-जो भाव कहे हैं, वे वास्तव मे यथार्थ हैं। जिनका अन्तरात्मा सदा सत्य भावो से पूर्ण है, वह सर्व जीवो के प्रति मैत्री-भाव रखता है।

किसी भी प्राणी के साथ वैर-विरोध नही करना, यह इन्द्रियों को वश करनेवाला सयमी पुरुष का धर्म है। ऐसा सयमी पुरुष जगत् का स्वरूप अच्छी तरह समझ ले और धर्म मे—धर्मवृद्धि के लिये जीवन का उत्कर्ष साधनेवाली सद्भावनाओ का सेवन करे।

भावना-योग से शुद्ध हुई आत्मा जल पर नौका के समान ससार मे तैरती है। जिस तरह अनुकूल पवन का सहारा मिलने से

नौका पार पहुँचती है, उसी तरह ऐसी आत्मा संसार के पार पहुँचती है और वहाँ उसके सर्व दुःखो का अन्त होता है।

से हु चक्खु मणुस्साणं, जे कंखाए य अंतए।
अन्तेण खुरो वहई, चक्कं अन्तेण लोट्टई ॥४॥
अन्ताणि धीरा सेवन्ति, तेण अन्तकरा इह ॥५॥

[सू० श्रु० १, अ० १५, गा० १४-१५]

जो मनुष्य (भावना-बल से) भोगेच्छा का—वासना का अन्त करता है, वह अन्य मनुष्यो के लिए चक्षुरूप होता है, अर्थात् मार्ग-द्रष्टा बनता है।

उस्तरा अपने अन्त भाग पर अर्थात् धार पर चलता है। गाड़ी का पहिया भी अपने अन्त भाग पर अर्थात् धार पर चलता है। वैसे ही महापुरुषों का जीवन अन्तिम सत्यों पर चलता है और ससार का अन्त करनेवाला होता है।

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो ॥६॥

[उत्त० अ० १६, गा० १५]

जन्म दुःख है, जरा भी दुःख है, रोग और मृत्यु आदि भी दुःख है। अहो! यह समस्त संसार दुःखमय है, जिसमे प्राणी बहुत क्लेश पा रहे हैं।

इमं सरीरं अणिच्चं, असुई असुइसंभवं,
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥७॥

[उत्त० अ० १६, गा० १२]

यह शरीर अनित्य है, अपवित्र है, और अशुचि से इसकी उत्पत्ति है। एव यह शरीर दुःख और क्लेशो का भाजन है तथा इसमें जीव का निवास भी अशाश्वत है।

गब्भाइ मिज्जंति वुयावुयाणा,
णरा परे पंचसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम-थेरगा य,
चयंति ते आउक्खए पलीणा ॥८॥

[सू० श्रु० १, अ० ७, गा० १०]

कितने जीव गर्भावस्था मे, कितने जीव दूध पीते बच्चों की अवस्था में, तो कितनेक जीव पचशिख कुमारो की अवस्था मे मरण को प्राप्त होते हैं। फिर कितने युवा, प्रौढ (अवेड़) और वृद्ध होकर मरते हैं। इस तरह आयुष्य-क्षय होने पर मनुष्य हरेक हालत मे अपना देह छोड देता है।

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य ॥९॥

[उत्त० अ० १८, गा० १४]

स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र, और बान्धव सर्व जीनेवाले के साथ ही जीते हैं अर्थात् उसके उपार्जन किये हुए धन से अपना जीवन-निर्वाह करते हैं, किन्तु मरे हुए के साथ कोई भी नही जाता।

तं एक्कगं तुच्छसरीरगं से,
चिईगयं दहिय उ पावगेणं।

भज्जा य पुत्तो वि य नायओ वा,

दायारमन्नं अणुसंकमन्ति ॥१०॥

[उत्त० अ० १३, गा० २५]

जीव-रहित इस तुच्छ शरीर को चिता मे रख कर अग्नि के द्वारा जलाया जाता है। फिर उसकी भार्या, पुत्र तथा ज्ञातिजन अन्य दातार के पीछे चल पडते है।

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,

न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।

एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥११॥

[उत्त० अ० १३, गा० २३]

उसके दुःख का ज्ञातिजन विभाग नही कर सकते तथा न मित्र-वर्ग, न पुत्र और न ही भ्राता आदि कुछ कर सकते है, किन्तु वह अकेला स्वयमेव उस दुःख का अनुभव करता है, क्योकि कर्ता के पीछे ही कर्म जाता है।

नीहरन्ति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया।

पियरो वि तहा पुत्ते, बन्धू रायं तवं चरे ॥१२॥

[उत्त० अ० १८, गा० १५]

हे राजन् ! पुत्रो परम दुखी होकर मरे हुए पिता को घर से बाहर निकाल देते है, इसी प्रकार मरे हुए पुत्र को पिता तथा भाई को भाई निकाल देता है। अतः तू तप का आचरण कर।

अब्भागमियम्मि वा दुहे,
अहवा उक्कमिए भवन्तिए।
एगस्स गई य आगई,
विदुमन्ता सरणं न मन्नई ॥१३॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० ३, गा० १७]

दुःख आने से अकेला ही भोगना पड़ता है अथवा आयुष्य क्षीण होने से भवान्तर मे अकेला ही जाना-आना होता है। इसलिये विवेकी पुरुष स्वजन-सम्बन्धी वर्ग को शरण-रूप नही समझता है।

चिच्चा दुपयं चउप्पयं च,
खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
सकम्मबीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुंदरपावगं च ॥१४॥

[उत्त० अ० १३, गा० २४]

यह जीव द्विपद, चतुष्पद, क्षेत्र, घर, धन-धान्य और सर्व वस्तु को छोड़ कर तथा दूसरे कर्म को साथ लेकर पराधीन अवस्था मे परलोक के प्रति प्रयाण करता है और वही कर्म के अनुसार अच्छी या बुरी गति को प्राप्त करता है।

माया पिया ण्हुसा भाया,
भज्जा पुत्ता य ओरसा।

नालं ते मम ताणाए,
लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥१५॥
[उत्त० अ० ६, गा० ३]

अपने कर्मो के अनुसार दुःख भोगने के समय माता, पिता, स्नुषा (पुत्र-वधू), भार्या तथा अपने अग से उत्पन्न हुआ पुत्र—ये सब मेरी रक्षा करने मे समर्थ नही हो सकते। अर्थात् कर्मफल के भोग मे ये बिल्कुल हस्तक्षेप नही कर सकते।

सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥१६॥
[उत्त० अ० १४, गा० ३९]

यदि यह सारा जगत् तेरा हो जाय, सारे धनादि पदार्थ भी तेरे पास हो जायँ, तो भी ये सर्व अपर्याप्त ही है। वे सर्व पदार्थ मरणादि कष्टो के समय तेरी किसी प्रकार की रक्षा करने मे समर्थ नही हैं।

चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं।
चिच्चा ण अंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए ॥१७॥
[सू० श्रु० १, अ० ९, गा० ७]

विवेकी पुरुष धन, पुत्र, ज्ञातिजन, परिग्रह और आन्तरिक विषाद को छोड निरपेक्ष बने तथा सयमादि अनुष्ठान करे।

वन्धप्पमुक्खो अज्झत्थेव ॥ १८ ॥
[आ० अ० ५, उ० २

"वन्धन से मुक्त होना" यह कार्य अपनी आत्मा से ही होता है।

एगब्भूओ अरण्णे वा, जहा उ चरई मिगो।
एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥१६॥

[उत्त० अ० १६, गा० ७८]

(विरक्त मनुष्य को ऐसी भावना होनी चाहिये कि) जैसे मृग अरण्य मे अकेला ही विचरता है, उसी प्रकार मैं भी चारित्ररूप वन मे सयम और तप के साथ धर्म का पालन करता हुआ एव आत्मा को अकेली मानता हुआ विचरण करूंगा।

तं मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया,
माणुस्सएसु कामभोगेसु।
सज्जह रज्जह गिज्झह,
मुज्झह अज्झोववज्जह ॥२०॥

[ज्ञा० अ० ८]

इसलिये हे देवानुप्रिय ! तू मानुषिक कामभोगो मे आसक्त न वन, रागी न वन, गृद्ध न वन, मूर्च्छित न वन और अप्राप्त भोग प्राप्त करने की लालसा भी न कर।

धारा : ३६ :

लेश्या

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं ॥१॥

[उत्त० अ० ३४, गा० ३]

छओ लेश्याओ के नाम अनुक्रम से इस प्रकार है—(१) कृष्णलेश्या, (२) नीललेश्या, (३) कापोतलेश्या, (४) तेजोलेश्या, (५) पद्मलेश्या और (६) शुक्ललेश्या।

विवेचन—आत्मा का सहज रूप स्फटिक के समान निर्मल है। किन्तु कृष्ण आदि रगवाले पुद्गलो के सम्बन्ध से उस का जो परिणाम होता है, उसको लेश्या कही जाती है। ये लेश्याये कर्मों की स्थिति का कारण है [कर्मस्थितिहेतवो लेश्याः]। तेरहवे गुणस्थानक तक इन लेश्याओ का सद्भाव रहता है, और जिस समय यह आत्मा अयोगी बनती है, अर्थात् चौदवे गुणस्थान को प्राप्त करती हैं, उसी समय वह लेश्याओ से रहित हो जाती है।

जीमूयनिद्धसंकासा, गवलरिट्ठगसन्निभा।
खंजांजणनयणनिभा, किण्हलेसा उ वण्णओ ॥२॥

नीलासोगसंकासा, चासपिच्छसमप्पभा ।
वेरुलियनिभसंकासा, नीललेसा उ वण्णओ ॥३॥

अयसीपुप्फसंकासा, कोईलच्छदसन्निभा ।
पारेवयगीवनिभा, काऊलेसा उ वण्णओ ॥४॥

हिंगुलधाउसंकासा, तरुणाइच्चसन्निभा ।
सुयतुंडपईवनिभा, तेओलेसा उ वण्णओ ॥५॥

हरियालभेयसंकासा, हलिद्दाभेयसमप्पभा ।
सणासणकुसुमनिभा, पम्हलेसा उ वण्णओ ॥६॥

संखंककुंदसंकासा, खीरपूरसमप्पभा ।
रययहारसंकासा, सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥७॥

[उत्त० अ० ३४, गा० ४ से ९]

कृष्णलेश्या का वर्ण जलयुक्त मेघ, महिष का शृंग, काक पक्षी, अरीठा, शकट की कीट, काजल और नेत्रतारा के समान कृष्ण होता है ।

नीललेश्या का वर्ण नील अशोक वृक्ष, चास पक्षी की पंख और स्निग्ध वैडूर्यमणि के समान नील होता है ।

कापोतलेश्या का वर्ण अलसी के पुष्प, कोयल के पर और कबूतर की ग्रीवा (गर्दन) के समान कत्थई (किंचित् कृष्ण और किंचित् रक्त) होता है ।

तेजोलेश्या का वर्ण हिंगुल धातु, तरुण सूर्य, तोते की चोंच और दीपशिखा के रंग समान रक्त होता है।

पद्मलेश्या का वर्ण हरिताल, हल्दी के टुकडे तथा सण और असन के पुष्प समान पीला होता है।

शुक्ललेश्या का वर्ण शंख, अंकरत्न, मुचकुन्द पुष्प, दुग्धधारा तथा रजत के हार के समान उज्ज्वल-श्वेत होता है।

जह कडुयतुंबगरसो, निंबरसो कडुयरोहिणिरसो वा।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो य किण्हाए नायव्वो ॥८॥

जह तिगडुयस्स य रसो, तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ नीलाए नायव्वो ॥९॥

जह तरुणअंबगरसो, तुवरकविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ काऊए नायव्वो ॥१०॥

जह परिणयंबगरसो, पक्ककविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ तेऊए नायव्वो ॥११॥

वरवारुणीए व रसो, विविहाण व आसवाण जारिसओ।
महुमेरगस्स व रसो, एत्तो पम्हाए परएणं ॥१२॥

खज्जूरमुद्दियरसो, खीररसो खंडसक्कररसो वा।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ सुक्काए नायव्वो ॥१३॥

[[illegible]]

जितना कटु रस कौडे तूंबे, निम्ब और कटुरोहिणी का होता है, उससे भी अनन्तगुण अधिक कटु रस कृष्णलेश्या का होता है।

नीललेश्या के रस को मघ, मिर्च और सोंठ तथा गजपीपल के रस से भी अनन्तगुण तीक्ष्ण समझना चाहिये।

कापोतलेश्या के रस को कच्चे आम के रस, तुवर और कैथ के रस से भी अनन्तगुण खट्टा समझना चाहिये।

तेजोलेश्या के रस को पके हुए आम्रफल अथवा पके हुए कैथ के रस से भी अनन्तगुण खट्टा-मीठा समझना चाहिये।

पद्मलेश्या के रस को प्रधान मदिरा, नाना प्रकार के आसव तथा मधु और मैरेयक नाम की मदिरा से भी अनन्तगुण मधुर समझना चाहिये।

शुक्ललेश्या के रस को खजूर, दाख, दूध, खाँड और शक्कर के रस से भी अनन्तगुण मीठा समझना चाहिये।

जह गोमडस्स गंधो, सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स ।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥१४॥
जह सुरहिकुसुमगंधो, गंधवासाण पिस्समाणाणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥१५॥

[उत्त० अ० ३४, गा० १६-१७]

जैसी खराब गन्ध मृतक गो, अथवा मरे हुए कुत्ते की, अथवा मरे हुए सर्प की होती है, उससे भी अनन्तगुण अधिक खराब गन्ध अप्रशस्त लेश्याओं की होती है।

जैसी सुन्दर गन्ध केवडा आदि सुगन्धित पुष्पो की अथवा सुगन्ध-युक्त पिसे हुए चन्दनादि पदार्थों की होती है, उससे भी अनन्तगुण-अधिक सुन्दर गन्ध तीनो प्रशस्त लेश्याओ की होती है ।

जह करगयस्स फासो, गोजिब्भाए य सागपत्ताणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥१६॥
जह बूरस्स व फासो, नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥१७॥

[उत्त० अ० ३४, गा० १८-१९]

जैसा कर्कश स्पर्श आरा, गाय की जीभ और सागौन के पत्तो का होता है, उनसे अनन्त गुण अधिक कर्कश स्पर्श अप्रशस्त लेश्याओ का होता है ।

जैसा कोमल स्पर्श बूर (वनस्पतिविशेष), मक्खन और सिरस के पुष्पो का होता है, उनसे अनन्त गुण अधिक कोमल स्पर्श तीनो प्रशस्त लेश्याओ का होता है ।

पंचासवप्पवत्तो, तीहिं अगुत्तो छसुं अविरयो य ।
तिव्वारंभपरिणओ, खुद्दो साहसिओ नरो ॥१८॥
निद्धंसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदियो ।
एयजोगसमाउत्तो, किण्हलेसं तु परिणमे ॥१९॥

[उत्त० अ० ३४, गा० २१-२२]

पाँचों आस्रवो मे प्रवृत्त, तीनो गुप्तिओ से अगुप्त, षड्काय की हिंसा मे आसक्त, उत्कट भावो से हिंसा करनेवाला, क्षुद्रबुद्धि, बिना

विचारे काम करनेवाला, निर्दयी, पाप कृत्यों मे शंकारहित, अजितेन्द्रिय और इन क्रियाओं से युक्त जो पुरुष है वह कृष्णलेश्या के भावों से परिणत होता है, अर्थात् वह कृष्णलेश्यावाला होता है।

इस्सा अमरिस अतवो, अविज्जमाया अहीरिया।
गेही पओसे य सढे, रसलोलुए सायगवेसए ॥२०॥
आरंभाओ अविरओ, खुद्दो साहसिओ नरो।
एयजोगसमाउत्तो, नीललेसं तु परिणमे ॥२१॥

[उत्त० अ० ३४, गा० २३-२४]

नीललेश्या के परिणामवाला पुरुष ईर्षालु, कदाग्रही, अतपस्वी, अज्ञानी, मायावी, निर्लज्ज, विषय-लम्पट, द्वेषी, रसलोलुपी, शठ (धूर्त), प्रमादी, स्वार्थी, आरम्भी, क्षुद्र और साहसी होता है।

वंके वंकसमायारे, नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचगओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥२२॥
उप्फालगदुट्ठवाई य, तेणे यावि य मच्छरी।
एयजोगसमाउत्तो, काऊलेसं तु परिणमे ॥२३॥

[उत्त० अ० ३४, गा० २५-२६]

जो पुरुष वक्र बोलता है, वक्र आचरण करता है, छल करनेवाला है, निजी दोषों को छिपाता है, सरलता से रहित है, मिथ्यादृष्टि तथा अनार्य है, इसी प्रकार दूसरों के मर्मों का भेदन करनेवाला, दुष्ट बोलनेवाला, चोरी और असूया करनेवाला है; वह कापोतलेश्या मे युक्त होता है।

नीयाविची अचवले, अमाई अकुऊहले ।
विणीयविणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥२४॥
पियधम्मे दढधम्मेऽवज्जभीरू हिएसए ।
एयजोगसमाउत्तो, तेओलेसं तु परिणमे ॥२५॥

[उत्त० अ० ३४, गा० २७-२८]

नम्रता का वर्ताव करनेवाला, चपलता से रहित, अमायी, अकुतूहली, परम् विनयवान्, इन्द्रियो का दमन करनेवाला, स्वाध्याय मे रत और उपधान आदि करनेवाला, धर्म मे प्रेम और दृढता रखनेवाला, पापभीरु और सबो का हित चाहनेवाला पुरुष तेजोलेश्या के परिणामो से युक्त होता है।

पयणुकोहमाणे य, मायालोभे य पयणुए ।
पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥२६॥
तहा पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए ।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥२७॥

[उत्त० अ० ३४, गा० २९-३०]

जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत अल्प है, तथा जो प्रशान्त चित्त और मन का निग्रह करनेवाला है, जो योग मे रत और उपधान आदि करनेवाला है, जो अतिअल्पभाषी, उपशान्त और जितेन्द्रिय है, इन लक्षणो से युक्त है वह पुरुष पद्मलेश्यावाला होता है।

अट्टरुद्दाणि वज्जिता, धम्मसुक्काणि झायए।
पसंतचित्त दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्ति सु ॥२८॥
सरागो वीयरागो वा, उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥२९॥

[उत्त० अ० ३४, गा० ३१-३२]

आर्त और रुद्र इन दो ध्यानो को त्याग कर जो पुरुष धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानों का आसेवन करता है तथा प्रशान्तचित्त, दमितेन्द्रिय, पाँच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त एवं अल्परागवान् अथवा वीतरागी, उपशमनिमग्न और जितेन्द्रिय है वह शुक्ललेश्या से युक्त होता है।

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जई ॥३०॥

[उत्त० अ० ३४, गा० ५६]

कृष्ण, नील और कापोत ये तीनों अधर्मलेश्या हैं। इन लेश्याओं से यह जीव दुर्गति मे उत्पन्न होता है।

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई ॥३१॥

[उत्त० अ० ३४, गा० ५७]

तेज, पद्म और शुक्ल, ये तीनों धर्मलेश्या हैं। इन लेश्याओं से यह जीव सद्गति मे उत्पन्न होता है।

लेसाहिं सव्वाहिं, पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
न हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥३२॥
लेसाहिं सव्वाहिं, चरम समयम्भि परिणयाहिं तु ।
न हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥३३॥
अंतमुहुत्तंमि गए, अंतमुहुत्तंमि सेसए चेव ।
लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छन्ति परलोयं ॥३४॥

[उत्त० अ० ३४, गा० ५८ से० ६०]

सर्व लेश्याओ की प्रथम समय मे परिणति होने से किसी भी जीव की परलोक मे उत्पत्ति नही होती, अर्थात् यदि लेश्या को आये हुए एक समय हुआ हो तो उस समय जीव परलोक की यात्रा नही करता ।

सर्व लेश्याओ की परिणति मे अन्तिम समय पर किसी भी जीव की उत्पत्ति नही होती ।

अन्तर्मूहूर्त के बीत जाने पर और अन्तर्मूहूर्त के शेष रहने पर लेश्याओ के परिणत होने से, जीव परलोक मे गमन करते है ।

तम्हा एयासि लेसाणं, अणुभावे वियाणिया ।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणी ॥३५॥

[उत्त० अ० ३४, गा० ६१]

इसलिए इन लेश्याओ के अनुभाव (रसविशेष) को जानकर साधु अप्रशस्त लेश्याओ को छोड़कर प्रशस्त लेश्याओ को स्वीकार करे ।

धारा : ३७ :

मृत्यु

माणुस्सं च अणिच्चं, वाहिजरामरणवेयणापउरं ॥१॥

[औप० सू० ३४]

मनुष्य देह अनित्य (क्षणभंगुर) है तथा व्याधि, जरा, मरण और वेदना से पूर्ण है ।

डहरा वुड्ढा य पासह,
गब्भत्था वि चयन्ति माणवा ।
सेणं जह वट्टयं हरे,
एवं आउखयम्मि तुट्टई ॥२॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० १, गा० २]

देखो—जगत् की ओर दृष्टिपात करो । बालक और वृद्ध सभी मृत्यु को प्राप्त होते हैं । कई मनुष्य के तो गर्भावस्था में ही अवसान हो जाता है । जैसे बाज पक्षी तितर पर झपटा लगा के उनका संहार करता है, ठीक वैसे ही आयुष्य का क्षय होने पर मृत्यु मनुष्य पर चोट लगाता है और उनका प्राण हरता है ।

जहेह सीहो य मिगं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिता य भाया,
कालम्मि तम्मं सहरा भवन्ति ॥३॥
[उत्त० अ० १३, गा० २२]

जैसे इस लोक मे सिंह मृग को पकड कर ले जाता है, उसी प्रकार मृत्यु अन्त समय मे मनुष्य को पकड़ कर परलोक में ले जाती है। उस समय उसके माता, पिता, भ्राता आदि कोई भी सहायक नहीं हो सकते।

इह जीविए राय असासयम्मि,
धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए,
धम्मं अकाऊण परंमि लोए ॥४॥
[उ० अ० १३, गा० २१]

हे राजन् ! इस अशाश्वत जीवन मे पुण्य को न करनेवाला जीव मृत्यु के मुख मे पहुँचकर सोच करता है और धर्म को न करनेवाला जीव परलोक मे जा कर सोच करता है।

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सोहु कंखे सुए सिया ॥५॥
[उत्त० अ० १४, गा० २७]

जिसकी मृत्यु से मित्रता है, जो मृत्यु से भाग सकता है तथा जिसको यह ज्ञान है कि मैं नहीं मरूंगा, वही कल (आगामी दिवस) की आशा कर सकता है।

अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणापराघाते।
फासे आणापाण्णू, सत्तविहं झिज्जए आउं ॥६॥

[स्था० स्था० ७]

सात कारणों से जीव की अकाल मृत्यु होती है—(१) हार्दिक भावना को आघात पहुँचने से, (२) शस्त्रादि का प्रहार होने से, (३) ज्यादा आहार करने से, (४) वेदना बढ जाने से, (५) गड्ढा आदि में गिर पड़ने से, (६) कोई कठिन वस्तु की सख्त चोट लगने से और (७) श्वासोच्छ्वास का रुंधन होने से।

सत्थग्गहणं विसभक्खणं च,
जलणं च जलपवेसो य।
अणायारभंडसेवी,
जम्मणमरणाणि बंधंति ॥७॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २६७]

शस्त्रग्रहण, विष-भक्षण, अग्नि में झंपापात, और जल में प्रवेश तथा आचार-भ्रष्टता आदि के द्वारा जो जीव मृत्यु को प्राप्त करते हैं, वे जन्म-मरण की वृद्धि करते है।

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥८॥

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥९॥

[उत्त० अ० ५, गा० १४-१५]

जैसे कोई एक गाडीवान् राजमार्ग को भली प्रकार से जानता हुआ भी उसको छोडकर विषम मार्ग की ओर चल पडा, परन्तु उस विषम मार्ग से जाने पर उसके गड्डे की धुरी टूट गई। उसके टूट जाने पर वह शोक करने लगा। इसी प्रकार धर्म को छोड और अधर्म को ग्रहण करके, मृत्यु के मुख मे पहुँचा हुआ अज्ञानी जीव धुरी के टूट जाने पर गाडीवान् की तरह शोक-सन्ताप को प्राप्त होता है।

सन्तिमे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणन्तिया ।
अकाममरणं चेव, सकाममरणं तहा ॥१०॥
बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे ।
पण्डियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ॥११॥

[उत्त० अ० ५, गा० २-३]

मरणान्त के ये दो स्थान (जिन महर्षिओं द्वारा) कहा गया है—एक अकाममरण और दूसरा सकाममरण।

अज्ञानियो का अकाममरण अनेक वार होता है, किन्तु पडितों का सकाममरण तो उत्कर्ष से एक ही वार होता है।

तओ से मरणन्तम्मि, बाले संतस्सई भया ।
अकाममरणं मरई, धुत्तेव कलिणा जिए ॥१२॥

[उत्त० अ० ५, गा० १६]

उसके अनन्तर वह अबोध प्राणी मृत्यु के आ जाने पर भय से बहुत त्रास पाता है और एक ही दाव मे हार जानेवाले जुआरी की तरह शोक-सन्ताप को प्राप्त होता हुआ अकाममरण से मरता है।

न इमं सव्वेसु भिक्खुसु, न इमं सव्वेसु गारिसु।
नाणासीला अगारत्था, विसमसीला य भिक्खुणो ॥१३॥

[उत्त० अ० ५, गा० १६]

यह पण्डितमरण सभी भिक्षुओं को प्राप्त नही होता और न सब गृहस्थों को, क्योंकि गृहस्थ नाना प्रकार के नियमोवाले होते हैं और भिक्षु विषम आचारवाले होते हैं। तात्पर्य यह है कि पण्डितमरण की प्राप्ति सब को नही हो सकती, किसी-किसी को ही हो सकती है।

न संतसंति मरणंते, सीलवन्ता बहुस्सुया ॥१४॥

[उत्त० अ० ५, गा० २६]

शील-संपन्न बहुश्रुत पुरुष मरण के समय त्रास नहीं पाते।

तुलिया विसेसमादाय, दयाधम्मस्स खन्तिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी, तहाभूएण अप्पणा ॥१५॥

[उत्त० अ० ५, गा० ३०]

बुद्धिमान् पुरुष अकाम और सकाम—इन दोनो मृत्युओं को तोल कर इन दो मे से विशेष को अर्थात् सकाममरण को ग्रहण करे और क्षमा के द्वारा दयाधर्म को बढाकर ऐसी उन्नत आत्मा से आत्मा को प्रसन्न करे।

कंदप्पमाभिओगं च, किव्विसियं मोहमासुरत्तं च ।
एयाउ दुग्गईओ, मरणम्मि विराहिया होंति ॥१६॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २५६]

कन्दर्प-भावना, अभियोग-भावना, किल्विष-भावना, मोह-भावना और आसुरत्व-भावना—ये भावनाएं दुर्गति की हेतुभूत होने से दुर्गति रूप ही कही जाती हैं । वे मरण के समय विराधक होती है ।

कंदप्पकुक्कुयाइं तह, सीलसहावहासविगहाहिं ।
विम्हावेंतो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥१७॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २६२]

जो कन्दर्प, कौत्कुच्य, शील, स्वभाव, हास्य और विकथाओ से अन्य आत्माओं मे विस्मय उत्पन्न करता है, वह कन्दर्प-भावना का आचरण करता है ।

विवेचन—कन्दर्प अर्थात् व्यंग से बोलना । कौत्कुच्य अर्थात् दूसरों को हंसाने के लिये भ्रू, नयन और मुख की चेष्टा करना । शील अर्थात् निरर्थक चेष्टा । स्वभाव अर्थात् विस्मयोत्पादक चेष्टा । हास्य अर्थात् अट्टहास्य । विकथा अर्थात् स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा और राज-कथा ।

मंता जोगं काउं, भूईकम्मं च जे पउंजंति ।
साय-रस-इड्ढि-हेउं, अभिजोगं भावणं कुणइ ॥१८॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २६४]

जो शाता, रस और ऋद्धि के लिए मंत्र और अभिमन्त्रित भस्म का प्रयोग करता है, वह अभियोग-भावना -का आचरण करता है।

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स संघसाहूणं ।
माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥१९॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २६५]

सर्व प्रकार के ज्ञान, केवलज्ञानी, धर्माचार्य, संघ और साधुओं की निन्दा करनेवाला मायावी जीव किल्विष-भावना का आचरण करता है।

विवेचन—शस्त्र-ग्रहण, विष-भक्षण आदि से मरने का विचार करनेवाला मोह-भावना का आचरण करता है।

अणुबद्धरोसपसरो, तह य निमित्तम्मि होइ पडिसेवी ।
एएहिं कारणेहिं, आसुरीयं भावणं कुणइ ॥२०॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २६६]

निरन्तर रोष का विस्तार करनेवाला और त्रिकाल निमित्त का सेवन करनेवाला जीव, इन कारणों से आसुरत्व-भावना को उत्पन्न करता है।

बालमरणाणि बहुसो, अकाममरणाणि चेव बहुयाणि ।
मरिहंति ते वराया, जिणवयणं जे न जाणंति ॥२१॥

[उत्त० अ० ३६, गा० २६१]

जो जीव जिन-वचन को नहीं जानते, वे बिचारे अनेक बार बालमरण और अकाममरण को प्राप्त होते हैं।

—०—

धारा : ३८ :

परभव

तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं ।
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छइ उ परं भवं ॥१॥

[उत्त० अ० १८, गा० १७]

उसने—जीव ने शुभ अथवा अशुभ जो भी कर्म किया है, उस कर्म से संयुक्त हुआ वह परलोक को चला जाता है ।

अद्धाणं जो महंतं तु, अपाहेज्जो पवज्जई ।
गच्छंतो सो दुही होइ, छुहातण्हाइपीडिओ ॥२॥
एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहिरोगेहिं पीडिओ ॥३॥
अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेज्जो पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहातण्हाविवज्जिओ ॥४॥
एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥५॥

[उत्त० अ० १९, गा० १९ से २२]

जो कोई पुरुप पाथेय-रहित किसी महान् मार्ग का अनुसरण करता है, वह मार्ग मे चलता हुआ क्षुधा और तृष्णा से पीड़ित हो कर दुःखी होता है।

इसी प्रकार धर्म का आचरण किये विना जो जीव परलोक मे जाता है, वह जाता हुआ (वहाँ जा कर) व्याधि और रोगादि से पीड़ित होने पर दुःखी होता है। (यहाँ व्याधि से मानसिक कष्ट और रोग से शारीरिक पीड़ा का ग्रहण करना।)

जो कोई पुरुप पाथेययुक्त हो कर किसी महान् मार्ग का अनुसरण करता है, वह मार्ग मे क्षुधा और तृष्णा की वाधा से रहित होता हुआ सुखी होता है।

इसी प्रकार जो जीव धर्म का संचय कर के परलोक को जाता है, वह वहाँ जा कर सुखी होता है और असातावेदनीय कर्म अल्प होने से विशेप वेदना को भी प्राप्त नही होता।

इह जीवियं अणियमेत्ता, पब्भट्ठा समाहिजोएहिं।
ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काये ॥६॥
[उत्त० अ० ८, गा० १४]

जिन जीवों ने (साधु-वृत्ति को ग्रहण कर के भी) अपने असयमी जीवन को (वारह प्रकार के तप द्वारा) वश मे नही किया, वे काम-भोगों के रस मे मूर्च्छित होते हुए समाधियोगों से सर्वथा भ्रष्ट होकर असुर-कुमारों मे उत्पन्न होते हैं।

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी,
पावाइं कम्माइं करेन्ति रुद्दा।

ते घोररूवे तमिसंधयारे,
तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥७॥
[सू० श्रु० १, अ० ५, उ० १, गा० ३]

जो अज्ञानी मनुष्य अपने जीवन-निर्वाह के लिए क्रूर होते हुए पापकर्म करते हैं, वे तीव्र दुःख से भरे हुए घोर अन्धकारमय नरक मे गिरते हैं।

मा पच्छ असाधुता भवे,
अच्चेही अणुसास अप्पगं।
अहियं च असाहु सोयई,
से थणाई परिदेवई वहुं ॥८॥
[सू० श्रु० १, अ० २, उ० ३, गा० ७]

परलोक मे दुर्गति की प्राप्ति न हो, इस विचार से विषय-सग को दूर करो और आत्मा का अनुशासन करो। दुष्ट कर्मो से दुर्गति मे गया हुआ जीव शोक करता है, आक्रंद करता है और बहुत विलाप भी करता है।

जहाऽऽएसं समुद्दिस, कोइ पोसेज्ज एलयं।
ओयणं जवसं देज्जा, पोसेज्जावि सयंगणे ॥६॥
तओ से पुट्ठे परिवूढे, जायमेए महोदरे।
पीणिए विउले देहे, आएसं परिकंखए ॥१०॥

जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ से दुही ।
अह पत्तम्मि आएसे, सीसं छेत्तूण भुञ्जई ॥११॥
जहा से खलु ओरब्भे, आएसाए समीहिए ।
एवं वाले अहम्मिट्ठे, ईहई नरयाउयं ॥१२॥

[उत्त० अ० ७, गा० १ से ४]

जैसे कोई पुरुष किसी अतिथि आदि के निमित्त अपने घर मे वकरा को पालता है और उसको जौ आदि अच्छे पदार्थ खाने को देता है। वाद मे जब वह वकरा पुष्ट सामर्थ्यवान्, चर्वीवाला, वडा पेटवाला और स्थूल देहवाला हो जाता है तव पालक अतिथि की प्रतीक्षा करता है।

जव तक घर मे अतिथि नही आता तव तक वह वकरा जीता है, किन्तु अतिथि के आने पर वह दुःखी सिर छेदन करके खाया जाता है।

जिस तरह वह वकरा अतिथि के लिए कल्पित है, उसी तरह अज्ञानी अधर्मिष्ठ जीव नरकायुष के लिए कल्पित है। तात्पर्य यह कि ऐसा जीव अवश्य नरक मे जाता है।

हिंसे वाले मुसावाई, अद्धाणंमि विलोवए ।
अन्नदत्तहरे तेणे, माई कं नु हरे सढे ॥१३॥
इत्थीविसयगिद्धे य, महारम्भपरिग्गहे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे ॥१४॥

अयकक्करभोई य, तुंदिल्ले चियलोहिए ।
आउयं नरकं कंखे, जहाऽऽएसं व एलए ॥१५॥

[उत्त० अ० ७, गा० ५ से ७]

जो अज्ञानी हिंसा करनेवाला, झूठ बोलनेवाला, मार्ग मे लूटनेवाला, विना दिये किसी की वस्तु उठानेवाला, चोरी करनेवाला, छल-कपट करनेवाला, और 'किसकी चोरी करूं' ऐसा दुष्ट विचार करनेवाला, फिर स्त्री और विषयो मे आसक्त, महान् आरम्भ और परिग्रह करने वाला, मदिरा तथा मास का सेवन करनेवाला, बलवान होकर दूसरों को दवानेवाला तथा भुजे हुए चने की तरह बकरे का मास खानेवाला, वडा पेटवाला और पुष्ट शरीरवाला है, वह नरकायु की आकाक्षा करता है, जिस तरह पोषा हुआ बकरा अतिथि की। तात्पर्य यह की उसकी दुर्गति निश्चित है ।

असणं सयणं जाणं, वित्तं कामे य भुंजिया ।
दुस्साहडं धणं हिच्चा, बहुं संचिणिया रयं ॥१६॥
तओ कम्मगुरू जंतु, पच्चुप्पन्नपरायणे ।
अय व्व आगयाएसे, मरणंतम्भि सोयई ॥१७॥

[उत्त० अ० ७, गा० ८-९]

जिसने विविध प्रकार के आसन, शय्या और वाहन का उपभोग किया है एव सपत्ति और शब्दादि विषयो को अच्छी तरह भोग लिया है, वह बहुत कर्म-रज का सचय करके और अति कष्ट से एकत्रित किया हुआ धन इधर छोड के मरण के समय ऐसा शोक-

सताप करता है, जैसा कि अतिथि के लिए पोपा हुआ बकरा मरने के समय मे।

तओ आउपरिक्खीणे, चुयादेहा विहिंसगा।
आसुरियं दिसं बाला, गच्छन्ति अवसा तमं ॥१८॥

[उत्त० अ० ७, गा० १०]

अनन्तर वे हिंसादि में प्रवृत्ति रखनेवाले अज्ञानी जीव आयु के क्षय होने से शरीर को छोड कर कर्मों के अधीन होते हुए अन्धकार-युक्त नरक दिशा-नरक गति को प्राप्त होते हैं।

जहा कागिणिए हेउं, सहस्सं हारए नरो।
अपत्थं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए ॥१९॥
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अन्तिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामा य दिव्विया ॥२०॥
अणेगवासानउया, जा सा पण्णवओ ठिई।
जाणि जीयन्ति दुम्मेहा, ऊणे वाससयाउए ॥२१॥

[उत्त० अ० ७, गा० ११ से १३]

जैसे एक काकिणी* के लिए कोई अज्ञानी मनुष्य हजार (कार्षापण ÷) को खो देता है और कुपथ्यरूप आम्र के फल को खाकर राजा राज्य (प्राण) खो ही देता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव थोड़े से विषयजन्य सुखों के निमित्त देवलोक के महान् सुख को खो देता है।

---

* ८०काकिणी = १ कार्षापण। ÷ भारत का एक पुराना सिक्का।

ऐसे मनुष्यो को समझना चाहिये कि मानुषिक काम-भोग देवों के काम-भोगो के सामने सहस्त्रगुण अधिक करने पर भी न्यून हैं तथा देवो की आयु और उनके काम-भोग दिव्य है।

प्रज्ञावान् अर्थात् ज्ञान-क्रिया आराधक आत्मा मृत्यु के बाद देव-लोक मे जाता है और वहाँ उनकी स्थिति अनेक नयुत वर्षों तक अर्थात् अमुक पल्योपम वा सागरोपम तक होती है। उसको मूर्ख मनुष्य कुछ कम सौ वर्ष की आयु मे विषयभोगो के वशीभूत होकर हार देते हैं।

विवेचन—काकिणी और आम्रफल के दृष्टान्त उत्तराध्ययन सूत्र की वृहद्वृत्ति से देखना चाहिये।

जहा य तिन्नि वणिया, मूल घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाभं, एगो मूलेण आगओ ॥२२॥
एगो मूलं वि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥२३॥

[उत्त० अ० ७, गा० १४-१५]

किसी समय मे तीन व्यापारी अपनी-अपनी मूल पूंजी को लेकर व्यापार के निमित्त विदेश मे गए। उन तीनो मे से एक को तो व्यापार मे लाभ हुआ, दूसरा अपनी मूल पूंजी को कायम रखता हुआ घर को आ गया और तीसरा मूलधन को भी खो करके घर आ गया। यह जैसे व्यावहारिक उपमा है, उसी प्रकार धर्म के विषय मे भी समझना।

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ॥२४॥

[उत्त॰ अ॰ ७, गा॰ १६]

मनुष्यत्व यह मूल धन है और लाभ के समान देवत्व की प्राप्ति है। अतः मूल के नाश होने से इन जीवों को नरकगति और तिर्यंच गति की ही प्राप्ति होती है।

दुहओ गई बालस्स, आवईवहमूलिया।
देवत्तं माणुसत्तं च, जं जिए लोलयासढे ॥२५॥
तओ जिए सई होइ, दुविहं दुग्गइं गए।
दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाए सुचिरादवि ॥२६॥

[उत्त॰ अ॰ ७, गा॰ १७-१८]

देवत्व और मनुष्यत्व को हार जानेवाले धूर्त और लोलुप बाल अज्ञानी जीव की नरक और तिर्यंच ये दो गतियाँ होती हैं। इनमें से एक [illegible] और दूसरी [illegible] है।

एवं जिय सपेहाए, तुलिया बालं च पंडियं।
मूलियं ते पवेसन्ति, माणुसिं जोणिमेन्ति जे ॥२७॥

[उत्त॰ अ॰ ७, गा॰ १९]

इस प्रकार [illegible] हुए को देखकर बाल और पण्डित की [illegible] अपनी बुद्धि से [illegible] [illegible] ते हैं, वे [illegible] [illegible] हैं।

वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहिसुव्वया ।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥२८॥

[उत्त० अ० ७, गा० २०]

जो मनुष्य विविध प्रकार की शिक्षा द्वारा गृहस्थ-जीवन मे भी सुव्रती है, वे मनुष्य-योनि को प्राप्त होते है। निश्चय ही कर्म सत्य है अर्थात् जैसे वे किये जाते है, वैसे ही फल देते हैं।

जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलं ते अइच्छिया ।
सीलवन्ता सविसेसा, अदीणा जन्ति देवयं ॥२९॥

[उत्त० अ० ७, गा० २१]

जिन जीवो की शिक्षाएं अधिक विस्तृत हो गई हैं और जो सदाचारी, विशेष गुणों से युक्त और दीनता से रहित हैं, वे मूल धन का अतिक्रमण करते हुए देवलोक मे चले जाते हैं।

अगारि सामाइयंगाइं, सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए ॥३०॥
एवं सिक्खा समावन्ने, गिहिवासे वि सुव्वए ।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥३१॥

[उत्त० अ० ५, गा० २३-२४]

श्रद्धावान् गृहस्थ काया से सामायिक के अगो का सेवन करे, दोनों पक्षो मे पौषध करे, परन्तु एक रात्रि तो कभी भी हीन न करे, अर्थात् एक मास मे एक रात्रि भर तो संवररूप से धर्मजागरण अवश्य करे।

इन प्रकार शिक्षायुक्त सुव्रती जीव गृहस्थाश्रम मे रहता हुआ भी इस औदारिक शरीर को छोडकर यक्षलोक अर्थात् देवलोक मे चला जाता है।

गारं पि अ आवसे नरे,
अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते,
देवाणं गच्छे स लोगयं ॥३२॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० ३, गा० १३]

गृहस्थ भी घर मे वसता हुआ अपनी शक्ति के अनुसार प्राणियों की दया पाले, सर्वत्र समता धारण करे, नित्य अर्हत्-प्रवचन को सुने तो वह मृत्यु वाद देवलोक मे उत्पन्न होता है।

कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए।
कस्स हेउं पुराकाउं, जोगक्खेमं न संविदे ॥३३॥

[उत्त० अ० ७, गा० २४]

ये काम-भोग कुश के अग्र भाग पर रहे हुए जलविन्दु के समान है और आयु अत्यन्त सक्षिप्त है। तो फिर किस हेतु को आगे रखकर तुम योगक्षेम को नही जानते ?

विवेचन—अप्राप्त की प्राप्ति को योग और प्राप्त हुए का पालन करना क्षेम कहलाता है। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि मनुष्य की समृद्धि और आयु वहुत ही स्वल्प है। इस स्वल्प समृद्धि और आयु मे उसे जो धर्म की प्राप्ति हुई है तथा उस धर्म से जो स्वर्ग

और मोक्षसुख की आशा है उस धर्म की ओर अवश्य दृष्टि रखनी चाहिये।

पच्छा वि ते पयाया,
खिप्पं गच्छन्ति अमरभवणाइं।
जेसिं पियो तवो संजमो,
य खंती य बंभचेरं च ॥३४॥

[दश० अ० ४, गा० २८]

जिन पुरुषो को तप, सयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय है वे पिछली अवस्था मे भी दीक्षित हो जाने पर (तथा सयम-मार्ग में न्यायपूर्वक चलने से) शीघ्र ही देवलोक मे चले जाते है।

अह जे संवुडे भिक्खू, दोण्हं अन्नयरे सिया।
सव्वदुक्खपहीणे वा, देवे वावि महिड्ढिए ॥३५॥

[उत्त० अ० ५, गा० २५]

जो संवरयुक्त भिक्षु है, वह दो मे से एक गति को अवश्य प्राप्त हो जाता है। वह सर्व दुःख से रहित सिद्ध होता है, अन्यथा महा-ऋद्धि वाला देव बनता है।

इड्ढी जुई जसो वण्णो, आउं सुहमणुत्तरं।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु, तत्थ से उववज्जई ॥३६॥

[उत्त० अ० ७, गा० २७]

देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर वह पुण्यात्मा जीव मानव-कुल मे

उत्पन्न होता है कि जहाँ पर ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, आयु और अनुत्तर सुख होते हैं।

अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणइ।
विन्नाय से महावीरे, जेण जाई ण मिज्जइ ॥२७॥
[सू० श्रु० १, अ० १५, गा० ७]

जो आत्मगुप्त होकर सावद्य प्रवृत्ति नही करता है, उसको नया कर्मबन्धन नही होता है। फिर वह कर्मनिर्जरा का स्वरूप अच्छी तरह जानता है और जान के ऐसा पराक्रम करता है कि वह महावीर पुरुष को यह ससार मे न तो पुनः जन्म धारण करना पडता है और न तो पुनः मरना पड़ता है।

धारा : ३९ :

नरक की वेदना

नेरयइत्ताए कम्मं पकरेत्ता नेरइएसु उववज्जन्ति, तं जहा-महारम्भयाए महापरिग्गहयाए, पंचिंदियवहेण, कुणिमाहारेणं ॥ १ ॥

[औप० सू० ३४]

नारक योग्य कर्म कर के जीव नरक में उत्पन्न होते हैं। जैसे कि—महान् हिंसा करने से, महान् परिग्रह धारण करने से, पचेन्द्रिय जीवों के वध करने से और मास भक्षण करने से।

विवेचन—नरक का स्थान मध्यलोक के नीचे माना गया है। वह सात प्रकार का है—पहला, दूसरा यावत् सातवाँ। जिसकी उत्पत्ति नरक में होती है, उसको नारक कहते है।

जारिसा माणुसे लोए, ताया! दीसन्ति वेयणा।
एत्तो अणंतगुणिया, नरएसु दुक्खवेयणा ॥२॥

[उत्त० अ० ११, गा० ७४]

(मृगापुत्र कहता है) हे पिता! जिस प्रकार की वेदनाएं मनुष्य-लोक मे देखी जाती हैं, उनसे अनन्तगुणी अधिक दुःख-वेदनाएं नरकों मे अनुभव करने मे आती हैं।

अच्छिनिमीलियमेत्तं, नत्थि सुहं दुक्खमेव पडिवद्धं ।
नरए नेरइयाणं, अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥३॥

[जीवा० प्रति० ३, उ० ३, सू० ९५]

(यमदूत जैसे परमाधामीयों के द्वारा) रात-दिन सताये जाते नारकीय जीवों को नरक में, आँख बन्ध कर खोलते जितना समय लगता है, उतने समय भी सुख नही मिलता। वे निरन्तर दुःखों से पीड़ित होते हैं।

अतिसीतं अतिउण्हं,
अतितण्हा अतिक्खुहा अतिभयं वा ।
निरए नेरइयाणं,
दुक्खसयाइं अविस्सामं ॥ ४ ॥

[जीवा० प्रति० ३, उ० ३, सू० ९५]

नारकीय जीवों को नरक में अत्यन्त ठंड, अत्यन्त गरमी, अत्यन्त प्यास और अत्यन्त भूख ऐसे कई प्रकार के दुःख एक के बाद एक भोगना पड़ता है।

जहा इहं अगणी उण्हो, इत्तोऽणंतगुणो तहिं ॥५॥

[उत्त० अ० १९, गा० ४८]

जैसे इस लोक मे अग्नि का उष्ण स्पर्श अनुभव किया जाता है, इससे अनन्तगुणी अधिक उष्णता का अनुभव वहाँ (नरक मे) किया जाता है।

जहा इहं इमं सीयं, इत्ताऽणंतगुणे तहिं ॥६॥

[उत्त० अ० १६, गा० ४६]

जैसे इस लोक मे यह शीत प्रत्यक्ष पड रहा है, इससे अनन्तगुणा अधिक शीत वहाँ पर (नरक मे) पडता है।

छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं,
उट्ठे वि छिंदंति दुवे वि कण्णे।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं,
तिक्खाहिं सूलाहिऽभितावयंति ॥७॥

[सू० श्रु० १, अ० ५, उ० १, गा० २२]

परमाधामी नरक मे उत्पन्न हुए जीवो के नाक, दोनों भी कान तथा होठ छुरा से काट लेते है और जीभ को मुख से एक बित्ता जितनी बाहर खीच उसमे तीक्ष्ण काँटे पिरो के परिताप उपजाते है।

ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व्व,
राइंदिय तत्थ थणंति बाला।
गलंति ते सोणियपूयमंसं,
पज्जोइया खारपइद्धियंगा ॥८॥

[सू० श्रु० १, अ० ५, उ० १, गा० २३]

उनके कटे हुए नाक, कान और होठों से निरन्तर रक्त बहता रहता है और पवन का झोक आने से सूखे ताडपत्तो का समूह जिस तरह खड़खडाहट करता है, ठीक वैसी ही तरह पीड़ा पानेवाले वे नारकीय

जीव रात-दिन करुण स्वर से आक्रन्द करते हैं। फिर परमाधामी उनके छेदे हुए अगों को अग्निज्वाला से जलाते हैं और उस पर जल्द में जल्द क्षार छिड़कते हैं, अतः इन अंगो मे से रक्त और मास अधिक प्रमाण मे झरते रहते हैं।

रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे,
भिन्नुत्तमंगे परिवत्तयंता।
पयंति णं णेरइये फुरंते,
सजीवमच्छे व अयोकवल्ले ॥९॥

[सू० श्रु० १, अ० ५, उ० १, गा० १५]

जब पापी जीव नरक मे उत्पन्न होते हैं, तब परमाधामी उसका सिर काटते हैं, उसके शरीर मे से रक्त निकालते हैं और धधकते लोहे के कड़ाह मे फेंक कर खूब उबालते हैं। इस समय वे पापी जीव जिस तरह तपे हुए तवे पर मछली तडफड़ाती है, उसी तरह असह्य दुखों से पीडा पाते तड़फड़ाते हैं।

नो चेव ते तत्थ मसीभवंति,
ण मिज्जति तिव्वभिवेयणाए।
तमाणुभागं अणुवेदयंता,
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥१०॥

[सू० श्रु० १, अ० ५, उ० १, गा० १६]

नारकीय जीवो को परमाधामी उबालते और भुंजते हैं, तो भी वे

भस्मसात् नही होते हैं। फिर जो भयकर ताडन-तर्जन किया जाता है, इसीसे भी वे मरते नही हैं। किन्तु अपने दुष्ट कर्मों का फल भोगने के लिए वे दुःखित जीव नियत समय तक दुःख भोगते ही रहते है।

ते णं तत्थ णिच्चा भीता णिच्चं तसिता णिच्चं छुहिया णिच्चं उव्विगा णिच्चं अप्पुआ णिच्चं वहिया णिच्चं परममसुभमउलमणुबद्धं निरयभवं पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥११॥

[जीवा० प्रति ३, उ० २, सू० ८६]

वे नरक के जीव सदा भयभीत, त्रस्त, क्षुधित, उद्विग्न और व्याकुल रहते हैं और नित्य वध को प्राप्त होते है। वे हमेशा अशुभ और अतुल परमाणुओ से अनुबद्ध होते है। इस तरह नरक मे उत्पन्न हुए जीव पीड़ा का अनुभव करता हुआ अपने दिन निर्गमन करते है।

नेरइयाणं भंते ! केवइकालं ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ॥१२॥

[जीवा० प्रति ३, उ० ३, सू० २२२]

प्रश्न—हे भगवन् ! नारकीय जीवो की स्थिति कितने काल की है ?

उत्तर—हे गौतम ! नारकीय जीवो की स्थिति जघन्य से दश हजार वर्ष की और उत्कृष्ट से तेतीस सागरोपम की है।

एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे,
न हिंसए किंचण सव्वलोए।
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ,
बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे ॥१३॥

[सू० श्रु० १, अ० ५, उ० २, गा० २४]

नरक के इन दुःखों का विचार कर धीर पुरुष सर्व लोक मे किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। उसको चाहिये कि वह निश्चय सम्यक्त्व धारण करे, परिग्रह को छोड दे और लौकिक मान्यताओ के वश न होकर तात्त्विक बोध ग्रहण करे।

शिक्षापद

इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउं नरा ॥१॥

[सू० श्रु० १, अ० १५, गा० १५]

इस मनुष्य-लोक मे धर्म की आराधना करने के लिये ही मनुष्यों की उत्पत्ति है।

जाइमरणं परिन्नाय, चरे संकमणे दढे ॥२॥

[आ० श्रु० १, अ० २, उ० ३]

जन्म-मरण के स्वरूप को भलीभाति जानकर चारित्र मे दृढ होकर विचरे।

कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं ॥३॥

[आ० श्रु० १, अ० ४, उ० ३]

(तपश्चरण द्वारा) अपने आपको कृश करो, अपने आपको जीर्ण करो।

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं ॥४॥

[उत्त० अ० १३, गा० १०]

मनुष्यो का अच्छा किया हुआ सब कर्म सफल होता है।

संसयं खलु सो कुणई, जो मग्गो कुणई घरं।
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा, तत्थ कुविज्ज सासयं ॥५॥

[उत्त० अ० ९, गा० २६]

जो पुरुष मार्ग मे घर बनाता है, वह निश्चय ही संशय-ग्रस्त कार्य करता है। जहाँ पर जाने की इच्छा हो वही पर शाश्वत घर बनाना चाहिये।

वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहिं रज्जई।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अन्तसो ॥६॥

[सू० श्रु० १, अ० ८, गा० ७]

एक मनुष्य ने किसी के साथ वैर किया, फिर वह अनेक प्रकार के वैर करता है और इन वैरों से खुशी होता है, किन्तु वह जानता नही कि सभी दुष्प्रवृत्तियाँ पापमय होती हैं और अन्त मे वे दुःख का ही अनुभव कराती हैं।

किरिअं रोअए धीरो, अकिरिअं परिवज्जए।
दिट्ठीए दिट्ठीसम्पन्ने, धम्मं चर सुदुच्चरं ॥७॥

[उत्त० अ० १८, गा० ३३]

धीर पुरुष क्रिया मे रुचि करे और अक्रिया का परित्याग कर देवे। वह सम्यग् दृष्टि से दृष्टि-सम्पन्न होकर धर्म का आचरण करे जो कि अतिदुष्कर है।

कोहं माणं निगिण्हित्ता, मायं लोभं च सव्वओ।
इंदियाइं वसे काउं, अप्पाणं उपसंहरे ॥८॥

[उत्त० अ० २२, गा० ४८]

क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतकर तथा पाँचो इन्द्रियो को वश मे कर अपनी आत्मा का उपसहार करना चाहिये, अर्थात् प्रमाद की ओर बढी हुई आत्मा को पीछे हटाकर धर्म मे स्थिर करनी चाहिये।

जसं किर्त्तिं सिलोगं च, जा य वंदणपूयणा।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया ॥९॥

[सू० श्रु० १, अ० ९, गा० २२]

यश, कीर्ति, प्रशसा, वन्दन, पूजन और सर्व लोक मे जो भी काम-भोग है, इनको अपकारी समझकर छोड देना चाहिये।

अट्ठावयं न सिक्खिज्जा, वेहाइयं च णो वए ॥१०॥

[सू० श्रु० १, अ० ९, गा० १७]

जुआ खेलना मत सीखो और धर्म के विरुद्ध मत बोलो।

आवण्णा दीहमद्धाणं, संसारम्मि अणन्तए।
तम्हा सव्वदिसं पस्सं, अप्पमत्तो परिव्वए ॥११॥

[उत्त० अ० ६, गा० १२]

अज्ञानी जीव इस अनन्त ससार मे जन्म-मरण के बडे लम्बे चक्कर मे पडे हुए है। इसलिए उनकी सारी दिशाओ का अवलोकन करता हुआ मुमुक्षु पुरुष सदा प्रमादरहित होकर इस ससार मे विचरे।

जे रक्खसा वा जमलोइया वा,
जे वा सुरा गंधव्वा य काया

आगासगामी य पुढोसिया जे,
पुणो पुणो विपरियासुवेन्ति ॥१२॥

[सू० श्रु० १, अ० १२, गा० १३]

जो राक्षस हैं, जो यमपुरवासी हैं, जो देव हैं, जो गन्धर्व हैं और जो अन्य कायावाले हैं तथा आकाशगामी अथवा पृथ्वीनिवासी हैं, वे सभी मिथ्यात्व आदि कारणो से ही वार-वार भिन्न-भिन्न रूप मे जन्म धारण करते हैं।

इहमेगे उ भासन्ति, सायं सायेण विज्जई।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहियं ॥१३॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० ४, गा० ६]

कोई कहते हैं कि सुख से ही सुख की प्राप्ति होती है, किन्तु वह सत्य नही है। उसमे जो आर्यमार्ग है, वही परम-समाधि देनेवाला है।

मा एयं अवमन्नन्ता, अप्पेण लुम्पहा बहुं।
एयस्स उ अमोक्खाए, अयोहारि व्व जूरह ॥१४॥

[सू० श्रु० १, अ० ३, उ० ४, गा० ७]

इस परम-मार्ग की अवज्ञा करके अल्प सुख के लिये वहु सुख का नाश मत करो। भोग-मार्ग अमोक्ष का है। जो तुम इतना नही समझोगे, तो लोहे के वदले सोना न लेनेवाले वणिक की तरह पश्चात्ताप करोगे।

जहा य अंडप्पभवा वलागा,
अंडं वलागप्पभवं जहा य।

एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥१५॥

[उत्त० अ० ३२, गा० ६]

जैसे बगुला की उत्पत्ति अडा से और अडा की उत्पत्ति बगुला से होती है, इसी प्रकार तृष्णा की उत्पत्ति का स्थान मोह है और मोह की उत्पत्ति का स्थान तृष्णा है।

मायाहिं पियाहिं लुप्पइ,
नो खुलहा सुगई य पेच्चओ ॥१६॥

[सू० श्रु० १, अ० २, उ० १, गा० ३]

जो माता, पिता (पत्नी, पुत्र आदि) मे मोह करता है, उसको परलोक मे सद्गति सुलभ नही है।

पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, णेव कुज्जा कयाइ वि ॥१७॥

[उत्त० अ० १, गा० १७]

वचन से अथवा काया से लोगो के समक्ष अथवा एकान्त मे आचार्यों के प्रतिकूल आचरण कदाचित् भी नही करना चाहिये।

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही, किंवा नाहिइ छेय-पावगं ॥१८॥

[दश० अ० ४, गा० १०]

प्रथम ज्ञान है, पीछे दया। इसी प्रकार सर्व सयत-वर्ग स्थित

है अर्थात् मानता है। अज्ञानी क्या करेगा ? वह पुण्य और पाप का मार्ग को क्या जानेगा ?

ताणि ठाणाणि गच्छन्ति,
सिक्खित्ता संजमं तवं।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा,
जे संति परिनिव्वुडा ॥१९॥

[उत्त० अ० ५, गा० २८]

पूर्वोक्त स्थानों को (देवलोक को) वे ही साधु अथवा गृहस्थ प्राप्त होते हैं, जो कि संयम और तप के अभ्यास से कषायों से रहित हो गए हैं।

दुल्लहा तु मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सोग्गइं ॥२०॥

[दश० अ० ५, उ० १, गा० १००]

इस संसार मे निःस्वार्थ बुद्धि से देनेवाले दाता और निःस्वार्थ बुद्धि से लेनेवाले साधु—दोनों ही दुर्लभ हैं। अतः ये दोनो ही सद्गति प्राप्त करते हैं।

जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं,
काएण वाया अदु माणसेणं।
तहेव धीरो पडिसाहरिज्जा,
आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥२१॥

[दश० चू० २, गा० १४]

अपने आप को जब मन से, वचन से एव काया से स्खलित होता हुआ देखे तब सयमी पुरुष को शीघ्र ही संभल जाना चाहिये। जिस प्रकार जातिवन्त शिक्षित घोडा नियमित मार्ग पर चलने के लिये शीघ्र ही लगाम को ग्रहण करता है, उसी प्रकार साधु भी संयम-मार्ग पर चलने के लिए सम्यक् विधि का अवलम्बन करे।

मीहं जहा खुड्डमिगा चरंता,
दूरे चरंति परिसंकमाणा ।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं,
दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥२२॥

[सू० श्रु० १, अ० १०, गा० २०]

अरण्य मे विचरते हुए क्षुद्र वनपशु जिस तरह (अपने को उपद्रव करनेवाले) शेर की शंका से दूर ही दूर रहते है, उसी तरह बुद्धिमान् पुरुष धम को विचारकर (अपने को उपद्रव करनेवाले) पापो से अति दूर रहे।

सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अण्हवणे तवे चेव, वोदाण अकिरिया सिद्धी ॥२३॥

[भग० श० २, गा० ५]

ज्ञानियों की पर्युपासना करने से धर्म-श्रवण की प्राप्ति होती है। धर्म-श्रवण से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) की प्राप्ति होती है। विज्ञान से प्रत्याख्यान (विरति) की

प्राप्ति होती है। प्रत्याख्यान से संयम की प्राप्ति होती है। सयम से अनास्रव की प्राप्ति होती है। अनास्रव से तप की प्राप्ति होती है। तप से कर्म-क्षय होता है। कर्म-क्षय से अक्रिय अवस्था (शैलेशी अवस्था) प्राप्त होती है और अक्रिय अवस्था से सिद्धि की प्राप्ति होती है।

आलोयण निरवलावे, आवईसु दढ्धम्मया ।
अणिस्सिओवहाणे य, सिक्खा निप्पडिकमया ॥२४॥

अण्णाणया अलोभे य, तितिक्खा अज्जवे सुई ।
सम्मदिट्ठी समाही य, आयारे विणओवए ॥२५॥

धिईमई य संवेगे, पणिहि सुविहि संवरे ।
अत्तदोसोवसंहारे, सव्वकामाविरत्तया ॥२६॥

पच्चक्खाणे विउस्सग्गे, अप्पमादे लवालवे ।
ज्झाण संवरजोगे य, उदए मारणंतिए ॥२७॥

संगाणं य परिण्णाया, पायच्छित्तकरणे वि य ।
आराहणा य मरणंते, बत्तीसं जोगसंगहा ॥२८॥

[सम० सू० ३२]

(१) आलोचना करना अर्थात् जानते हुए अथवा नही जानते हुए कोई भी दोप का सेवन हो गया हो तो अपने सद्गुरु के सामने प्रकट करना, (२) आलोचना का प्रकाश न करना, (३) आपत्ति के समय

धर्म मे दृढता रखना, (४) आशारहित तप करना, (५) सूत्रार्थ-ग्रहण करना, (६) शरीर के शृंगार का परित्याग करना, (७) अज्ञात कुल की गोचरी करना, (८) इच्छित वस्तु की प्राप्ति होने पर वह ज्यादा मिले, ऐसी भावना न रखना, (९) तितिक्षा धारण करना, (१०) आर्जव-भाव रखना, (११) शुचि रखना—व्रतो मे दोष न लगाना, (१२) सम्यग्-दृष्टि बनना, (१३) समाधियुक्त होना, (१४) पचाचार का पालन करना, (१५) विनययुक्त होना, (१६) धृतियुक्त होना, (१७) सवेग धारण करना, (१८) चित्त व्यवस्थित रखना, (१९) सुन्दर अनुष्ठान का पालन करना, (२०) आस्रव का निरोध करना, (२१) आत्मा के दोषो का परिहार करना, (२२) सर्व प्रकार के काम-भोगों से विरक्त होना, (२३) त्याग-धर्म मे आगे बढना, (२४) कायोत्सर्ग करना, (२५) प्रमाद न करना, (२६) नियत समय पर क्रियानुष्ठान करना, (२७) ध्यान धरना, (२८) योगों को सवर मे लगाना, (२९) मारणान्तिक कष्ट को सहन करना, (३०) स्वजनादि के सग का परित्याग करना, (३१) दोष लगने पर प्रायश्चित का ग्रहण करना और (३२) अन्त समय में आराधक होने का सकल्प धारण करना, ये बत्तीस शिक्षापद ज्ञानियो ने कहे हैं।

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥२९॥

[उत्त० अ० ३२, गा० २]

सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान और मोह के सम्पूर्ण त्याग से तथा राग और द्वेष के सम्पूर्ण क्षय से, एकान्त सुखरूप मोक्ष को यह जीव प्राप्त कर लेता है।

वचनों का अकारादि क्रम

प्रथम वचन का आद्य भाग दिया है, बाद में पृष्ठांक। जहाँ प्रारम्भ बिल्कुल समान है, वहाँ द्वितीय पद की भिन्नता दिखलाने के लिए उसका प्रथम शब्द वचन के सामने कोष्ठ में दिया गया है।

आ

ख

फ

ब

भ

ल

व

स